आशाधरभट्ट

CONTRIBUTION OF "ĀŚĀDHARA BHAṬṬA" TO SAṄSKRIT POETICS

डॉ॰ जगदीश प्रसाद मिश्र



आशाधरभट्ट

THE CONTRIBUTION OF 'ĀŚĀDHARA BHAṬṬA'
TO SAṀSRRIT POETICS

आशाधरभट्ट

THE CONTRIBUTION OF 'ĀŚĀDHARA BHAṬṬA' TO SAṀSKRIT POETICS

शुभाशंसा
प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

डॉ० जगदीशप्रसाद मिश्र
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर,
दिल्ली-११०००७



मूल्य : रु० १५०.००

प्रथम संस्करण : १९८७

मुद्रक— अमर प्रिंटिंग प्रेस, (शाम प्रिंटिंग एजेन्सी),
८/२५ डबल स्टोरी, विजय नगर, दिल्ली-११०००९

त्रिनयनलसत्पञ्चास्यश्रीः षडाननन्दनः ।
सततमहिमा सप्तष्यांघ्रः कृतस्तुतितोषितः ।।
जयति जगतां व्याकुर्वाणोऽजयाकृतिनामनी ।
पुनरपिदधत् कण्ठेकालः स कालकलोज्झितः ।।
शक्ति भजन्ति सरला, लक्षणां चतुरा नराः ।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः ।।

(आशाधरभट्ट)

प्ररोचना

१८वीं शताब्दी संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखती है; क्योंकि इसने पण्डितराज जगन्नाथ, अप्पयदीक्षित, राजचूड़ामणिदीक्षित, प्रभृति अनेक ऐसे उद्भट आचार्यों को जन्म दिया, जिन्होंने अपनी प्रतिभा से संस्कृत साहित्यशास्त्र विषयक महनीय ग्रन्थों की रचना कर उसकी श्रीवृद्धि की। उन्हीं में आशाधरभट्ट भी एक हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी से साहित्यशास्त्र-विषयक तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से प्रथम 'कोविदानन्द' तथा द्वितीय 'त्रिवेणिका' विशुद्ध रूप से शब्दवृत्तियों को लेकर लिखे गये हैं तथा तृतीय 'कुवलयानन्दकारिका स्वोपज्ञ टीका 'अलङ्कारदीपिका' के साथ अलङ्कारों पर रचित है। इन तीनों ग्रन्थों के प्रकाशन हो चुके हैं। उन्हीं में से 'त्रिवेणिका' को लेकर मैंने एम० फिल० का लघु शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया था। आशाधरभट्ट की काव्यशास्त्रपरक तीनों कृतियों का आधुनिक शोध-पद्धति से अध्ययन कर उनके योगदान का मूल्याङ्कन करने के लिए सङ्कल्प का उदय उसी समय हुआ था। सौभाग्य से यह विषय मुझे पी-एच० डी० के शोध-प्रबन्ध के लिए मिल गया जिस पर मुझे पी-एच० डी० उपाधि भी १९८४ में प्रदान की गई है।

आशाधरभट्ट ऐसे समय में हुए जब साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा का एक इतिहास बन चुका था, जिसके प्रवाह में आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, महिमभट्ट, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, मम्मट विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति अनेक धुरन्धर आचार्य अपना अपना महत्त्वपूर्ण योग दे चुके थे। ऐसा प्रतीत होता था कि इन विषयों पर कहने के लिए कुछ शेष नहीं, पर आशाधरभट्ट की कृतियों का अध्ययन एवं विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि इन्होंने अपनी कृतियों में प्रतिपादित विषयों का एकमात्र संग्रह नहीं किया, अपितु अनेक मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं, जिनका विवेचन एवं समीक्षात्मक मूल्याङ्कन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। आशाधरभट्ट का व्यक्तित्व, जीवन एवं स्थितिकाल भी अन्धतिमिराच्छन्न था, जिसका सम्यक् विचार यथावसर किया गया है। यह ग्रन्थ कुल सात अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय में आशाधरभट्ट के वैयक्तिक जीवन, समय एवं कृतियों का प्रमाणिक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसी अध्याय में उनके शिव भक्त होने एवं व्याकरण, न्याय, मीमांसा एवं साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ होने का भी सम्यक् निरूपण किया गया है। साथ ही यही उनके वैदुष्य का ऊहापोह करते हुए यह भी बताया गया है कि वे पदवाक्यप्रमाणज्ञ, एक बहुश्रुत विद्वान् तथा सफल आचार्य ही नहीं थे, अपितु शिव के अनन्य भक्त भी थे। आशाधरभट्ट का देश और काल कम विवादास्पद नहीं है। उनका निर्धारण करते हुए इसी अध्याय में आशाधरभट्ट की कृतियों का भी चित्रण किया गया है।

द्वितीय अध्याय का नाम 'आशाधरभट्ट की कृतियाँ' है, इसमें आचार्य आशाधरभट्ट की साहित्यशास्त्रीय सभी कृतियों की विस्तार के साथ विवेचना की गयी है। इसमें शब्दशक्ति विषयक ग्रन्थ कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका तथा अलङ्कारविषयक 'कुवलयानन्दकारिका' सभी के प्रकाशन, स्वरूप, विवेच्य-विषय एवं टीका आदि का अनुसंधानात्मक प्रतिपादन हुआ है।

तृतीय अध्याय का नाम 'शब्द-शक्ति' है। इसका प्रारम्भ शब्द-शक्ति के ऐतिहासिक विकास के विवेचन से हुआ है। तदनन्तर शब्दवृत्ति के विविध प्रकार विवेचित किये गये हैं। इस परम्परा में अभिधा के आधायक तत्त्वों के रूप में शब्द, अर्थ संकेतग्रह हेतु अर्थात् शक्ति-ग्राहकों एवं शक्ति-नियामकों का उनके भेद-प्रभेदों सहित सोदाहरण निरूपण किया गया है। यहाँ आशाधरभट्ट के उदाहरण प्रायः मौलिक हैं तथा ग्रन्थकार ने शक्तिनियामकों के विवेचन में कुछ मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं। आधायकतत्त्वों के निरूपण के पश्चात् संकेतग्रह-सिद्धान्त का वैयाकरणों, नैयायिकों एवं मीमांसकों के मतों का पूर्व पक्ष के रूप में निरूपण करते हुए ग्रन्थकार आशाधरभट्ट द्वारा प्रतिपादित साहित्यशास्त्र परक उत्तर पक्ष प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर शक्ति अर्थात् अभिधा के भेद-प्रभेद तथा उसकी सीमा का विवेचन हुआ है।

चतुर्थ अध्याय शब्द की दूसरी वृत्ति 'लक्षणा' को लेकर लिखा गया है। इस अध्याय में लक्षणा की परिभाषा, उसके आधायक-तत्त्व, बीज एवं दोषोद्धार तथा भेद-प्रभेद सोदाहरण विवेचित किये गये हैं। तदनन्तर अभिधा एवं लक्षणा प्रयुज्यमान रूढ़ि के स्वरूपों के अन्तर का विवेचन हुआ है। अध्याय का समापन लक्षणा की सीमा के निर्धारण से हुआ है।

पञ्चम अध्याय व्यञ्जना नामक शब्द की तीसरी वृत्ति पर आधारित है। अध्याय का प्रारम्भ व्यञ्जना के उद्भव एवं विकास के विवेचन से हुआ है। अनन्तर उसके लक्षण, आधायक तत्त्वों एवं भेद-प्रभेदों का सोदाहरण निरूपण हुआ है। इस अध्याय के उत्तरार्ध में व्यञ्जना के क्रमशः अभिधा, तात्पर्य,

लक्षणा एवं अनुमान में अन्तर्भाव के प्रश्न का युक्तिपूर्वक निरसन किया गया है।

षष्ठ अध्याय आचार्य आशाधरभट्ट की अलङ्कार विषयक कृति 'कुवलयानन्दकारिका पर आधारित है जिसे 'अलङ्कार-विवेचन' अभिधान दिया गया है। इसमें कुल २०१ कारिकाओं में प्रतिपादित १२९ अलङ्कारों का समालोचनात्मक अध्ययन तीन प्रकरणों में किया गया है।

ग्रन्थ के समापन का रूप **सप्तम अध्याय** है, जिसे 'निर्गलित' अभिधान दिया गया है। इस उपसंहारात्मक अध्याय में आशाधरभट्ट की कृतियों से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट बिन्दुओं पर ग्रन्थकार की मौलिकता का निरूपण किया गया है। इसके तीन चरण हैं। वे हैं—

(क) आशाधरभट्ट : एक कवि के रूप में,
(ख) आशाधरभट्ट : एक समालोचक के रूप में,
(ग) आशाधरभट्ट की मौलिकता

१. शब्दशक्ति विषयक
२. अलङ्कार विषयक

प्रकृत ग्रन्थ में आशाधरभट्ट की संस्कृत काव्यशास्त्रीय विचार परम्पराओं की गुत्थियों को खोलकर समक्ष रखना ही मेरा सङ्कल्प है। इसकी पूर्ति के लिए यह एक साहित्यिक अनुष्ठान किया गया है, जिसमें उक्त उद्देश्य का आद्योपान्त निर्वाह करना ही अभीष्ट है।

प्रकृत ग्रन्थ के युक्तायुक्त होने के सन्दर्भ में आचार्य आशाधरभट्ट की उक्ति को ही उद्धृत कर देना समीचीन होगा—

(क) यदिहलिखतामव्युत्पत्या पतेल्लघु दूषणं,
निपुणधिषणैरुज्झित्वा तत्कृतिर्मम सेव्यताम्।
सरसि विमले वातक्षिप्तं निवार्य तु शैवलं,
सलिलममृतप्रायः पिवन्ति पिपासवः॥

(ख) यदि मम् सरस्वत्यां कश्चित्कथञ्चन दूषणं
प्रलपति, ततः प्रौढप्रज्ञैः स किं कविभिः समः।
रघुपति कुटुम्बिन्यां सत्यामवद्यमुदाहरन्
हतकरजकः साम्यं लेभे स किं सह राजभिः॥

डा० जगदीश प्रसाद मिश्र
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

कृतज्ञताज्ञापन

'पदवाक्यप्रमाणपारावारीण आचार्य आशाधरभट्ट' पर शोधकार्य करने की प्रेरणा के मूलस्रोत व मार्गदर्शक साहित्यसमीक्षा के पौरस्त्य एवं पाश्चात्य उभय-विध सिद्धान्तों के मर्मज्ञ, साहित्यशास्त्र व दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में मौलिक चिन्तव ख्यातिनामा पूज्यपाद गुरुवर प्रोफेसर ब्रजमोहन चतुर्वेदी जी ही हैं, जिनके दर्श: एवं साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थरत्न निखिल भारतीय वाङ्मय के दिग्दिगन्त को

साहित्यशास्त्र के आधिकारिक व प्रख्यात् विद्वान् पूज्यपाद गुरुजी के वैदुष्य का वरद हस्त मेरे ऊपर सर्वथा रहा है जो प्रकृत ग्रन्थ में शुभाशंसा के रूप में प्रस्फुटित् हुआ है। उनकी इस अहेतुक शिष्यवत्सलता के प्रति मैं नतमस्तक हूँ। अतएव मेरा निवेदन यही है कि—

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्,
तद्गुरोरेव मेऽनहि ।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्,
तन्ममैव गुरोर्नहि ॥

इसी प्रसङ्ग में मैं किरोड़ीमल महाविद्यालय के संस्कृत विभाग के सहयोगी विभागाध्यक्ष पं० श्री शिवनारायण शास्त्री जी को तथा विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के उन सभी प्राध्यापकों को धन्यवाद देता हूँ जिनकी सद्भावनाएँ इस साहित्यिक अनुष्ठान में सहायक रही हैं।

यहीं, मैं प्रातस्मरणीय पारिवारिकजनों, तथा अभिन्नात्मा श्री० बी० गिरि (मोहनमीकिङ्ग ब्रेवरीज, दिल्ली) डॉ० नरेन्द्रनाथ यादव डॉ. जौहरीलाल श्री रघुवीर कृष्ण (Author of "The Secret of Science." प्रभृति उन सभी मित्रों का पूण्यस्मरण करना नहीं भूलूंगा जिनकी सत्प्रेरणा से प्रकृतग्रन्थ का बहुत उपकार हुआ है।

श्री जंगबहादुर खन्ना, अध्यक्ष सन्दर्भ विभाग, दिल्ली विश्वविद्याल: पुस्तकालय सहित मैं उन सभी पुस्तकालय कर्मियों को धन्यवाद देता हूँ जिनके सहयोग प्रकृत ग्रन्थ के प्रकाशन में मिला है।

अन्ततः सौजन्यमूर्ति प्रकृत ग्रन्थ के प्रकाशक श्री शाम लाल मल्होत्रा जी को धन्यवाद देना भी मैं अपना विशेष कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने विघ्न पर विघ्न होने पर भी प्रकृत ग्रन्थ का सुन्दर प्रकाशन किया है। इसके अतिरिक्त मैं उन सबके प्रति कृतज्ञताज्ञापित करता हूँ जिनकी अनन्त शुभकामनाएँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रकृत ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ संलग्न हैं—

अन्ये चात्र महाभागाः नामतो ये न संस्मृताः ।
तेऽपि सर्वे धन्यवादान् प्रसीदन्तो मे भजन्तु ॥

जगदीशप्रसद मिश्र

शुभाशंसा

अपने प्रिय शिष्य डॉ० जगदीशप्रसाद मिश्र के शोधग्रन्थ 'आशाधरभट्ट' से संस्कृत वाङ्मय के मनीषियों तथा विशेष रूप से साहित्य एवं साहित्य शास्त्र के अध्येताओं से परिचित करने के लिए इन शब्दों को लिखने में मुझे परम हर्ष का अनुभव हो रहा है।

आशाधरभट्ट विक्रम की १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए, एक ऐसे प्रतिभाशाली एवं बहुश्रुत ग्रन्थकार थे, जिनकी लेखनी से प्रसूत ग्रन्थ रत्न अपने विषय में अनुपमेय हैं।

आशाधरभट्ट के नाम से संस्कृत में अनेक ग्रन्थकार हुए हैं जिनकी कृतियाँ विश्रुत हैं; पर आशाधरभट्ट का व्यक्तित्व एवं कृतित्व सर्वथा अलग है। इनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं; जिनमें से दो **कोविदानन्द** और **त्रिवेणिका** शब्द-शक्तियों का विवेचन करते हैं और तीसरी **कुवलयानन्दकारिका** अलङ्कार परक हैं। इन कृतियों में अद्वैत-विवेक एवम् प्रभापटल नामक दो अन्य कृतियों के भी उल्लेख मिलते हैं; पर दुर्भाग्यवश वे उपलब्ध नहीं हो सके हैं। सम्भवतः वे दोनों ही कृतियाँ क्रमशः दर्शन और तन्त्र-परक थीं। ये उपलब्ध कृतियाँ भी बहुत दिनों तक अनुपलब्ध थीं, जिनका उद्धार काशी के उद्भट विद्वान् आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल ने बीसवी शताब्दी के द्वितीय पाद में किया। डॉ० मिश्र ने बड़े परिश्रम से इन्हें उपलब्ध कर इनका आधुनिक शोधपद्धति से अध्ययन प्रस्तुत किया है। ग्रन्थकार की विषयप्रतिपादन की शैली अपेक्षाकृत जटिल है; क्योंकि वे तथ्यों का प्रतिपादन सर्वथा नूतन ढंग से करना चाहते थे। यहाँ तक कि पुराने आचार्यों के उदाहरणों को भी उन्होंने उपादेय नहीं समझा। आशाधरभट्ट के आद्य दोनों ग्रन्थ शब्द-शक्ति बिषयक हैं। इनके समय तक इस विषय पर न केवल साहित्य अपितु व्याकरण, न्याय, मीमांसा एवं बौद्ध नामक दर्शन की विधाओं में शब्द शक्ति-विषयक विवेचन पर्याप्त मात्रा में हो चुके थे। फलतः इनके लिए कोई नई बात कहने का अवसर अत्यल्प ही शेष था। आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा उद्भावित ध्वनि सिद्धान्त के प्राणभूत तत्त्व व्यञ्जना को आत्मासात् करना कठिन हो गया था। **अभिनवगुप्त** एवं **मम्मट** के तर्क धूमिल पड़ गये थे। और काव्यप्रकाश के ही टीकाकार ध्वनि के रस में और व्यञ्जना के अनुमान में अन्तर्भाव की बात करने लग गये थे। जिसका प्रमाण **काव्यप्रकाश** के अन्यतम टीकाकार **भट्टगोपाल** की यह उक्ति है—

रसामृतनदीमग्नेध्वनिकारे महागुरौ ।
अनुमाया हि महिमा काव्य गोष्ठीं न मुञ्चति ।।

आशाधरभट्ट ने अपने समय तक के प्रस्तुत किये गये व्यञ्जना विरोधी युक्तियों और तर्कों का निरसन बड़ी ही निपुणता के साथ किया है, जो एतद् विषयक विद्वानों को प्रभावित भी करता है ।

डॉ० मिश्र ने अपनी इस कृति में शब्द शक्ति-विषयक इन पहलुओं का सम्यक् रूप से ऊहापोह करते हुए आशाधरभट्ट की स्थापनाओं का यथावत् मूल्याङ्कन भी किया है। साथ ही आशाधरभट्ट के अलङ्कार-विषयक विवेचन का अत्यन्तर विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ अपने अध्येताओं को पूर्ण संतोष प्रदान करेगा तथा इससे इस विषय पर अन्य शोधकार्य की प्रेरणा भी मिलेगी। ऐसे उत्तम ग्रन्थ के प्रणयन के लिए मैं डा० जगदीश प्रसाद मिश्र को साधुवाद देता हूं तथा कामना करता हूँ कि वे इसी प्रकार गहन शोधकार्य में रहकर उत्तमोत्तम ग्रन्थों की रचना करें ।

श्रीपञ्चमी २०४३

ब्रजमोहन चतुर्वेदी
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
संस्कृत विभाग, दिल्ली-विश्वविद्यालय,
दिल्ली

विषयानुक्रमणिका

शब्द-संकेत

१.	उ०	...	उत्तरार्द्ध
२.	का०	...	कारिका
३.	कु० का	...	कुवलयानन्द कारिका
४.	पं०	...	पण्डित
५.	पू०	...	पूर्वार्द्ध
६.	सं०	...	संस्करण

प्रथम अध्याय

आशाधरभट्ट—व्यक्तितत्व एवं कृतित्व

आशाधरभट्ट का जीवन परिचय

संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों की यह शिकायत निराधार नहीं है कि संस्कृत के ग्रन्थकार अपने देश, काल के विषय में अपेक्षित सामग्री नहीं देते। यही नहीं, उनकी अपने विषय में कुछ न कहने की प्रवृत्ति ने एक परम्परा का रूप धारण कर लिया है। फलतः प्राचीन भारतीय वाङ्मय के इतना समृद्ध होते हुए भी ग्रन्थकारों के व्यक्तिगत जीवन तथा देश, काल के विषय में हमारी जानकारी अति स्वल्प होती है। कोविदानन्द, त्रिवेणिका एवं कुवलयानन्दकारिका नामक तीन अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों के रचयिता श्री आशाधरभट्ट ने अपनी कृतियों में अपने पिता एवं गुरु का नामोल्लेख किया है, जिससे हमें उनके व्यक्तिगत जीवन के विषय में अल्पाधिक जानकारी प्राप्त हो जाती है; किन्तु संस्कृतकाव्यशास्त्रीय परम्परा में 'आशाधरद्वयी' की प्रसिद्धि भी है। इस पर विचार करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में आशाधरद्वयी :

संस्कृत वाङ्मय में यद्यपि आशाधर नामक अनेक ग्रन्थकारों के होने के उल्लेख मिलते हैं,[1] किन्तु अलङ्कारशास्त्र के विषय में रुद्रटकृत काव्यालङ्कार के टीकाकार आशाधर और त्रिवेणिकादि के कर्त्ता **आशाधरभट्ट** के एक या भिन्न-भिन्न होने का प्रश्न विचारणीय है। इस बात को लेकर अनेक विद्वानों ने अपने-अपने शोधपत्रों एवं ग्रन्थों में चर्चा की है।

दोनों आशाधरों के होने की भ्रान्ति का जन्म थियोडार आफ्रेक्ट के 'कैटलागस कैटलागोरम्' नामक ग्रन्थ की तद्विषयक सूचना से होता है, जिसमें अलङ्कारशास्त्रीय दोनों आशाधरों की रचनाओं का एक साथ उल्लेख है।[2] आफ्रेक्ट महोदय

---

1. Prof. Raghvan (V) : New catalogue Catalogurum. V. II, University of Madras, p. 193, 1966.
2. Theodor, Aufrecht : Catalogus Catalogurum. pt. I, p. 54-55. 1966.

ने दोनों आशाधरों को एकत्र उल्लिखित करके दोनों के अभिन्न होने की सम्भावना मात्र व्यक्त की थी। इसी आधार पर डा० हरिचन्द्रशास्त्री ने फ्रॉन्सीसी भाषा में लिखित अपने कालिदास-विषयक ग्रन्थ में दोनों आशाधरों को एक व्यक्ति ही स्वीकार कर लिया है।[3] इसके विपरीत आज से १०० वर्ष पूर्व पीटरसन महोदय की ई० १८८३ में रुद्रटकृत काव्यालङ्कार के टीकाकार जैन आशाधर तथा आज से ११२ वर्ष पूर्व अर्थात् ई० १८७१ में बूलर महोदय की, अप्पयदीक्षित की प्रख्यात कृति कुवलयानन्द पर आधृत अलङ्कारदीपिकासहित 'कुवलयानन्दकारिका' नामक ग्रन्थ के प्रणेता आशाधरभट्ट सम्बन्धी स्वतन्त्र स्थापनाओं से आशाधर नाम के दोनों के पार्थक्य की पुष्टि हो गई थी।[4]

संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास आचार्यों के प्रख्यात लेखक प्रो० सुशील कुमार डे ने भी काव्यशास्त्र से सम्बन्धित दोनों आशाधरों को भिन्न-भिन्न ही माना है।[5] इसकी पुष्टि जैन आशाधर की कृतियों में उपलभ्यमान निम्नलिखित दो पद्यों से भी होती है :—

१. विक्रमवंशे सपञ्चाशीतिद्वादशशतेष्वतीतेषु।
अश्विनसितान्त्यदिवसे साहसमल्लापराख्यस्य॥
श्रीदेवपालनृपतेः प्रमारकुलशेखरस्य सौराज्ये।
नलकक्षपुरे सिद्धो ग्रन्थोऽयम् नेमिनाथचैत्यगृहे॥"

२. "प्रमारवंशवाधीन्दुदेवपालनृपात्मजे।
श्रीमज्जैतुगिदेवेऽसि स्थाम्नावन्तीमवत्यलम्॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत्।
ग्रन्थोऽयं द्विनवति द्व्यैकविक्रमार्कसमाप्तये॥"

---

3. Harichandra Shastri, Kālidasa at l'art Pootique de Vlude. p. 16.
4. Batuk Nath Sharma : Introduction of Trivenika p. ¯, 1925 Varanasi.
5. Peterson brought to our notice another Jaina Commentator in Rudra, called Āśādhara, son of Sallaksana and Ratni. He was a Jaina teacher who lived till samvat 1296=1240 A. D. He should be distinguished from Āśādhara, son of Ramaji Bhaṭṭa, a very last writer who composed a commentary an Appayya's Kuvalayānand.
—S. K. Dey : History of Sanskrit Poetics. Vol. I, p. 93-228

इस सरणि पर प्रो० वटुक नाथ शर्मा[६] (१६२५ ई०), आचार्य बलदेव उपाध्याय[७] (१६२५ ई०), श्री एन० वी० एन्थेले[८] (१६४०-४१), आचार्य कालिका प्रसाद शुक्ल[९] (१६५७) तथा डॉ० वे० राघवन्[१०] (१६६६) ने उक्त दोनों आशाधरों के व्यक्तिगत एवं कालगत पार्थक्य से ही प्रतिपादित सहमति व्यक्त की है। उपर्युक्त ऊहापोह से यही सिद्ध होता है कि काव्यशास्त्र-परम्परा में आशाधर नाम के दो विद्वान् हुए, जिनके स्थितिकाल में लगभग ५०० वर्षों का अन्तराल था। इनमें प्राचीनतर आशाधर जैन हैं, जिनका समय ईसा की १२वीं शताब्दी था। इन्होंने रुद्रट कृत काव्यालङ्कार पर संस्कृत टीका की रचना की, जो सम्प्रति अनुपलब्ध है। इनकी अपेक्षा अर्वाचीन आशाधर की उपाधि 'भट्ट' है। इनका पूर्ण नाम आशाधर-भट्ट है। आशाधरभट्ट ने काव्यशास्त्रीय कुल तीन ग्रन्थों की रचना की है, इनमें 'कोविदानन्द' एवं 'त्रिवेणिका' नामक शब्दशक्तिविषयक ग्रन्थ हैं तथा तृतीय ग्रन्थ अलङ्कारविषयक है, जो ग्रन्थकार के पूर्ववर्ती लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् एवं अलङ्कारिक आचार्य अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानन्द' पर आधृत है। इस ग्रन्थ का नाम 'कुवलया-नन्दकारिका' है। अब तक प्राप्त तथ्यों के आधार पर इन आशाधरभट्ट का स्थिति-काल सत्रहवीं (१७वीं) शताब्दी ठहरता है।

(क) **पिता**—

आशाधरभट्ट के अपने उल्लेख के अनुसार वह श्रीरामजीभट्ट के पुत्र थे, जिन्होंने भगवान शिव की आराधना से सिद्धि प्राप्त की थी तथा जो समुद्र के समान गम्भीर व्यक्ति थे—

> **"शिवस्य भक्त्या समवाप्तसिद्धि-**
> **र्धीनीरधी रामजीभट्ट आसीत्।**
> **तत्सूनुनाशाधरभट्टनाम्ना**
> **ग्रन्थः कृतोऽयं सुधियां मुदेऽस्तु ॥"**[११]

---

6. Batuknath Sharma : Introduction of Triveṇikā, Pt. 7, 1925 Varanasi.
७. आचार्य बलदेव उपाध्याय : नागरी प्रचारणी पत्रिका; षष्ठ भाग, पृ० ४०३, १६२५, वाराणसी।
८. New Indian Antiquary, Vol. III., p. 36, 194-41
९. सम्पादक, आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल : त्रिबेणिका, प्रस्तावना, पृ० ३०-३२.
१०. Prof. Raghavan, V : New Catalogus Catalogurm. V. II. University of Madras, p. 193, 1966.
११. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, व्यञ्जनाप्रकरण पद्य सं० ४२, १६५७ वाराणसी

रामजीभट्ट व्याकरण, न्याय एवं मीमांसा प्रभृति शास्त्रों के आधिकारिक विद्वान् थे, जिसकी पुष्टि ग्रन्थकार आशाधर की कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका तथा कुवलयानन्दकारिका नामक तीनों कृतियों के प्रायः प्रत्येक अनुच्छेद की पुष्पिका से होती है, जिसमें रामजीभट्ट के लिए **पदवाक्यप्रमाणपारावारीणरामजीभट्ट**[१२] का प्रयोग मिलता है। यहीं रामजीभट्ट के व्यक्तिगत परिचयादि की इति हो जाती है। क्योंकि रामजीभट्ट का कोई ग्रन्थ नामतः या उद्धरणतः नहीं मिलता। मात्र आशाधरभट्ट ने अपनी उक्त तीनों ही कृतियों की पुष्पिकाओं में अपने पिता रामजीभट्ट का पुण्य स्मरण, रामजीभट्टात्मजाशाधर[१३] कहते हुए किया है।

ग्रन्थों की पुष्पिकाओं के अतिरिक्त आशाधरभट्ट ने अपने पिता रामजीभट्ट का नामोल्लेख, 'कुवलयानन्दकारिका' नामक अलङ्कारविषयक ग्रन्थ की 'अलङ्कारदीपिका' नामक टीका के प्रतिज्ञात्मक पद्य में भी किया है—

> **"आशाधरेण कविना रामजीभट्टसूनुना।**
> **क्रियते कारिकाटीका बालानानुपकारिणी॥"**[१४]

इस प्रकार अपने पिता के नाम का निर्देश भट्ट जी ने अपने तीनों ग्रन्थों में कुल मिलाकर सोलहबार किया है। वे हैं—

१. **कोविदानन्द** में ७ बार[१५]

२. **त्रिवेणिका** में ३ बार[१६]

३. **कुवलयानन्दकारिका** में ६ बार[१७]

आशाधरभट्ट ने अपना स्वयं का नाम अपने पिता रामजीभट्ट के साथ-साथ अनिवार्यतः उल्लिखित किया है, जिसमें सामान्य रूप से 'आशाधरभट्ट' का उल्लेख है। ग्रन्थकार ने कुवलयानन्दकारिका की 'अलङ्कारदीपिका' नामक टीका के प्रारम्भ में स्वयं के लिए कवि उपाधि का भी प्रयोग किया है तथा शब्दशक्तिविषयक काल-क्रम से द्वितीय ग्रन्थ 'त्रिवेणिका' के लक्षणा प्रकरण की

---

१२. क. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, पृ० १४, २३, ३१
    ख. वही : त्रिवेणिका, पृ० ३६, ३७, ३८; १९५७ वाराणसी
    ग. वही : कुवलयानन्दकारिका, पृ० ८७, ९३, ९६; १९२७, बम्बई।

१३. वही : कोविदानन्द पृ० १४, २३, ३१
    कुलयानन्द कारिका, पृ० ८७, ९४, ९६

१४. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, लक्ष्यलक्षणप्रकरण, पृ० २

१५. वही : कोविदानन्द, पृ० १४, २३, ३१।

१६. वही : त्रिवेणिका, पृ० ३३, ३७, ३८ (सं० कालिकाप्रसाद शुक्ल)

१७. वही : कुवलयानन्दकारिका, पृ० ९३, ९४, ८६

पुष्पिका में अपने को 'महामहोपाध्याय' की उपाधि से भी विभूषित कर उल्लिखित किया है—

"इति श्री पदवाक्यप्रमाणपारावारीणमहामहोपाध्यायाशाधरभट्टविरचितायां कोविदानन्दसहजायां त्रिवेणिकायां द्वितीयं लक्षणप्रकरणम् समाप्तम्।"[१८]

(ख) गुरु :—

आशाधरभट्ट के स्वयं के उल्लेख के अनुसार वह श्री**धरणीधर** के शिष्य थे। ग्रन्थकार ने अपने गुरु धरणीधर के पुण्यस्मरणस्वरूप अपनी अलङ्कारविषयक कृति **कुवलयानन्दकारिका** की टीका **अलङ्कारदीपिका** में तीन पद्य दिये हैं, जिनके अनुसार यह भी प्रमाणित होता है कि आशाधरभट्ट के गुरु 'धरणीधर' काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे, जिनसे ही भट्ट जी ने काव्यशास्त्रीय ज्ञानार्जन किया। सर्वप्रथम भट्ट जी ने श्रद्धेय गुरु जी का पुण्य स्मरण **अलङ्कारदीपिका** के नमस्कारात्मक एवं वस्तु निर्देशात्मक एक मंगल पद्य से किया है—

"शिवयोस्तनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम्।
कुर्वे कुवलयानन्दकारिकादीपिकां मुदे॥"[१९]

द्वितीय पुण्यस्मरण ग्रन्थ के प्रथम लक्ष्यलक्षणप्रकरण के उपसंहारात्मक पद्य में किया है, जिसमें गुरु के प्रति असीम श्रद्धाभाव मुखरित हुआ है—

धरणीधरगुरुचरणशरणीकरणात्कुवलयानन्दे।
स्तुतिर्मम सानुबन्धा इति सूचयितुं प्रयत्नोऽयम्॥[२०]

आशाधरभट्ट ने अपने गुरु धरणीधर के श्रीचरण रूपी कमलों का तृतीय पुण्य स्मरण ग्रन्थ के **उद्दिष्टालङ्कार** नामक द्वितीय प्रकरण की परिसमाप्ति पर एक पद्य में किया है :—

धरणीधरपाराब्जप्रसादासादितस्मृतेः।
आशाधरस्य वागेषा तनोतु विदुषां मुदम्॥[२१]

सफल आचार्य

काव्यमीमांसाकार आचार्य राजशेखर ने **प्रतिभा** के दो रूपों का निरूपण किया है—

---

१८. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, पृ० ३२; १९५७, वाराणसी।
१९. वही : ,, ,, , ,,
२०. वही : उद्दिष्टालङ्कारप्रकरण, पद्य २।
२१. वही : कुवलयानन्दकारिका, लक्ष्यलक्षणप्रकरण, श्लोक।

द्विधा च सा कारयित्री भावयित्री च ।[२२]

इन दोनों स्वरूपों में कारयित्री प्रतिभा कविगत एवं भावयित्री प्रतिभा आलोचकगत रूप में विश्रुत है। **अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी** तथा **तत्त्वाभिनिवेशी** आलोचकों के चार विभागों का परिगणन स्वयं राजशेखर ने किया है। ये सभी प्रकार के आलोचक अपनी-अपनी सहज कृति के अनुरूप ही संज्ञित किये गये हैं।[२२]

अरोचकी आलोचक वे हैं—जिन्हें कोई भी रचना रुचती ही नहीं, तो **सतृणाभ्यवहारी** आलोचक भोज्य पदार्थों के साथ पत्तल के तिनकों तक को निगल लेने वाले होते हैं—अर्थात् किसी भी प्रकार की रचना की भूरि-भूरि प्रशन्सा करना ही वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं, जबकि मत्सरी आलोचक स्वभावतः पूर्वाग्रही कहे गये हैं। अर्थात् इस कोटि के आलोचक अभीष्ट रुचि के प्रतिकूल उत्तम रचना के प्रति भी मात्सर्ययुक्त हो जाते हैं। इन तीनों कोटियों से उत्कृष्ट कोटि में तत्त्वभिनिवेशी आलोचकों की परिगणना की जाती है। ऐसे आलोचकों में 'दुराग्रह' एवं 'पूर्वाग्रह' जैसी दुष्प्रवृत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। आचार्य राजशेखर ने लिखा है :—

तत्त्वाभिनिवेशी तु मध्ये सहस्रं यथैकस्तदूक्तम्-
शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनां मोदते सुक्तिभिः।
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः॥
पुण्यैः सङ्घटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां।
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः॥[२३]

आशाधरभट्ट निश्चित रूप से तत्त्वाभिनिवेशी समालोचकों की कोटि में आते हैं, जिसकी पुष्टि उनके **कोविदानन्द, त्रिवेणिका** एवं **कुवलयानन्दकारिका** नामक तीनों ग्रन्थों के अनुशीलन से होती है।

शब्दशक्तिविषयक अपनी प्रथम कृति **कोविदानन्द** में ही ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने अपनी तत्त्वाभिनिवेशिनी भावयित्री प्रतिभा का परिचय देते हुए कहा है :—

प्राचां वाचां विचारेण शब्दव्यापारनिर्णयम्।
करोमि कोविदानन्दं लक्ष्यलक्षणलक्षितम्॥[२४]

---

२२. राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ० १२, गायकवाड ओरियण्टल सी०, बड़ौदा।
२३. वही काव्यमीमांसा, चतुर्थाध्याय, शिष्यप्रतिभा, पृ० ४५, चो० वि० ग०, वाराणसी।
२४. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २।

इसी तरह 'तात्पर्यवृत्ति' के उपस्थापन के सन्दर्भ में आचार्य मम्मट प्रभृति आलङ्कारिकों के मत के प्रति श्रद्धा एवं मीमांसकों के मत के निरसन करने के प्रसङ्ग में भी, विद्वान् ग्रन्थकार की तत्त्वाभिनिवेशी भावुकता परिलक्षित होती है, जब उन्होंने लिखा :—

तात्पर्याख्यापि केषाञ्चिद् वृत्तिर्वाक्यगता मता ।
न तामन्ये तु मन्यन्ते पूर्वान्तर्भावयुक्तितः ।।[२५]

इसी तरह शब्दव्यापार की सद्भावना के सन्दर्भ में नैयायिकों के शब्द में विद्यमान **ईश्वरेच्छा** विशेष संकेत विषयक शब्द व्यापार के उपस्थापन में भी यदि एक ओर उनके तत्त्वाभिनिवेशी भावों को, तो दूसरी ओर गाम्भीर्य का परिचय मिलता है । जब वे लिखते हैं :—

संकेतमेव शब्दस्य व्यापारं तार्किका विदुः ।
अज्ञातस्योपयोगित्वं न कथं बाणवेगवत् ।।[२६]

नैयायिकों की ओर से संकेत एवं शब्द व्यापार में एकत्व या किसी एक द्वारा अर्थात् बोध स्वीकारने पर जायमान लाघव के उपस्थापन में युक्तियुक्त तर्क आशाधरभट्ट के पूर्वाग्रह या दुराग्रह को नहीं प्रत्युत उनके तत्त्वाभिनिवेशिनी प्रतिभा के धनी होने का ही परिचायक है, वे कहते हैं—

एकेनानेकसाध्योऽर्थो लाघवाद्यदि साध्यते ।
स्त्रीपुंसयोरन्यतरल्लाघवाच्छिशुकृन्न किम् ।।[२७]

इसी प्रकार इसी को प्रकारान्तर से अन्यत्र भी स्पष्ट किया है—

लाघवादेकमात्रेण बोधोऽर्थस्य मतस्तु यैः ।
तन्मते दोष एव स्याल्लाघवं विफलं यतः ।।[२८]

इसी प्रकार लब्धप्रतिष्ठ आलङ्कारिक अप्पयदीक्षित की महनीय कृति **कुवलयानन्द** की मात्र कारिकाओं पर आधारित लिखी गई **अलङ्कारदीपिका** नामक संस्कृत टीका में अनेक स्थलों पर अप्पयदीक्षित के ग्रन्थ **कुवलयानन्द** के गूढ अभिप्राय की गहराई का परिचय हमें आलोचक आशाधरभट्ट की व्याख्या से ही मिल पाता है ।

आचार्य आनन्दवर्धन एवं अप्पयदीक्षित की भांति आशाधरभट्ट भी कवि एवं भावुक दोनों हैं । आचार्य आनन्दवर्धन एवं अप्पयदीक्षित तो कवि के रूप में

---

२५. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधा निरूपण, का० ४६ ।
२६. वही ,, ,, का० ७ ।
२७. वही ,, ,, का० ८ ।
२८. वही ,, ,, का० ११ ।

प्रसिद्धि भी पा चुके हैं, जिसकी पुष्टि भी की गई है। आनन्दवर्धन की कवि के रूप में प्रसिद्धि कल्हण ने घोषित की है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥[२९]

तो अप्पयदीक्षित की कवि रूप में प्रसिद्धि आशाधरभट्ट ने स्वयं स्थापित की है—

"अथ तत्र भगवानप्पय्यदीक्षितनामा कविः सहृदयहृदयानन्दार्थमर्थालङ्कारणां लक्ष्यलक्षणोपेताः कारिकाः कृत्वा तद्व्याख्यानरूपं कुवलयानन्दाख्यं ग्रन्थं कृतवान्।"[३०]

आशाधरभट्ट ने कुवलयानन्दकारिका के मङ्गलाचरण में अपने को 'कवि' कहा है :—

आशाधरेण कविना रामजीभट्टसूनुना।
कुर्वे कुवलयानन्दकारिकादीपिकां मुदे॥[३१]

कारिकाओं में निबद्ध **कोविदानन्द** ग्रन्थकार के 'कवि' होने की पुष्टि तो करता ही है, साथ ही साथ **कोविदानन्द** की **कादम्बिनी** नामक संस्कृत व्याख्या के प्रारम्भ में भी ग्रन्थकार ने अपने लिए 'कवि' विशेषण लिखा है :—

"अथात्र शब्दव्यापारसंशयनिवृत्तिकामैः शिष्यैः प्रेरित आशाधरभट्टनामा कविः संक्षिप्तं युक्तियुक्तं कोविदानन्दाख्यं ग्रन्थं कुर्वन् शिवोत्कर्षरूपं मङ्गलमाचरति।"[३२]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आशाधरभट्ट कवि और भावुक दोनों थे। अर्थात् वे कारयित्री एवं भावयित्री रूप द्विविध प्रतिभा के धनी थे। 'कवि' और 'भावुक' दोनों में प्रायः यह देखा गया है कि यदि कवि स्वच्छन्द रूप से काव्य-प्रणयन करते हुए राज्याश्रय के लिए प्रवासी बनता है तो तत्त्वाभिनिवेशी भावुक प्रायः अध्यापक होता है। अध्यापनवृत्त्योपसेवी विद्वान् राज्याश्रय से पराङ्मुख ही रहता है। आशाधरभट्ट के ग्रन्थों (**कोविदानन्द**, **त्रिवेणिका**, **कुवलयानन्दकारिका**) के अनुशीलन से उनमें वर्णित शैली व ऊहापोहादि से यही सिद्ध होता है कि वे एक प्रौढ एवं सफल अध्यापक भी थे, जिसकी पुष्टि **कोविदानन्द** पर स्वयं ग्रन्थकार द्वारा लिखी गई **कादम्बिनी** नामक टीका के प्रारम्भ की पंक्तियों से ही होती है, जिसमें **शिष्यैः प्रेरितः** का प्रयोग हुआ है।

---

२९. कल्हण : राजतरङ्गिणी, ५।३४।
३०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, लक्ष्यलक्षणप्रकरण, पृ०।
३१. वही पद्य २।
३२. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभि० नि०, व्याख्या भाग, पृ० १

२. बहुश्रुत विद्वान्

प्रख्यात मीमांसक मुकुल भट्ट ने अपनी महनीय कृति **अभिधावृत्तिमातृका** में व्याकरण, न्याय और मीमांसा तीनों शास्त्रों को 'साहित्य' के लिए परम उपादेय माना है। उनका कहना है कि वही विद्वान् सफल कवि एवं भावक की कोटि तक पहुँच सकता है, जिसकी प्रतिभा इतनी प्रखर हो कि वह **व्याकरण, न्याय** एवं **मीमांसा** में प्रतिपादित सिद्धान्तों का '**साहित्यशास्त्र**' में यथावसर उपयोग करने में सक्षम हो :—

पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत्प्रतिबिम्बितम्,
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति ।[३३]

आशाधरभट्ट इसी कोटि के विद्वान् थे, जिनकी गति **व्याकरण, न्याय** एवं **मीमांसा** प्रभृति शास्त्रों में अबाध थी। भट्ट जी ने इसे अपने **कोविदानन्द** एवं **त्रिवेणिका** दोनों के प्रणयन से सिद्ध भी कर दिया है, जिसमें यथाप्रसङ्ग व्याकरण, न्याय एवं मीमांसा प्रभृति शास्त्रों के सिद्धान्तों के पक्ष-विपक्ष का मंजुल एवं विशद विवेचन पदे-पदे हुआ है। **यास्क** के **निरुक्त**,[३४] पातञ्जल महाभाष्य[३५] एवं **भर्तृहरि** के **वाक्यपदीय**,[३६] **पाणिनि** की **अष्टाध्यायी**,[३७] **गौतम** के **न्यायसूत्र** आदि अन्यान्य शास्त्रीय ग्रन्थों के उद्धरण इनकी कृतियों में पर्याप्त संख्या में विद्यमान हैं। **हैमकोश, वैजयन्तीकोश, अमरकोश** एवं **हलायुधकोश** प्रभृति ग्रन्थों के यदि एक ओर उद्धरण दिये हैं तो दूसरी ओर यथाप्रसङ्ग कविकुलगुरु **कालिदास** के **रघुवंश**, कुमारसम्भव, **भवभूति** के **उत्तररामचरित, श्रीहर्ष के नैषध, आचार्य विश्वनाथ** के **साहित्यदर्पण** के उद्धरण भी उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त **रस-प्रदीप, काव्यप्रकाश, न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली, कालिकापुराण, मार्कण्डेयपुराण, वाल्मीकिरामायण, श्रीमद्-भागवत, वैयाकरणभूषणसार, काव्यप्रदीप** प्रभृति ग्रन्थों के उद्धरणों के सम्यक् प्रयोग यथावसर हमें मिलते हैं, जो अपने आप में ग्रन्थकार के बहुश्रुत विद्वान् होने की घोषणा करते हैं। यही नहीं, भट्ट जी ने अपनी कृति **त्रिवेणिका** में लक्षणा नामक शब्द की द्वितीय वृत्ति के भेद-प्रभेदों के विवेचन के सन्दर्भ में ज्योतिष-शास्त्र के भी उद्धरण दिये हैं।

---

३३. मुकुलभट्ट : अभिधावृत्तिमातृका, का० १३।

३४. निरुक्त, १।१।

३५. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, व्याख्या भाग की का० १३ में उद्धृत महाभाष्य, ४।१।४४।

३६. भर्तृहरि : वाक्यपदीय, १—१२३, उद्धृत कोविदानन्द, पृ० ८।

३७. पाणिनि : अष्टाध्यायी, १।४।१४

निष्कर्ष रूप से यह प्रमीत होता है कि **रामायण, महाभारत** से लेकर, **कालिदास, भारवि, माघ** प्रभृति कवियों तथा **श्रीहर्ष, भवभूति** आदि नाटककारों की कृतियों से स्थल चुनकर **कोविदानन्द** एवं **त्रिवेणिका** में उन्हें प्रसङ्गानुकूल उदाहृत किया गया है। इन सबके अतिरिक्त ग्रन्थकार ने अपने कथन के समर्थन में **यदाहुः यदुक्तं एवं कैश्चित् इष्यते, मन्यन्ते** आदि के नाम से अनेक उद्धरणों को प्रस्तुत किया है जो उनकी बहुज्ञता की ही प्रतीति कराते हैं। इन बहुविध उदाहरणों के अनुशीलन से इतना तो स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि आशाधरभट्ट एक ऐसे उद्भट विद्वान् थे, जिनके लिए **वेदवेदाङ्गपुराणेतिहास** तथा समस्त वाङ्मय **हस्तामलकवत्** था।

आशाधरभट्ट ने अपनी कृतियों **कोविदानन्द, त्रिवेणिका** एवं **कुवलयानन्द-कारिका** की पुष्पिकाओं में **पदवाक्यप्रमाणपारावारीण** विशेषण का प्रयोग किया है। यह विशेषण मूलतः अपने पिता के लिए लिखा है—

पदवाक्यप्रमाणपारावारीणरामजीभट्टसूनुनाशाधरभट्टकविना......।

परन्तु श्री कालिकाप्रसाद शुक्ल जी द्वारा १९५७ ई० में सम्पादित **त्रिवेणिका** के वाराणसेय संस्करण में लक्षणा प्रकरण की पुष्पिका में यह विशेषण नवीन परम्परा से उल्लिखित किया गया है—

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीणमहोपाध्यायाशाधरभट्टविरचितायां कोविदानन्दसहजायां त्रिवेणिकायां द्वितीयं लक्षणाप्रकरणम् समाप्तम्।[३८]

इन दोनों ही परम्पराओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि आशाधरभट्ट स्वयं को भी **पदवाक्यप्रमाण** में निष्णात मानते थे। यह उनकी महत्ता ही है कि उन्होंने यह गौरव सामान्यतः अपने पिता **रामजीभट्ट** को ही दिया है। अतः ग्रन्थकार के सन्दर्भ में इसकी परीक्षा आवश्यक है।

अभिधावृत्तिमातृका में **मुकुलभट्ट** ने पद, वाक्य और प्रमाण पदों की **व्युत्पत्तिमूलक** व्याख्या दी है।

पदावगतिहेतुत्वात्पदं व्याकरणम्। वाक्यसमन्वयावसायहेतुत्वाद्वाक्यं मीमांसा। प्रमाणप्रतिपत्तिकारित्वात्प्रमाणं तर्कः।[३९]

आचार्य पाणिनि के **अष्टाध्यायी** के **सुप्तिङन्तं पदम्**[४०] के अनुसार **सुबन्त** और **तिङन्त** की पद संज्ञा होती है। इस प्रकार 'पद' अर्थात् शब्द अर्थात् हर प्रकार

---

३८. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरण, शुक्ल जी संस्करण, १९५७

३९. मुकुलभट्ट : अभिधावृत्तिमातृका, का० १३, वृत्तिभाग।

४०. पाणिनि अष्टाध्यायी, १।४।१४

के शब्दों की अवगति, उनकी निष्पत्ति, प्रयोग एवं अर्थ के ज्ञान का साधक होने से 'पदशास्त्र' को **व्याकरण** कहते हैं, क्योंकि **अथ शब्दानुशासन** की प्रतिज्ञा के अनुसार व्याकरण ही वह शास्त्र है, जो हर प्रकार के शब्दों का विवेचन करता है। इस तरह 'पद' से **व्याकरणशास्त्र** का ग्रहण होता है।

'वाक्य' पद से **मीमांसाशास्त्र** का ग्रहण किया जाता है; क्योंकि वही शास्त्र वैदिक वाक्य में **विधि** और **अर्थवाद** का निर्धारण करता है। इसलिए ही **मुकुलभट्ट** ने 'वाक्य' की व्युत्पत्ति देते हुए कहा है।

वाक्यसमन्वयावसायहेतुत्वाद्वाक्यम् मीमांसा।[४१]

वेद में उल्लिखित वाक्यों में से कौन **विधि वाक्य** है ? इसका निर्णय करने के लिए ही मीमांसाशास्त्र का प्रणयन हुआ। इसीलिए 'वाक्य' से **मीमांसाशास्त्र** का ग्रहण किया जाता है।

प्रमाण शब्द **दर्शनशास्त्र** का है, जिसमें तत्त्वों की सिद्धि के लिए विविध प्रमाणों को मान्यता दी गई है। वैसे तो दर्शन की सभी विधाएँ प्रमाण को मानती हैं तथा अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार उनकी संख्या और स्वरूप का विवेचन करती हैं; परन्तु वह विद्या जो प्रमाणों के विवेचन पर ही अधिक जोर देती है—**न्याय** कहलाती है। उसे शास्त्र प्रमाणों का ही विशद विवेचन करके उनके स्वरूप का निर्धारण करता है, उसे प्रमाणशास्त्र कहते हैं – वह है **न्याय** या **तर्कशास्त्र**। मुकुल-भट्ट ने इसकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—

प्रमाणप्रतिपत्तिकारित्वात् प्रमाणं तर्कः।[४२]

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि **पद, वाक्य, प्रमाण पारावारीण** वह है, जिसका व्याकरण मीमांसा तथा न्यायशास्त्र पर पूर्ण अधिकार हो।

आशाधरभट्ट के तीनों ग्रन्थों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्ट जी ने यह विशेषण अपने पिता **रामजीभट्ट** एवं स्वयं अपने लिए ही किया है। उसका अभिप्राय यह हैं कि वे व्याकरण, मीमांसा और न्याय तीनों शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे। ग्रन्थकार की कृतियाँ ही इसका पुष्कल प्रमाण हैं।

३. अनन्यशिवभक्त

आशाधरभट्ट भगवान शिव के अनन्य भक्त थे। आशाधरभट्ट ने **कोविदानन्द, त्रिवेणिका** एवं **कुवलयानन्दकारिका** तीनों कृतियों का प्रारम्भ शिव-स्तुति या पार्वतीपुत्र गणेश की वन्दना से किया है। कोविदानन्द का प्रारम्भ ग्रन्थकार ने त्रिनयन भगवान् शिव की स्तुति से करते हुए लिखा है :—

त्रिनयनलसत् पञ्चास्यश्रीः षडाननन्दनः,
सततमहिमा सप्तर्ष्याद्यैः कृतस्तुतितोषितः।

४१-४२. मुकुलभट्ट : अभिधावृत्तिमातृका, का० १३, वृत्तिभाग।

जयति जगतां व्याकुर्वाणोऽजयाकृतिनामनी
पुनरपि दधत् कण्ठेकालः स कालकलोज्झितः ।।[४३]

ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ पर **कादम्बिनी** नामक टीका भी लिखी है, जिसका प्रारम्भ भी **शिवस्तुति** से ही किया है :—

प्रणम्य शङ्करं साम्बं कोविदानन्दनामकम् ।
ग्रन्थं व्याख्यामि सङ्क्षेपात् स्वकृतं बोधसिद्धये ।।[४४]

कोविदानन्द आशाधर की पृथक रचना है। इसकी विशेषता यह है कि ग्रन्थकार ने शक्ति-निरूपण के प्रसङ्ग में **शक्ति-ग्राहकों** के प्रमुख सभी भेद-उपभेदों को **शिव** या **पार्वती** रूप अर्थावबोधक शब्दों से ही उदाहृत किया है। इसी परम्परा से **लक्षण** एवं **व्यञ्जना** के भेद-प्रभेदों को भी शिवपरक अर्थावबोधक पदों से उदाहृत करके यदि एक ओर ग्रन्थकार ने अपने ज्ञान के गाम्भीर्य को, तो दूसरी ओर शिव के प्रति अनन्यभक्ति की ही पुष्टि की है। यहाँ तक कि ग्रन्थ की परिसमाप्ति भी शिवस्तुति से ही की गई है—

शिवस्य भक्त्या समवाप्तसिद्धि-
र्धीनीरधी रामजीभट्ट आसीत् ।
तत्सूनुनाशाधरभट्टनाम्ना
ग्रन्थः कृतोऽयं सुधियां मुदेऽस्तु ।।[४५]

कोविदानन्द की सरणि पर **त्रिवेणिका** का प्रारम्भ भी 'पार्वती-पुत्र' गणेश की स्तुति से ही हुआ है :—

प्रणम्य पार्वतीपुत्रं कोविदानन्दकारिणा
आशाधरेण क्रियते पुनर्वृत्तिविवेचना ।[४६]

इसी तरह ग्रन्थकार ने **कुवलयानन्दकारिका** की **अलङ्कारदीपिका** नामक संस्कृत टीका का प्रारम्भ भी गणेशवन्दना से किया है :—

शिवयोस्तनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम् ।
कुर्वे कुवलयानन्दकारिका दीपिका मुदे ।।[४७]

इस प्रकार शिव के प्रति अनन्यभक्ति का परिचय तो तीनों ग्रन्थों के मङ्गलात्मक पद्यों से हो जाता है, किन्तु **कोविदानन्द** के अनुशीलन से तो यही

---

४३. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, मङ्गल पद्य ।
४४ वही ,, ,, टीका का मङ्गल पद्य ।
४५. वही ,, व्यञ्जनानिरूपण, उपसंहारात्मक पद्य ।
४६. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, वृत्तिप्रकरण, मङ्गल पद्य ।
४७. ,, : कुवलयानन्दकारिका, मङ्गल पद्य, अलङ्कारदीपिका, व्याख्या प्रसङ्ग ।

स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण कृति ही शिव को समर्पित कर दी गई है। इसमें जितने भी उदाहरण बन पड़े हैं, सबके सब 'शिव' रूप अर्थ में ही केन्द्रित हैं। इसके अतिरिक्त प्रदोषव्रत का महत्त्व,[४८] निरूपित करना एवं **स्थाणुं भजस्व विद्यायै**[४९] **कल्पान्ते स्थाणुरेकक:;**[५०] **शिवपूजा मम प्राणा:, हे प्राणविरता: स्थ मा,**[५१] **मुक्ति: शिवस्य पूजैव, हे मुक्ते मा जहीहि माम्**[५२] प्रभृति निदर्शनों से शिव की अलौकिकता का सादर विवेचन करना एवं व्यञ्जनाप्रकरण में प्रकारान्तर से **माघात् बिभ्यतुमाघोऽयं यत्र रात्रि: शिवप्रिया**[५३] आदि प्रतीति की घोषणा एवं भक्ति-पूर्वक **शिवंपूजयताजस्रं जुषध्वं सुखमीप्सितम्**[५४] कान्तासम्मिततया संसार को उपदेश देना, एवं शिवमोक्षदाता है, इस भाव को यथार्थता रूप विश्वास के बाद निर्द्वन्द्वभाव से **शैवानां चेत् पुनर्जन्म सा हानि: गिरिजापते:**[५५] कहकर लक्षणा के अन्यान्य भेद-प्रभेदों के निरूपण व्याज से शिवभक्ति की दीक्षा देना अनन्य शिवसाधक का ही कार्य हो सकता है। अत: आशाधरभट्ट शिव के अनन्य भक्त थे।[५६] यही कारण है कि आशाधरभट्ट ने लक्षणा के विश्रुत उदाहरण **गङ्गायाम् घोष:** के स्थान पर शिवमन्दिर रूप विशेष अर्थावपोधक **ऊङ्कारलिङ्गं रेवायाम्**[५७] उदाहृत किया है।

४. जन्मस्थान

आशाधरभट्ट के जन्म एवं कर्मभूमि के सन्दर्भ में हमें मुख्यत: **कोविदानन्द** में ही संकेत मिलता है, जिसके आधार पर आशाधरभट्ट मध्य प्रदेश के अन्तर्गत **खण्डवा** जिले में प्रसिद्ध **ऊङ्कारेश्वर** नामक शिवमन्दिर के पास-पड़ोस के निवासी थे। इसका दूसरा नाम **ज्योतिर्लिङ्ग शिव मन्दिर** भी है। यह **रेवा** और **नर्मदा** दो नामों से प्रसिद्ध नदी के तट पर स्थित है। उसका संकेत **व्यञ्जना** नामक शब्दवृत्ति के सहकारी तत्त्वों के विवेचन-प्रसङ्ग में मिल जाता है। इसकी पुष्टि आशाधरभट्ट की निम्न कारिका से होती है—

---

४८. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २४-२७।
४९. वही ,,
५०. वही : कोविदानन्द, लक्षणानिरूपण, का० १५-१६।
५१. वही ,,
५२. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, व्यञ्जननिरूपण, का० १०, १३, १४, १७
५३. वही ,,
५४. वही ,,
५५. वही ,,
५६. वही ,,
५७. वही ,, लक्षणानिरूपण, का० ४।

देशकालप्रकरणवक्तृवाक्याभिधेयकाः ।
सानिध्यकाकुबोधव्या व्यञ्जना सहकारिणः ।।[५८]

इस प्रकार **आशाधरभट्ट** के द्वारा व्यञ्जना के सहकारी तत्त्वों को विवेचित करने के व्याज से उल्लिखित अवान्तर साक्ष्यों की ग्रन्थकार के जन्मस्थान के सन्दर्भ में परीक्षा अत्यावश्यक है ।

आशाधरभट्ट ने **ऊङ्कारेश्वर मन्दिर** में शिवपूजा से संवलित दैनन्दिन पूजा-प्रक्रिया का बड़ा सजीव वर्णन किया है । इतना ही नहीं, सूर्योदय या अरुणोदय से लेकर प्रदोषपर्यन्त शिवपूजा के विविध क्रम एवं महत्व का प्रतिपादन भी किया है ।

लक्षणा के अन्यान्य भेद-प्रभेदों के निरूपण-व्याज से आशाधरभट्ट ने अपने निवास एवं पूजनस्थल विशेष की सर्वातिशायिनी महिमा का प्रतिपालन करते हुए लिखा है—

ऊङ्कारलिङ्गं रेवायां शौणैरच्यं दिनोदये ।
यतः प्रफुल्लाः पद्मिन्यस्तत्रेत्यादौ यथाक्रमम् ।।[५९]

रेवातट **ऊङ्कारेश्वर मन्दिर** की ख्याति के कारण निर्जन प्रदेश नहीं है; बल्कि **प्रासादाः सन्ति रेवायाम्** अर्थात् नदी प्रवाह के सान्निध्य में ही बड़े-बड़े महल बन गये हैं, अभिप्राय यह है कि यहाँ एक अच्छी आबादी भी है, जहाँ झुण्ड के झुण्ड संन्यासी **ऊङ्कारेश्वर** नामक शिव-मन्दिर में आ-आकर प्रातः एवं सायं प्रदोषकाल में, शिवलिङ्ग पर जल चढ़ाते हैं । **शिवलिङ्ग** के चारों ओर काले विषधर नाग अङ्कित हैं । इसका परिचय अधोलिखित दो कारिकाओं से मिलता है—

प्रासादाः सन्ति रेवायाम् यष्टयः प्रविशन्ति यत्र ।
प्रदोषे जनसम्बाधे शम्भावम्भः क्षिपन्ति च ।।
यः श्रुत्यो कुण्डले धत्ते यत्छ्रूती चक्षुषोः स्थिते ।
तन्नागभूषणं वन्दे देवदेवं हृदि स्थितम् ।।[६०]

ऐसे सुन्दर **ऊङ्कारेश्वर मन्दिर** में स्थित शिवमूर्ति की पूजा ग्रन्थकार आशाधरभट्ट के प्राण के समान प्रिय थी, अर्थात् वे यह पार्थिव शरीर रहते शिवपूजा का बहिष्कार करने की कल्पना भी न कर सकते थे । यह नित्य नैमित्तिक शिवपूजा यदि शिवभक्ति को समर्थित करती है तो उनके **रेवानदी** के तट पर स्थित ऊङ्कारेश्वर मन्दिर के सान्निध्य में बसी हुई बस्ती ही में उनके निवास की बात की भी पुष्टि करती है । आशाधरभट्ट कहते हैं—

---

५८. आशाधरभट्ट ,, व्यञ्जनाप्रकरण, का० २ ।
५९. वही ,, लक्षणानिरूपण, का० ४ ।
६०. वही ,, ,, का० ८-९

मुक्तिः शिवस्य पूजैव हे मुक्ते मा जहीहि माम् ।[६१]
शिवपूजा मम प्राणाः हे प्राणाः विरतास्थ मा ।[६२]

एक अन्य स्थल पर ऊँकारेश्वर महादेव को **रेवावारीशलिङ्गम्** अभिधान देते हुए उस स्थल विशेष की धन्यता को भी प्रतिलादित किया है—

रेवावारीशलिङ्गानि पुष्पिता यत्र पादपाः ।
धन्यः स देश इत्यत्र ,जौत्सुक्यं प्रतीयते ।।[६३]

इससे यह स्पष्ट है कि **रेवा** नदी के तट पर स्थित वह बस्ती ही आशाधर-भट्ट की निवास-स्थली थी, जिसमें **ऊङ्कारेश्वर** नामक प्रख्यात शिवलिङ्ग स्थापित था । इनका परिवार **शैव** था । आशाधरभट्ट अध्यापन एवं पूजन सभी ऊङ्कारेश्वर मन्दिर के सान्निध्य में ही करते थे। लगता है कि यह प्रदेश अतीव शान्त था तभी तो निर्द्वन्द्व भाव से सानन्द पक्षियों के प्रासाद पर बैठने का संकेत ग्रन्थकार देते हैं—

शिवप्रासादशिखरे सानन्दान् पश्य पक्षिणः ।[६४]

इससे भी यही प्रतीत होता है कि आशाधरभट्ट **रेवा** नदी के तट पर बसी हुई बस्ती के रहने वाले थे, जो कि ऊङ्कारेश्वर नामक महादेव के विश्रुत मन्दिर के निकट स्थित है । यह स्थान सम्प्रति मध्य प्रदेश के **खण्डवा** नामक जिले में है। जहाँ तक ऊङ्कारेश्वर शिव के मन्दिर का प्रश्न है वह नर्मदा नदी के एक पहाडी द्वीप में स्थित है । प्राचीन काल से ही यह तीर्थ के रूप में बहुर्चाचित है । इस द्वीप का आकार ओङ्कार (ऊं) के समान है, जो इसके नामकरण का कारण है । प्रणवा-कार द्वीप में स्थित शिव के लिङ्ग का ही नाम ऊङ्कारेश्वर है। भगवान शिव के लिङ्ग का ही नाम ऊङ्कारेश्वर है। भगवान शिव के द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में इसकी गणना है । इसके अपर नाम ऊङ्कारनाथ, मान्धाता एवं अमरेश्वर भी हैं। इस स्थल का वर्णन **शिवपुराण**[६५] एवं **स्कन्दपुराण** के **रेवाखण्ड**[६६] में भी मिलता है । इसकी पुष्टि अन्य स्थलों से भी होती है ।[६७-६८]

---

६१. आशाधरभट्ट लक्षणानिरूपण पूर्वार्द्ध, का० १५
६२ वही ,, ,, ,, का० १६
६३. वही ,, व्यञ्जनानिरूपण, का० ६
६४. वही ,, ,, का० ८
६५. शिवपुराण, भाग १, अध्याय ८८
६६. स्कन्दपुराण, रेवाखण्ड, अनुच्छेद, २८।३३
६७. ऐतिहासिक नामावली
६८. Dey C. Nandulal : The Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India.

आशाधरभट्ट रचित **त्रिवेणिका** और **कोविदानन्द** के सम्पादक **आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल** ने **त्रिवेणिका** की भूमिका में कहा है कि **आशाधरभट्ट** गुजराती थे तथा उन्होंने उन लोगों से भी भेंट की जो अपने को उनके वंशज बतलाते हैं। **शुक्ल जी** ने वहाँ की किम्वदन्तियों के आधार पर आशाधरभट्ट के जन्म-स्थल के विषय में भी पर्याप्त विचार किया है। उनका निष्कर्ष है कि किम्वदन्तियों एवं स्थानीय उल्लेखों के आधार पर निवास-स्थान का निश्चय इसलिए नहीं किया जा सकता कि वे एक-दूसरे से मेल नहीं खाती। तथापि उन्होंने **त्रिवेणिका** के लक्षणा-प्रकरण के **गुर्जर जर्जर**......इत्यादि उदाहरणों के आधार पर तथा गणेश की स्तुति से कृतियों का समारम्भ रखने से यह निष्कर्ष निकाला है कि आशाधरभट्ट गुजराती ब्राह्मण थे—

त्रिवेणिकायाः कर्ता श्रीमदाशाधरभट्टो गुर्जरदेशस्य खम्भातसमीपस्थ-पटपत्तनर (पेटलाद) सविधे 'वसो' इत्याख्यं नगरकल्पं स्वजनुषा पर्यभूषयदिति केचन तन्निकटस्थं 'पीज' नगरं केचन च पटपत्तनमेव ग्रन्थकर्तुः जन्मस्थानमवधार-यन्ति। एतन्नगरत्रयमपि परस्परमतीव सान्निध्यमासाद्यतिष्ठति। अत्रैकमत्यं जिज्ञा-समानेन मयाऽनेके विख्याताः कुलपरम्परासेवितसंस्कृतसाहित्या गौर्जरा विद्वांसः साक्षात् कृताः परन्तु यथा यथा ऐकमत्याय प्रयतितं तथा तथा वैमत्यमेव विलोक्या-न्यतममेव ग्रामं भट्टमहोदयस्य जन्यवनीं निरचिनवम्। सम्प्रत्यपि श्री आशाधरस्य विषये नैका जनश्रुतयो गुर्जरभूवलयमण्डलपण्डितमण्डलीषु श्रूयन्ते। ग्रन्थकर्त्तुः प्राक् गुर्जरप्रान्ते सारस्वतव्याकरणमेव पठनपाठने उपयुज्यमानमासीत्। परन्तु भट्टारुण-स्योदयादनन्तरं पाणिनीयव्याकरणभास्वतो भास्वरेण भासा समग्रोऽपि गुर्जरप्रान्तः समकालमेव व्यापि। ततः प्रभृति शब्दानुशासनस्यास्याविरतधारा भगीरथपथ-प्रवृत्तिविबुधसरितेवाद्यापि पुनाति पुण्यतमां तां पृथुपुत्रीम्। उपलभ्यमानेषु प्रकृत-ग्रन्थकृतो ग्रन्थेषु कस्मिन्नपि ग्रामस्य संकेतो नास्ति तथापि लक्षणानिरूपणावसरे गुर्जरनिर्जरजर्जरादि (३० पृ०) घटितगुर्जरपदेन देशस्तु स्पष्टतया सूचितः। तत्रत्याः किंवदन्त्योऽपि सम्वदन्त्यत्र।[६९]

आशाधरभट्ट के जन्म एवं निवास-स्थान के विषय में उपलब्ध दोनों प्रकार के तथ्यों में सामञ्जस्य स्थापित करने की आवश्यकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आशाधरभट्ट गुजराती ब्राह्मण थे; जिनका पारिवारिक निवास-स्थान आचार्य **शुक्ल** के द्वारा उपस्थापित विवरण के अनुसार गुजरात के **खम्भात** नामक क्षेत्र में स्थित पेटलाद के सन्निकट **वसो** नामक नगर था, जहाँ सम्भवतः उनका जन्म भी हुआ था; पर जीविकार्जन के लिए उन्हें मध्य प्रदेश के खण्डवा जिले में रेवा नदी के तट

---

६९. आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल द्वारा सम्पादित—त्रिवेणिका : प्रस्तावना, पृ० २८

पर स्थित ऊंकारेश्वर नामक स्थान पर जाना पड़ा जहाँ उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन यापित किया, जिसकी अमिट छाप उनकी कृतियों पर भी पड़ी है। **ऊंकारेश्वर** महादेव के मन्दिर से सम्बद्ध महाविद्यालय के सम्भवतः वे प्रधानाचार्य थे। उसी सम्मान के लोभ से अपना जन्म-स्थान छोड़कर वे वहाँ गये होंगे और शिव की भक्ति के कारण वहीं अपना शेष जीवन बिताया होगा। इसी लिए उन्होंने नर्मदा तट की उस बस्ती तथा ऊँङ्कारेश्वर महादेव के सान्निध्य का बड़ा मनोरम वर्णन किया है। संस्कृत विद्या तीर्थों एवं धर्मस्थानों में ही फली-फूली है, जिसके निदर्शन काशी, प्रयाग, काँची, पुरी आदि हैं।

ख. आशाधरभट्ट का समय

किसी भी कवि एवं लेखक के काल का निर्धारण अन्तः एवं बाह्य उभय साक्ष्यों के आधार पर किया जाता है। ग्रन्थकार की कृति में कुछ पूर्ववर्ती विद्वानों या उनकी कृतियों का नामोल्लेख अवश्य मिल जाता है। इसी प्रकार उसके परवर्ती ग्रन्थों में भी कृतिकार या उसकी कृति का उल्लेख भी होना उद्धरणतः स्वाभाविक है। यदि ऐसा संयोग हो तो अन्तः साक्ष्यों के द्वारा पूर्ववर्ती सीमा एवं बाह्य साक्ष्यों के द्वारा उसकी परवर्ती सीमा का निर्धारण स्वतः हो जाता है।

आशाधरभट्ट के सन्दर्भ में यह बात लागू नहीं होती। आशाधरभट्ट का नामतः या इनकी कृतियों के उद्धरण परवर्ती किसी भी ऐसे विद्वान् की कृति में उल्लेख नहीं मिलता, जिसके आधार पर इनके समय की उत्तरवर्ती सीमा का नियमन किया जा सके। परिणामतः अन्तः साक्ष्यों के आधार ही इनका स्थितिकाल नियत किया जायेगा—

१. **पूर्ववर्ती सीमा**—

भट्ट जी के काल की पूर्ववर्ती सीमा का निर्धारण करने के लिए हमें निम्न अन्तः साक्ष्य प्राप्त होते हैं—

(क) अप्पयदीक्षित के **कुवलयानन्द** पर आशाधरभट्ट द्वारा **कुवलयानन्दकारिका** नामक ग्रन्थ एवं उस पर **अलङ्कारदीपिका** नामक टीका का प्रणयन।

(ख) विवेच्य विषय के आधार पर—

(१) **सिद्धान्तकौमुदी**

(२) व्यञ्जनाप्रकरण में शक्ति अर्थात् अभिधा का स्वरूप विवेचन।

(क) आलङ्कारिक अप्पयदीक्षित की महनीय कृति "**कुवलयानन्द**" की कारिकाओं पर आशाधरभट्ट ने **अलङ्कारदीपिका** नामक संस्कृत व्याख्या लिखी है

तथा 'कुवलयानन्द में मात्र नामतः उल्लिखित **रसवदलङ्कारों** को **उद्दिष्टालङ्कार** एवं **परिशेषालङ्कार** प्रकरणों में विभाजित कर उनकी समग्र कारिकाओं की तदनुरूप रचना करके सम्पूर्ण ग्रन्थ का नाम **कुवलयानन्दकारिका** रखा है तथा **अलङ्कार-दीपिका** नामक व्याख्या द्वारा तत्तद् अलङ्कारों को व्याख्यायित भी किया है, जिसकी पुष्टि ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने ग्रन्थ के एक मङ्गल पद्य में स्वयं कर दी है—

> **शिवयोस्तनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम् ।**
> **कुर्वे कुवलयानन्दकारिकादीपिकां मुदे ।।**[७०]

इससे इतना तो स्वतः सिद्ध हो जाता है कि आशाधरभट्ट अप्पयदीक्षित के परवर्ती ही थे। अप्पयदीक्षित का काल १६वीं शती का उत्तरार्द्ध एवं १७वीं शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है।[७१] इनका साहित्यिक जीवन सन् १५४९ से सन् १६१३ तक अर्थात् ७२ वर्ष पर्यन्त रहा, जिसकी पुष्टि अप्पयदीक्षित के छोटे भाई **अच्चन** या **अच्चान** के प्रपौत्र नीलकण्ठ की विश्रुत कृति **शिवलीलावर्णन** **काव्य** में हुई है।

> **कालेन शम्भुः किल तावतापि**
> **कलाचतुष्षष्टिमिताः प्रणिन्ये ।**
> **द्वासप्तति प्राप्य समाः प्रबन्धा-**
> **ञ्छतं व्यधादप्पयदीक्षितेन्द्रः ।।**[७२]

आशाधरभट्ट क्योंकि अप्पयदीक्षित की कृति कुवलयानन्द के व्याख्याकार थे, अतएव वे दीक्षित के परवर्ती ही सिद्ध होते हैं। परिणामतः आशाधरभट्ट के काल की पूर्ववर्ती सीमा १७वीं शती के पूर्व की कथमपि नहीं हो सकती।

१. **उद्धृत उद्धरणों या विवेच्य विषयों के आधार पर**—

आशाधरभट्ट ने **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** को **त्रिवेणिका** एवं **कोविदानन्द** में **पदे-पदे** उद्धृत किया है। **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** के कर्ता **भट्टोजिदीक्षित** को भी १७वीं शती पूर्वार्द्ध का माना गया है।[७३] अस्तु, आशाधरभट्ट को

---

७०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, लक्ष्यलक्षणप्रकरण, पद्य।

७१. P. V. Kane : History of Sanskrit Poetics, Vol., I. p. 320, 1961.
Dey, S. K. : History of Sanskrit Poetics, Vol. I. p. 222, 1960.

७२. नीलकण्ठ, शिवलीलार्णव उद्धृत पी० वी० काणे, पृ० ३१९, १९६१

७३. Belvalkar, Systems of Sanskrit Grammar, p. 39, Ed. 2. 1976.

भट्टोजिदीक्षित का भी पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता है। इस अन्तः साक्ष्य के आधार पर भी आशाधरभट्ट के काल की पूर्व सीमा १७वीं शती ही समीचीन ठहरती है।

२. **अभिधान्तर्गत व्यञ्जनान्तरभाव विषयक वैयाकरणों के मत का उपस्थापन —**

आशाधरभट्ट ने अपनी कृति **त्रिवेणिका** के तृतीय एवं अन्तिम प्रकरण में वैयाकरणों के अभिधा में व्यञ्जना की गतार्थता रूप सिद्धान्त का उपस्थापन किया है। विशेष उल्लेखनीय तथ्य है कि उपस्थापित पूर्वपक्षीय सिद्धान्त पूर्णतः **कोण्डभट्ट** कृत **वैयाकरणभूषणसार** के 'शक्तिनिर्णयः' नाम वाले प्रकरण के अनुरूप है। व्यञ्जना की सद्भावना को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके उसकी आलोचना करने वाले वैयाकरणों के मत का उपस्थापन आशाधरभट्ट निम्न प्रकार से करते हैं—

अत्र वैयाकरणाः—

शक्तिरेव शब्दवृत्तिः, तस्याश्च प्रसिद्धचप्रसिद्धिभ्यां शक्तिलक्षणाव्यपदेशः। व्यञ्जना तु तत्रान्तर्भवति दीर्घव्यापारादिति।।"

आशाधरभट्ट ने वैयाकरणों के उपर्युक्त मत का उपस्थापन करते हुए लिखा है :—

......तन्न, स्वीकारात् सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति इति न्याया-द्वाच्यार्थबोधानन्तरं व्यङ्ग्यार्थे शक्तेरप्रवृत्तेः।[७५] यहाँ शक्तिरेव शब्दवृत्ति विचार **कौण्डभट्ट** कृत **वैयाकरणभूषणसार** की एक कारिका को उद्धृत करके अपने मत को प्रतिपादित किया है—

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा।।[७६]

इस प्रकार आशाधरभट्ट द्वारा **त्रिवेणिका** के व्यञ्जनाप्रकरण में आलोचित वैयाकरणों के **शक्तिरेव शब्दवृत्ति** रूप सिद्धान्त का **वैयाकरणभूषणसार** में विवेचित सिद्धान्त से सामञ्जस्य होना भी आशाधरभट्ट को कौण्डभट्ट का परवर्ती ही सिद्ध करता है।

कौण्डभट्ट का समय १७वीं शती का मध्यकाल माना गया है।[७७] इस

---

७४. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, व्यञ्जनाप्रकरण।

७५. वही

७६. कौण्डभट्ट : वैयाकरणभूषणसारः, शक्तिनिर्णय, का० ३६।

७७. Belvalkar, Systems of Sanskrit Grammar, p. 40, 1976.
के० पी० त्रिवेदी, प्रस्तावना भाग, वैयाकरणभूषण, पृ० १६, बम्बई, १९१५

प्रकार उपर्युक्त सभी अन्त साक्ष्यों की सम्यक् परीक्षा करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि आशाधरभट्ट का समय १७वीं शती के पूर्व किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता। अतः भट्ट जी के काल-निर्धारण की पूर्ववर्ती सीमा १६वीं शती ही सिद्ध होती है।

२. उत्तरवर्ती सीमा—

आशाधरभट्ट के काल-निर्धारण की परवर्ती सीमा भी अन्तः साक्ष्यों पर ही अवलम्बित है। प्रमुख साक्ष्य दो प्रकार के है :—

(क) ग्रन्थकार की कृतियों के हस्तलेख-काल

(ख) व्यञ्जनानुयायी वैयाकरणवर्ग विशेष से ग्रन्थकार आशाधरभट्ट की अनभिज्ञता।

क. **हस्तलेख-काल—**

आशाधरभट्ट की **कोविदानन्द**, **त्रिवेणिका** एवं **कुवलयानन्दकारिका** नामक तीनों ही कृतियों की हस्तलिखित प्रतियों पर भिन्न-भिन्न समय प्राप्त होते हैं। उदाहरणतः

कोविदानन्द की एक हस्तलिखित प्रति का काल शक सं० १७८३ (=१८६१ ए० डी०)[७८] दिया हुआ है। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि आशाधरभट्ट की सर्वप्रथम कृति १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रसिद्ध हो चुकी थी अर्थात् आशाधरभट्ट तो निश्चित रूपेण इस समय तक बहुचर्चित हो गये थे। भट्ट जी की कालक्रम से द्वितीय कृति त्रिवेणिका के तीन हस्तलिखित प्रतियों के काल की जानकारी हमें प्राप्त होती है। आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल ने **कोविदानन्द** एवं **त्रिवेणिका** दोनों ग्रन्थों को १९५७ ई० में भारतीय साहित्य विद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित किया है। उन्होंने **त्रिवेणिका** नामक कृति के चार हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार इसकी प्रथम हस्तलिपि का काल १९०७ सं० अर्थात् ई० १८५० सन् है, दूसरी हस्तलिखित प्रति का काल संवत् १९६० सन्), तीसरी हस्तलिखित प्रति का समय संवत् १८३० (=१७७३ ई० सन्) और तीसरी हस्तलिखित प्रति का काल १८३० ई० १७७३ सं० सन्) दिया हुआ है।[७९] आशाधरभट्ट की तृतीय कृति **अलङ्कारदीपिका** नामक स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सहित **कुवलयानन्दकारिका** के हस्तलिखित प्रति का समय शक संवत् १७७५ (=१८५३ ई० सन्) लिखा हुआ है।[८०]

---

७८. R. G. Bhandarkar, List of Sanskrit Manuscripts, Vol. I. p. 68, Bombay, 1823

७९. कालिकाप्रसाद शुक्ल, प्रस्तावना भाग, आशाधरभट्ट कृत त्रिवेणिका, १९५७

८०. बटुकनाथ शर्मा : प्रस्तावना भाग, आशाधरभट्ट कृत त्रिवेणिका १९२५

इन उपर्युक्त सभी तथ्यों से आशाधरभट्ट का विद्वत् समाज में बहुसम्मानित होना १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में सिद्ध होता है। ग्रन्थों के इतना प्रसिद्ध होने में कम-से-कम एक शताब्दी अवश्य अपेक्षित होती है। अतएव आशाधरभट्ट के काल की परवर्ती सीमा के रूप में १८वीं शती ही युक्तियुक्त प्रतीत होती है।

२. परवर्ती काल के निर्धारण का एक प्रबल अन्तः साक्ष्य **त्रिवेणिका** में ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने और दिया है, वह है—व्यञ्जनानुयायी वैयाकरणों के मत से ग्रन्थकार की अनभिज्ञता।

आशाधरभट्ट ने अपनी महनीय कृति त्रिवेणिका में **शक्तिरेव शब्दवृत्तिः** मत विशेष वाले कौण्डभट्ट प्रभृति वैयाकरणों के मत का उपस्थापन करके उत्तरपक्ष अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति की अनिवार्यता रूप पक्ष की सद्भावना को निरूपित करने के मन्तव्य से लिखा है—

अत्र वैयाकरणाः—शक्तिरेव शब्दवृत्तिः तस्याश्च प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिभ्यां शक्तिलक्षणा व्यपदेशः व्यञ्जना तु तत्रान्तर्भवति, तन्न, स्वीकारात् सकृदुच्चरित शब्दः सकृदर्थं गमयति इति न्यायाद्वाक्यार्थान्तर व्यङ्ग्यार्थे शक्तेरप्रवृत्तेः।[८१]

इस प्रकार यहाँ आशाधरभट्ट ने वैयाकरणों के जिस मत का खण्डन किया है, वह तो कौण्डभट्ट प्रभृति वैयाकरणों का मत है; परन्तु विशेष तथ्य यह है कि कालान्तर में वैयाकरणों की परम्परा में ही नागेश भट्ट ऐसे वैयाकरण हुए हैं, जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में व्यञ्जना को स्वीकार किया। उनकी विश्रुत कृति **परमलघुमञ्जूषा** में इसकी पुष्टि उनके स्वयं की उक्ति से ही सत्यापित हो जाती है—

अतएव निपातानाम् द्योतकत्वं स्फोटस्य व्यङ्ग्यता च हर्यादिभिरुक्ता। द्योतकत्वञ्च स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठशक्तिव्यञ्जकत्वमिति। वैयाकरणनामप्येतत् स्वीकार आवश्यकः।[८२]

नागोजी या नागेश भट्ट के अनुसार निपातों का द्योतकत्व तथा स्फोट का व्यङ्ग्यत्व स्वीकार करने वाले पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने भी अस्पष्ट रूप से 'व्यञ्जना' मानी है—वैयाकरणों के लिए व्यञ्जना मानना अत्यावश्यक है—इसके बिना उनका काम चलना कठिन हो जायेगा; परन्तु आशाधरभट्ट को इस नागेश या नागोजी के सिद्धान्त का कुछ भी ज्ञान न था। यदि ऐसा होता तो

---

८१. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, व्यञ्जनाप्रकरण, पृ० ३६, ३७, १९५७

८२. नागेशभट्ट : परमलघुमञ्जूषा, शक्तिनिर्णयः

सिद्ध-साधन से क्या लाभ था ? नागेश का काल भी १७वीं शती का अन्त एवं १८वीं शती का प्रारम्भ माना गया है ।[८३]

इस ऊहापोह से यदि निर्विवाद सिद्ध होता है कि आशाधरभट्ट का स्थिति-काल, कौण्डभट्ट और नागेशभट्ट के मध्य का ही था। कौण्डभट्ट का समय १७वीं शती का मध्य काल है, जबकि नागेशभट्ट का १८वीं शती का पूर्वार्द्ध माना गया है।

आश्चर्य की बात है कि डा० सुशील कुमार डे, पं० वटुकनाथ शर्मा एवं आचार्य कालिकाप्रसाद तीनों विद्वान् आशाधरभट्ट को नागेशभट्ट का पूर्ववर्ती मानते हैं, पर ये सभी आशाधरभट्ट को १८वीं शताब्दी से उत्तरार्द्ध का ठहराते हैं जबकि ये लोग स्वयं नागेशभट्ट का काल ईसा की १७वीं शताब्दी का अन्तिम (=१६७०) से १८वीं शताब्दी के मध्य (१७५० ए० डी०) तक निश्चित लरते हैं। ऐसी स्थिति में आशाधरभट्ट का समय नागेश के काल से पूर्व १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (१६५० से १७०० ई०) के मध्य का ही ठहरता है, जिसकी पुष्टि प्रो० पी० वी० काणे के 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स' नामक ग्रन्थ से भी होती है।[८४]

ग. आशाधरभट्ट की कृतियाँ

आशाधरभट्ट के उपलब्ध एवं अनुपलब्ध—दोनों प्रकार के ग्रन्थों की संख्या छः है, जिनके नाम वर्णानुक्रम से निम्नलिखित हैं—

१. **अद्वैत विवेक**
२. **कुवलयानन्दकारिका** (**अलङ्कारदीपिका** नामक **स्वोपज्ञ** टीका से संवलित)
३. **कोविदानन्द** (**कादम्बिनी** नामक **स्वोपज्ञ** टीका से सम्वलित)
४. **त्रिवेणिका** .
५. **प्रभापटल**
६. किरातार्जुनीयम् की मल्लिनाथीय टीका पर प्रटीका ।[८५]

---

८३. के० पी० त्रिवेदी : प्रस्तावना भाग, वैयाकरणभूषणसार, पृ० १६, बम्बई, १६१५
Dr. Kane (P.V.) : History of Sanskrit Poetics, p. 405, 1961

८४. Index of Authors and Works on Sanskrit Poetics .
"Āśādhara son of Ramji Bhatta and pupil of Dharnidhara between 1650-1700 A.D.

८५. यह ग्रन्थ मात्र वी० राघवन् के न्यूकैटलागस कैटलागोरम में उल्लिखित है, तथा अब प्राप्त नहीं है।

(क) **आलङ्कारिक ग्रन्थ**—इस परम्परा में भट्ट जी के तीन ग्रन्थों का परिगणन किया जा सकता है। इन तीनों को काल क्रम से निम्न क्रम दे सकते हैं—

१. **कोविदानन्द**

२. **त्रिवेणिका**

३. **कुवलयानन्दकारिका**

(ख) उपर्युक्त इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त दो अन्य ग्रन्थ हैं—

१. **अद्वैत विवेक (दर्शनपरक ग्रन्थ)**

२. **प्रभापटल (तन्त्रपरक ग्रन्थ)**

१. **कोविदानन्द**—

आशाधरभट्ट रचित साहित्यशास्त्रीय प्रथम कृति **कोविदानन्द** है। इसकी पूर्ववर्तिता इस बात से भी प्रमाणित हो जाती है कि भट्ट जी ने अन्य दोनों **त्रिवेणिका** एवं **कुवलयानन्दकारिका** नामक कृतियों में अनेकत्र इसका नामतः उल्लेख किया है—

प्रणम्य पार्वतीपुत्रं कोविदानन्दकारिणा।
आशाधरेण क्रियते पुनर्वृत्ति विवेचना।।

इन संकेतों के अतिरिक्त **कोविदानन्द** का अन्यान्य सिद्धान्तों के विवेचन-प्रसङ्ग में भी **त्रिवेणिका** में उल्लेख मिलता है, जिसका निरूपण **कोविदानन्द** के विवेचन के अवसर पर किया जायेगा।

त्रिवेणिका के अतिरिक्त **कुवलयानन्दकारिका** में भी **कोविदानन्द** का संकेत भट्ट जी ने रूपकालङ्कार विवेचन-प्रसङ्ग में किया है—

लक्षणाप्रपञ्चस्तु मत्कृते कोविदानन्दे द्रष्टव्यः।[८६]

इस तरह **कोविदानन्द** नामक कृति की अन्य कृतियों से पूर्ववर्तिता सिद्ध हो जाती है। **कोविदानन्द** भट्ट जी का महनीय ग्रन्थ है। इसका विवेच्य-विषय शब्द-शक्तियों का निरूपण है। इसमें अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना की युक्तियुक्त पूर्वक स्वतन्त्र सद्भावना का निरूपण किया गया है।

प्रकाशन :

मूलतः यह ग्रन्थ पद्यात्मक है। इस ग्रन्थ का सर्व प्रथम प्रकाशन आचार्य **कालिकाप्रसादशुक्ल**[८७] ने संवत् २०१८ फाल्गुन पूर्णिमा को किया है। यह ग्रन्थ

---

८६. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, लक्ष्यलक्षणप्रकरण, का० १५, दीपिका भाग।

८७. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, सम्पादित कालिकाप्रसाद शुक्ल, सरस्वतीसुषमा। फाल्गुन पूर्णिमा, सं० २०१८, वि० सं० १९५१।

स्वोपज्ञ 'कादम्बिनी' नामक टीका से संवलित भी है। यह ग्रन्थ प्रकप्रणत्रय में निबद्ध है। वे हैं :—

१. **अभिधा निरूपण**
२. **लक्षणा निरूपण**
३. **व्यञ्जना निरूपण**

अभिधा निरूपण में ५१, **लक्षणानिरूपण** में ३२ और **व्यञ्जनानिरूपण** में कुल ४२ कारिकाएं हैं। इस तरह **कोविदानन्द** में कुल मिलाकर १२५ कारिकाएं हैं।

अभिधानिरूपण नामक प्रथम प्रकरण का प्रारम्भ ग्रन्थकार ने नमस्कारात्मक मङ्गल पद्य से किया है—

त्रिनयनलसत्पञ्चास्यश्रीः षडाननन्दनः
सततमहिमा सप्तर्ष्याद्यैः कृतस्तुतितोषितः।[८८]
जयति जगतां व्याकुर्वाणोऽजयाकृतिनामनी
पुनरपिदधत् कण्ठेकालः स कालकलोज्झितः॥[८९]

लक्षणानिरूपण नामक द्वितीय प्रकरण का प्रारम्भ **लक्षणा** नामक शब्द की द्वितीय वृत्ति की परिभाषा से किया गया है—

शक्यार्थबाधे संकोचः प्रसारः प्लुतिरेव वा।
संकेतस्य स्मृतावृत्तिर्लक्षणा योगसम्भवे॥[९०]

अन्तिम एवं तीसरे व्यञ्जना निरूपण नामक प्रकरण का प्रारम्भ लक्षणा प्रकरण की परम्परा से ग्रन्थकार ने **व्यञ्जना** नामक वृत्ति की परिभाषा से ही किया है—

संकेतशक्यसम्बन्धविभिन्नसहकारिणी।
वाच्यलक्ष्यातिरिक्तार्थधीर्हेतुर्वृत्तिरञ्जना॥[९१]

इसी प्रकार से **कोविदानन्द** नामक ग्रन्थ की ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने **कादम्बिनी** नामक टीका का प्रारम्भ भी शिव-पार्वती-स्तुतिपरक एक मङ्गल पद्य से किया है—

प्रणम्य शङ्करं साम्बं कोविदानन्दनामकम्।
ग्रन्थं व्याख्यामि सङ्क्षेपात् स्वकृतं बोधसिद्धये॥

---

८८. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, पद्य १-२।
८९. वही
९०. वही : का० १. लक्षणानिरूपण।
९१. वही : का० १. व्यञ्जनानिरूपण।

टीका की भाषा सरल एवं सुग्राह्य है, जिसकी पुष्टि स्वयं भट्ट जी ने पद्य में **बोध सिद्धये** पद से की है।

आशाधरभट्ट ने **कादम्बिनी** नामक टीका में अन्यान्य महनीय कृतियों को एवं अन्यान्य विद्वानों को नामतः उल्लिखित किया है। वे हैं—**वृत्तिवार्तिक, निरुक्त; कुमारसम्भव, विश्वकोश, अष्टाध्यायी, शिशुपालबध, प्रातिशाख्य, कुवलयानन्द, वाक्यपदीय, महाभाष्य, शिवतत्त्वविवेक, कालिकापुराण, अभिधानचिन्तामणि और छान्दोग्योपनिषद् तथा पाणिनि, व्यास, वामन एवं माघ।**

निष्कर्षतः यह कहना युक्तिसङ्गत है कि 'कोविदानन्द' आशाधरभट्ट की **शब्दशक्तिविषयक** एक महनीय कृति है, जिसमें गम्भीरतम विषयों को सरलतम रूप से व्याख्यायित करना ही ग्रन्थकार को अभीष्ट रहा है।

कोविदानन्द की उपादेयता उसके विवेच्य-विषयों के आधार पर वैयाकरणों, नैयायिकों, मीमांसकों एवं आलङ्कारिकों को समान रूप से है।

२. त्रिवेणिका—

आशाधरभट्ट की शब्दशक्तिविषयक दूसरी कृति का नाम **त्रिवेणिका है** इसका प्रकाशन **कोविदानन्द** के ३२ वर्ष पहले सन् १९२५ में वाराणसी से प्रथमतः प्रो० बटुकनाथ शर्मा के द्वारा किया गया। अब तक इसके तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। यह कृति **कोविदानन्द** की अपेक्षा पूर्वचर्चित हो चुकी है। इस कृति का विवेच्य-विषय तो शब्द-शक्तियाँ ही हैं, परन्तु निरूपण शैली अपेक्षाकृत परिमार्जित एवं सुनियोजित है। यह गद्यमयी रचना है, तथावि इसमें **कोविदानन्द** को अनेकत्र उदाहृत किया गया है। अनेकानेक विषयों की सम्यक् परीक्षा दोनों के एक साथ अध्ययन करने पर ही सम्भव हो पाती है। फलतः दोनों एक-बूसरे के पूरक हैं। एक ही विषय को लेकर दो ग्रन्थ लिखने का अभिप्राय स्वतन्त्र रूप से किया जायेगा। त्रिवेणिका में भी तीन प्रकरण हैं—

१. अभिधाप्रकरण—इसका नाम **शक्तिप्रकरणम्** भी है। आचार्य कालिका-प्रसाद शुक्ल जी ने तो विवेच्य विषयानुसार इस **अभिधाप्रकरण** के दो अवान्तर भेद कर दिये हैं, जिनकी क्रमशः संज्ञाएँ **वृत्तिप्रकरणम्** और **शक्तिप्रकरणम्** हैं।

त्रिवेणिका में विषय प्रस्तुतीकरण एवं प्रतिकूल मतों का उपस्थापन गम्भीर परन्तु सुग्राह्य है, जिसमें ग्रन्थकार का वैदुष्य पदे-पदे झलकता है यहाँ अभिधा को गङ्गा, लक्षणा को यमुना एवं व्यञ्जना को अन्तः सलिला सरस्वती की संज्ञाओं से निरूपित करके आशाधरभट्ट ने वस्तुतः अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। ऐसे गम्भीर विषय का प्रतिपादन इतने सरल एवं व्यावहारिक उदाहरणों से करना आशाधरभट्ट की अपनी विशेषता है। नवीनता एवं मौलिकता

का सामञ्जस्य पदे-पदे सर्वत्र परिलक्षित होता है, जिसकी सम्यक् चर्चा द्वितीय अध्याय में की जायेगी।

वस्तुतः त्रिवेणिका के तीन प्रकरण हैं, परन्तु आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल के संस्करणानुसार **वृत्तिप्रकरणम्** को अलग नाम देने से निम्नतः विभाग बनेंगे—

१. **वृत्तिप्रकरणम्**
२. **शक्तिप्रकरणम्**
३. **लक्षणाप्रकरणम्**
४ **व्यञ्जनाप्रकरणम्**

त्रिवेणिका की रचना का मुख्य आधार वृत्तियों की सम्यक् विवेचना ही है, जिसकी सूचना भट्ट जी देते हुए लिखते हैं—

प्रणम्य पार्वतीपुत्रं कोविदानन्दकारिणा ।
आशाधरेण क्रियते पुनर्वृत्तिविवेचना ।।[६२]

वृत्तिप्रकरणम् का प्रारम्भ ग्रन्थकार ने वृत्तिसामान्य की परिभाषा से किया जो आशाधरभट्ट का मौलिक प्रयास है—

वर्तते – शब्दोऽर्थे प्रवर्तते अनयेति वृत्तिः । इसी प्रकार **शक्तिप्रकरणम्** को शक्ति की परिभाषा करते हुए—**वृत्तित्रयमध्ये संकेतसहकारिणीशक्ति** से प्रारम्भ किया है। इसी परम्परा से क्रमशः **शक्यसम्बन्धसहकारिणी वृत्तिर्लक्षणा**[६३] द्वारा **लक्षणाप्रकरणम्** को एवं शक्यलक्ष्यार्थातिरिक्तार्थबोधिका वृत्तिर्व्यञ्जना कहकर **व्यञ्जनाप्रकरणम्** का प्रारम्भ किया है।

त्रिवेणिका का विवेच्य विषय शास्त्रीय परम्परा से प्रतिष्ठापित हुआ है, क्योंकि ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने विषयानुरूप १८ प्रमुख ग्रन्थों को उद्धृत करके अपने मन्तव्य को प्रामाणिक भी वना दिया है। वे हैं—

१. **अमरकोशः**
२. **काव्यप्रदीपः**
३. **काव्यप्रकाशः**
४. **कोविदानन्दः**
५. **निरुक्तम्**
६. **नैषधीयचरितम्**
७. **प्रातिशाख्यम्**

---

६२. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, कादम्बिनी टीका का मङ्गलपद्य
६३. ,, : त्रिवेणिका, मङ्गलकारिका।

८. भागवत सुबोधिनी
९. महाभारतम्
१०. मार्कण्डेयपुराणम्
११. रसप्रदीपः
१२. लिङ्गपुराणम्
१३. वृत्तिवार्त्तिकः
१४. साहित्यदर्पणः
१५. वैयाकरणभूषणसारः
१६. सिद्धान्तकौमुदी
१७. हेमकोशः
१८. अद्वैतविवेकः

इनके अतिरिक्त भट्ट जी ने प्रसङ्गानुकूल लब्धप्रसिद्ध वैयाकरणों, आलङ्कारिकों और टीकाकारों को भी नामतः उल्लिखित किया है—

१. अमरसिंहः
२. पतञ्जलिः
३. मल्लिनाथः
४ वामनः
५. शङ्करस्वामी
६. श्रीधरः इत्यादि ।

त्रिवेणिका ही एक ऐसी कृति है जिसमें भट्ट जी के चार ग्रन्थों का उल्लेख मिल जाता है। इसकी छः हस्तलिखित प्रतियों की सूचना आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल[६४] ने दिया है, जो इसकी गौरव एवं प्रसिद्धि की परिचायक है।

३. कुवलयानन्दकारिका—

आशाधरभट्ट की आलङ्कारिक कृतियों में यह तृतीय कृति है। आचार्य अप्पयदीक्षित की प्रसिद्ध कृति 'कुवलयानन्द' ही इसका आधार है, जिसकी सूचना हमें इसके नाम से भी होती है। यह भी प्रकाशित ग्रन्थ है। अन्यान्य प्रकाशित संस्करणों में से निर्णय सागर प्रेस, बम्बई का प्रकाशन ही प्रायः उपलब्ध होता है।[६५] यह १९२७ में प्रकाशित हुई। आशाधरभट्ट की अन्यान्य कृतियों—**कोविदानन्द** एवं **त्रिवेणिका** का उद्धरणतः या नामतः उल्लेख किसी अन्य परवर्ती विद्वान् ने नहीं किया है, जबकि **कुवलयानन्दकारिका** ग्रन्थ पर लिखी गई **अलङ्कारदीपिका** नामक कृति का उल्लेख साहित्यादि अनेक शास्त्रों के मनीषी श्री वामन **झलकीकर**

---

६३. आशाधरभटट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरण

६५. वही प्रस्तावना भाग, सम्पादक का० प्र० शुक्ल : १९५७

ने भी किया है, जिससे **अलङ्कारदीपिका** की प्रौढ़ता एवं लोकप्रियता ही द्योतित होती है—

कुवलयानन्दकारिकाव्याख्यायामाशाधरभट्टस्तु रूपवत्करोतीति रूपयतीति (वा) रूपको लक्षणाविशेषः रूपयुक्तं करोतीत्यर्थः। सोऽस्मिन्नस्तीति रूपकमलङ्कारः इत्याहुः।[९६]

यह ग्रन्थ तीन प्रकरणों में पूर्ण है। वे हैं—

(क) **लक्ष्यलक्षणप्रकरणम्**

(ख) **उद्दिष्टालङ्कारप्रकरणम्**

(ग) **परिशेषालङ्कारप्रकरणम्।**

पहले प्रकरण में कुवलयानन्द में लिखित कारिकाओं की सरल व्याख्या है। दूसरे प्रकरण को **उद्दिष्टालङ्कार प्रकरणम्** अभिधान से अभिहित किया गया है। इस प्रकरण की नवीनतम एवं मौलिकता ग्रन्थकार आशाधरभट्ट के सन्दर्भ में यही है कि अप्पयदीक्षित ने **रसवत् प्रेय** आदि जिन १५ अलङ्कारों के केवल नाम गिनाये हैं, उन पर आशाधरभट्ट ने तदनुरूप ही कारिकाएँ लिखी हैं। प्रमाण के लिए इस प्रकरण के अन्त में कारिकाकार आशाधरभट्ट ने स्वयं लिखा है—**इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीण रामजीभट्टात्मजाशाधरभट्टकृतमुद्दिष्टनामकं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्।**

इसी परम्परा को अपनाते हुए द्वितीय प्रकरण की परिसमाप्ति पर ग्रन्थकार ने लिखा है—**इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीणरामजीभट्टात्मजाशाधरभट्ट विरचितायां कुवलयानन्दकारिकाव्याख्यायामलङ्कारदीपिकासमाख्यम् उद्दिष्टालङ्कारनामकं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्।**[९७]

तीसरा प्रकरण परिशेष प्रकरण हैं। इसमें **संसृष्टि** तथा **सङ्कर अलङ्कार** के पाँच प्रकार के भेद निरूपित किये गये हैं। दूसरे प्रकरण के समान ही इस प्रकरण की भी समग्र कारिकाएँ आशाधरभट्ट की अपनी स्वयं की रचना है; क्योंकि इसके अन्त में भी—

इतिश्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीणरामजीभट्टात्मजाशाधरभट्टविरचितं तृतीयं परिशेषप्रकरणं समाप्तम्।[९८] लिखा है।

---

९६. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, वासुदेव शर्मा द्वारा सम्पादित, सा० प्रे० बम्बई, १९२७।

९७. मम्मट : काव्यप्रकाश, उ० १०, व्याख्या भाग, पृ० ५८३, वामन झलकीकर संस्करण।

९८. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्द कारिका : उद्दिष्टालङ्कारप्रकरण, पृ० ९४

आशाधरभट्ट की इस कृति की परम विशिष्टता इस तथ्य में है कि इसमें सर्वाधिक अलङ्कारों का वर्णन एवं उल्लेख है जो संख्या में १२५ हैं।

आशाधरभट्ट ने अपनी टीका का नाम अलङ्कारदीपिका एवं अप्पयदीक्षित के **कुवलयानन्द** पर आधारित **उद्दिष्टालङ्कार** एवं **परिशेषालङ्कार** परम्परा वाले अलङ्कारों के लिए तदनुरूप कारिकाओं की रचना करने के आधार पर, अपने ग्रन्थ को **कुवलयानन्दकारिका** अभिधान से अभिहित किया है, जिसकी सूचना हमें **कुवलयानन्दकारिका** के मङ्गल श्लोक से प्राप्त होती है—

शिवयोस्तरयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम्।
कुर्वे कुवलयानन्दकारिका दीपिकां मुदे॥
आशाधरेण कविना, रामजीभट्टसूनुना।
क्रियते कारिका टीका, बालानामुपकारिणी॥[९९]

इस सन्दर्भ में विस्तृत विवेचन स्वतन्त्र प्रकरण में दिया जायेगा।

प्रो० राघवन् ने आशाधरभट्ट की कृतियों के उल्लेख की परम्परा में यह संकेत दिया है कि आशाधरभट्ट ने भारविकृत **किरातार्जुनीयम्** पर मल्लिनाथीय घण्टापथ नाम की टीका पर एक प्रटीका भी लिखी है। प्रो० राघवन् ने इसके विश्वभारती १५१८ से प्रकाशित होने की सूचना दी है।[१००]

इस आशाधरभट्ट कृत प्रटीका का अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। मैंने प्रो० राघवन् एवं उनके उल्लिखित प्रकाशन स्थल विश्वभारती १५१८ को भी कई पत्र लिखे, परन्तु कुछ भी संकेत नहीं मिला। अतएव आशाधरभट्ट की उपर्युक्त प्रटीका विषयक जानकारी न दे सकने में मैं, अपनी सखेद अनभिज्ञता ही प्रकट करता हूं।

१. **अद्वैतविवेक**—

आशाधरभट्ट की **अद्वैतविवेक** नामक यह कृति दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित प्रतीत होती है। यह कहीं से भी उपलब्ध नहीं हो पाई। आशाधरभट्ट ने अपनी कृति त्रिवेणिका में इसका नामोल्लेख मात्र किया है और जिसका एक पद्य भी उद्धृत किया है—

मत्कृतेऽद्वैतविवेके च—
मृगाङ्कत्वेऽपि न मृगी शशाङ्कत्वाच्छशीति तु।
चन्द्रमाः कथितस्तत्र रूढेरन्यत्र कारणम्।[१०१]

---

९९. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्द कारिका परिशेष प्रकरण, पुष्पिका
१००. वही ,, मङ्गलश्लोक, १-२
१०१. वी० राघवन् : न्यू कैटलागस कैटलागोरम, पृ० १९३, द्वितीय भाग, १९६६

आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल के अनुसार यह ग्रन्थ सम्भवतः आशाधरभट्ट का नहीं है।[१०२] उनका तर्क है कि त्रिवेणिका की अन्यान्य हस्तलिखित प्रतियों में से एक में **मत्** पद का प्रयोग भी नहीं है। **अद्वैतविवेक** ग्रन्थ की उपलब्धि तो आचार्य शुक्ल जी को हुई, परन्तु आशाधरभट्ट की कृति न होने के पक्ष में उनका तर्क है कि **त्रिवेणिकोद्धृत** श्लोक भी उसमें सप्रयास देखने से भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ।[१०३]

यह कृति आज तक अप्रकाशित एवं अनुपलब्ध है।

२. प्रभापटल—

अद्वैतविवेक की तरह यह ग्रन्थ भी **त्रिवेणिका** की समाप्ति पर नामत. एवं उद्धरणतः उल्लिखित ही है। आशाधरभट्ट ने प्रभापटल से दो पद्यों को उद्धृत करने की उपादेयता को द्योतित करते हुए लिखा है—

प्रभापटले निबद्धमिदं हरिणीद्वयं तापापनोदाय त्रिवेणिकान्ते विन्यस्तम्।
यथा रघुवंशस्थाः श्लोकाः स्वकृतत्वात् कुमारसम्भवे विन्यस्ताः।[१०४]

ग्रन्थकार आशाधरभट्ट का भाव यही है कि जिस प्रकार रघुवंश के श्लोकों को **कुमारसम्भव** के अन्त में कविकुलगुरु कालिदास ने इसीलिए ही लिखा था कि **रघुवंश** एवं **कुमारसम्भव** दोनों के रचयिता एक ही थे, उसी प्रकार मैं (आशाधरभट्ट) ने हरिणी छन्द में निबद्ध अपनी कृति **प्रभापटल** के दो पद्यों को इस अन्यतम कृति **त्रिवेणिका** के अन्त में लिख दिया है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि आशाधरभट्ट यदि एक ओर कवि और समीक्षक थे तो दूसरी ओर वे अपनी प्रत्येक मान्यता एवं प्रक्रिया की उपादेयता एवं सार्थकता को भी स्पष्ट कर देना अपना कर्तव्य मानते थे।

इस ग्रन्थ के हरिणी छन्दोबद्ध दोनों निम्न पद्य निम्न रूप से दिये गये हैं—
प्रथम पद्य—

यदिह लिखतामव्युत्पत्त्या पतेल्लघुदूषणं
निपुणधिषणैरुज्झित्वा तत्कृतिर्मम सेव्यताम्।
सरसि विमले वातक्षिप्तं निवार्यतु शैवलं
सलिलममृतप्रायं प्रायः पिबन्ति पिपासव॥[१०५]

---

१०२. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० ११, १९२५

१०३. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, प्रस्तावना भाग, पृ० २४, १९२५, सम्पादक कालिकाप्रसाद शुक्ल, वाराणसी, १९५७

१०४. वही त्रिवेणिका, व्यञ्जनाप्रकरण, उपसंहार पृ० १, पृ० ३८, १९५८, वाराणसी।

१०५. वही

द्वितीय पद्य—

> **यदि मम सरस्वत्याङ्कुश्चित्कथञ्चन दूषणं**
> **प्रलपति, ततः प्रौढं प्रज्ञैः स किं कविभिः समः ।**
> **रघुपति कुटुम्बिन्यां सत्यामवद्यमुदाहरन्**
> **हतक रजकः साम्यं लेभे स किं सह राजभिः ॥**[१०६]

आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल ने आशाधरभट्ट की कृतियों के आधार पर ही ग्रन्थकार की प्रशंसा करते हुए अपना मत निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

> **अत्यन्तार्वाचीनभारतीयसंस्कृतसाहित्यलेखकेषु यत् स्थानं नागेशभट्टस्य तदेव स्थानं प्रकृतग्रन्थकर्तुरपि विद्यत इति नास्ति मतद्वयस्यावकाशः । यथा नागेशभट्टेन विविधविषयानधिकृत्य भूयांसो निबन्धा निबद्धाः तथा आशाधरेणापि ।**[१०७]

संक्षेप में आचार्य आशाधरभट्ट की कृतियों का विवरण निम्नलिखित है—

(क) **साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ :**

(१) **कोविदानन्दः**
(२) **त्रिवेणिका**
(३) **कुवलयानन्दकारिका**

(ख) **त्रिवेणिकोद्धृतः अनुपलभ्यमान एवं अप्रकाशितग्रन्थः**

(१) **अद्वैतविवेक**

(ग) **प्रो० राघवन् द्वारा उल्लिखितः**

किरातार्जुनीयम् पर मल्लिनाथीय घण्टा नाम्नी टीका पर आशाधरभट्ट द्वारा लिखित प्रटीका स्वरूप ।

---

१०६. आशाधरभट्ट : वही, उपसंहार पद्य २

१०७. आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल (सम्पादक), त्रिवेणिका प्रस्तावना भाग, पृ० २५, २६, १९५७ ।

द्वितीय अध्याय

आशाधरभट्ट की कृतियाँ

१. पाण्डुलिपियाँ

आशाधरभट्ट कृत शब्दशक्तिविषयक ग्रन्थ **कोविदानन्द** का पाण्डुलिपि के विषय में **कैटलागस कैटलागोरम** सर्वथा मौन है तथा मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'न्यू कैटलागस कैटलागोरम' में भी इसकी कोई चर्चा नहीं है। वहाँ केवल आशाधरभट्ट कृत **त्रिवेणिका** में इसके उल्लिखित होने का संकेत मात्र किया गया है।[1]

कोविदानन्द की एक पाण्डुलिपि की सूचना हमें 'कर्नाटक पब्लिशिंग हाऊस बाम्बे' से प्रकाशित 'न्यू इण्डियन एन्टीक्वेरी' नामक शोध पत्रिका के १९४०-४१ वर्ष के तृतीय अंक में छपे श्री एन० वी० एथेले के **कोविदानन्द विद कादम्बिनी ऑफ आशाधर** नामक शोध-पत्र से प्राप्त होती है। तदनुसार उज्जैन के 'प्राच्य हस्तलेख पुस्तकालय' नामक संस्था के द्वारा गृहीत हस्तलेखों में 'कोविदानन्द' की पाण्डुलिपि विद्यमान है, जो १०×१½ आकार के षोडश पत्रों में है। हस्तलेख सुपाठ्य अक्षरों में है तथा प्रतिपृष्ठ के मध्य मूलग्रन्थ तथा दोनों ओर स्वोपज्ञ **कादम्बिनी** टीका लिखी है। टीका की शब्दावली सरल एवं सुबोध है। ग्रन्थ काली स्याही में लिखा गया है तथा श्लोकों की संख्या एवं पुष्पिकाएं लाल स्याही में अंकित हैं। इसमें पाण्डुलिपि के कर्ता का नाम **रामकृष्ण, कदम्ब** दिया गया है तथा इसका लिपिकाल शक सं० १७३२, कार्तिक शुक्ल पञ्चमी मङ्गलवार दिया गया है, जो खिष्टीय सन् २२ अक्टूबर १८११ पड़ता है। यह पाण्डुलिपि अच्छी स्थिति में है। निबन्धकार श्री एन० ए० एथेले की धारणा है कि यह ग्रन्थ निबन्ध लिखे जाने तक

---

1. Raghvan (V) : New Catalogus Catalogorum. V. II. p. 193, 1966 & V. IV. page 96, 1969

प्रकाशित नहीं हो सका था ।[२]

कोविदानन्द की एक अन्य पाण्डुलिपि की सूचना आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल ने आशाधरभट्ट कृत **त्रिवेणिका** की प्रस्तावना में दी है । तदनुसार **कोविदानन्द** की एक पाण्डुलिपि "महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय प्राच्य विद्या मन्दिर बडौदा" के व्याकरण विभाग में समीचीन अवस्था में सुरक्षित है । इस पाण्डुलिपि में २८ पत्र हैं । १९५७ ई० तक इसका प्रकाशन नहीं हो सका था । सन् १९६३ ई० में स्वयं आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल ने कोविदानन्द का सम्पादन किया ।

कोविदानन्द की पाण्डुलिपियों के सन्दर्भ में इतनी ही जानकारी प्राप्त हो सकी है ।

२. प्रकाशन

कोविदानन्द अलङ्कारशास्त्र पर आशाधरभट्ट की प्रथम कृति है; क्योंकि इसका उल्लेख इनकी अलङ्कारशास्त्रीय दोनों कृतियों **त्रिवेणिका** एवं **कुवलयानन्द-कारिका** में उपलब्ध होता है ।

इसके प्रकाशन के दो रूप मिलते हैं । वे हैं—खण्डश. तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में ।

कलकता से प्रकाशित **संस्कृत-साहित्य-परिषद्** पत्रिका के छठे संस्करण के प्रथम अंक के २५वें पृष्ठ पर सन् १९३० के अंक में 'कादम्बिनी' सहित **कोविदानन्द** का खण्डशः प्रकाशन हुआ जो क्रमशः अग्रिम अंकों में ग्रन्थ की परि-समाप्ति तक होता रहा ।[3] पूर्ण ग्रन्थ के रूप के **कोविदानन्द** के प्रकाशन दो स्थानों से हुए । वे हैं—

क. आचार्य शुक्ल द्वारा सम्पादित संस्करण—

व्याकरणशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल ने प्रकृत ग्रन्थ को वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की **सारस्वती सुषुमा पत्रिका के लघु ग्रन्थरत्नप्रभावली** संख्या १६ के रूप में फाल्गुन पूर्णिमा संवत् २००८ में आरम्भ के तीन पृष्ठों की भूमिका तथा अन्त में अर्द्धश्लोकानुक्रमणी के साथ प्रकाशित किया, जिसे स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप दे दिया गया है । इस संस्करण की अपनी विशेषता विषयानुक्रमणिका एवं परिशिष्ट के अत्यधिक व्यवस्थित होने में है ।

---

2. Indian Antiquary. Vol. VI. p. 110.
   Article : Āśādhara's Kovidānanda with Kādambinī, Caranatak Publishing House, Bombay.

३. वही

इसमें विद्वान् सम्पादक ने ग्रन्थ के विषय-वैविध्य को बड़ी ही उतम ढंग से व्यवस्थित कर दिया है, जिसके अध्ययन से ही गन्थ के प्रतिपाद्य विषय का सहज परिचय मिल जाता है ।

सन् १९६३ में श्री शुक्ल द्वारा सम्पादित **कोविदानन्द** के प्रथम संस्करण के १५ वर्षों के अनन्तर डा० **ब्रह्ममित्र अवस्थी** ने **इन्दुप्रकाशन** से इसका दूसरा संस्करण हिन्दी व्याख्या **दीपिका** के साथ प्रकाशित किया । यह हिन्दी अनुवादात्मक संस्करण मूलतः **वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय** के पाठ को ही यथावत् ग्रहण कर प्रकाशित किया गया है ।

अवस्थी जी को ग्रन्थ की कोई अन्य पाण्डुलिपि प्राप्त न थी, अपितु वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के आचार्य शुक्ल द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ के मूल को यथावत् ग्रहण कर हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया है । अनुवाद केवल कारिकाओं का ही दिया गया है, टीका का नहीं । कहीं-कहीं यह अनुवाद व्याख्या का रूप धारण कर लेता है, जो मूलग्रन्थ के अभिप्राय को खोलने को अपेक्षा अनेक भ्रान्तियाँ पैदा करता है । जिन उपादानों को लेकर **कोविदानन्द** ग्रन्थ की रचना हुई है उसका सम्यक् रूप से ऊहापोह किये बिना इसके अभिप्राय की प्रतीति सम्भव नहीं ।

३. नामकरण

आशाधरभट्ट की प्रथम कृति **कोविदानन्द** है जिसका उल्लेख भट्ट जी ने कृति के मङ्गलपद्य में स्पष्ट रूप से किया है—

प्राचां वाचां विचारेण शब्दव्यापारनिर्णयम् ।
करोमि कोविदानन्दं लक्ष्यलक्षणलक्षितम् ।।[४]

उपर्युक्त कारिका में यही स्पष्ट किया गया है कि ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने अपने पूर्ववर्ती सभी आलङ्कारिकों के सिद्धान्तों की सम्यक् परीक्षा के अनन्तर ही अपनी कृति का प्रणयन किया है; जिसकी पुष्टि आचार्य ने **प्राचां वाचां विचारेण** वाक्यांश से की है । ग्रन्थ में ग्रन्थकार का कोई दुराग्रह या पूर्वाग्रह न होने से यह विद्वानों को ग्राह्य होगा । सम्भवतः इसी भावना से इसका नाम **कोविदानन्द** रखा गया है । **कोविदानन्द** एक समस्त पद है जिसका विग्रह **कोविदानाम् आनन्दः इति कोविदानन्दः** किया जा सकता है ।

इसी भाव की पुष्टि, उपर्युक्त मङ्गल पद्य को व्याख्यायित करते समय ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने स्वोपज्ञ कादम्बिनी टीका में भी की है ।

---

४. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २ ।

प्राचामिति। प्राचां =वृतिवार्तिककाराणाम्, लक्ष्यलक्षणलक्षितम् लक्ष्याणि =उदाहरणानि लक्षणानि—स्वरूपकथनानि, तैर्लक्षितं संयुक्तमित्यर्थः।[५]

कोविदानन्द नामक कृति की रचना आशाधरभट्ट ने शिष्यों के आग्रह से की, जिसकी पुष्टि ग्रन्थकार ने टीका में की है—

अथात्र शब्दव्यापारसंशयनिवृत्तिकामैः शिष्यैः प्रेरित आशाधरभट्ट नामा कविः संक्षिप्तं युक्तियुक्तं कोविदानन्दाख्यं ग्रन्थं कुर्वन् शिवोत्कर्षरूपं मङ्गलमाचरति-त्रिनयनेति।[६]

अपनी प्रथम कृति का नाम **कोविदानन्द** रखने के पीछे ग्रन्थकार आशाधर-भट्ट की यह भावना रही हो सकती है कि वह शीघ्र ही विद्वानों में परिगणित होने लगें ऐसा प्रतीत होता है कि **कोबिदानन्द** की रचना के समय वे अभी अपेक्षाकृत अल्प वय के थे तथा विद्वद्वर्ग में उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई थी। अतः अपने वैदुष्य की प्रतिष्ठा के लिए ही उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की और उसका नाम **कोविदानन्द** रखा ताकि तत्कालीन विद्वद्वर्ग उनकी ओर आकृष्ट होकर उनके वैदुष्य को पहचाने।

अपनी दूसरी कृति में कोविदानन्द का उल्लेख ग्रन्थकार ने बड़े गौरव से किया है। **त्रिवेणिका** और **कोविदानन्द** का विषय एक ही है—वृत्ति विवेचन। **कोविदानन्द** नामक ग्रन्थ में वृत्तियों का विवेचन करने के अनन्तर इसी विषय पर **त्रिवेणिका** नामक ग्रन्थ की रचना से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार ने अपनी पूर्व कृति **कोविदानन्द** में दोष देखकर उनका निराकरण करते हुए दूसरी कृति की रचना अपनी बात को संक्षेप में तथा व्यवस्थित रूप में कहने के लिए की है। यही कारण है कि वे पदे-पदे यह कहते हुए पाये जाते हैं कि **'विस्तरस्तु कोविदानन्द द्रष्टव्यः'**।

४. स्वरूप एवं विवेच्य-विषय

आशाधरभट्ट कृत **कोविदानन्द** में शब्द-वृत्तियों का निरूपण किया गया है। इसकी पुष्टि प्रथम परिच्छेद की **पुष्पिका** से होती है; जिसमें लिखा है।

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीणरामजिभट्टस्तदात्मजाशाधरभट्टविरचिते कोविदानन्दे वृत्तिनिर्णयेऽभिधापरिच्छेदः प्रथमः।[७]

इसमें प्रयुक्त वृत्ति निर्णय पद से स्पष्ट है कि **कोविदानन्द** की रचना वृत्तियों के स्वरूप का सम्यक् रूप से विवेचन करने के बिए हुई, चूंकि वृत्तियाँ तीन

---

५. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द का० २ टीका भाग।
६. वही वही मं० श्लोक टीका भाग।
७. वही : कोविदानन्द, पृ० १४

ही हैं, अतः ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द को तीन परिच्छेदों में विभक्त किया है—

प्रथम परिच्छेद का नाम **अभिधापरिच्छेदः** रखा है,
द्वितीय परिच्छेद को **भक्तिनिर्णयः** की संज्ञा दी है,
तृतीय परिच्छेद को **भक्तिनिर्णयः** कहा है ।

सम्भवतः इसी आधार पर प्रति पृष्ठ के शीर्षस्थल पर विवेच्य-विषय का परिच्छेदानुसार उल्लेख करने के लिए **अभिधानिरूपणम्**,[८] **लक्षणानिरूपणम्**,[९] **व्यञ्जनानिरूपणम्**[१०] लिखा है ।

प्रथम परिच्छेद —

कोविदानन्द का प्रारम्भ आशाधरभट्ट ने अपने **शैव** भाव के परिचयात्मक तथा ग्रन्थ की मङ्गल-समाप्ति की अभीप्सा के हेतु नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण से किया है । पूर्ण श्लोक निम्न प्रकार से है—

त्रिनयनलसत्पञ्चास्यश्रीः षडाननन्दनः
सततमहिमा सप्तर्ष्याद्यैः कृतस्तुतितोषितः ।
जयति जगतां व्याकुर्वाणोऽजयाकृतिनामनी ।
पुनरपिदधत् कण्ठेकालः स कालकलोज्झितः ॥[१०]

इससे ग्रन्थकार आशाधरभट्ट का 'शैव' होना स्वतः प्रमाणित हो जाता है ।

तदनन्तर शब्दों को **बाण** की उपमा देते हुए शक्ति के द्वारा ही अर्थ बोध कराने में समर्थ बताया गया है । इसलिए शब्दशक्ति अर्थात् वृत्तियों का निरूपण अर्थाववोध के लिए सर्वथा अनिवार्य माना है । शाब्दबोध के लिये ग्रन्थकार ने संकेत ज्ञान को हेतु माना है तथा संकेतग्रह को शब्द-व्यापार से अतिरिक्त बताया है । संकेत को ही व्यापार मानने वाले तार्किकों के मत का यथावसर **प्रत्याख्यान** भी किया गया है । संकेत के अनेक लक्षणों का प्रतिपादन करते हुए स्वयं इसका उत्कृष्ट लक्षण प्रस्तुत किया है । अनेकार्थक शब्दों में **संकेतग्रह** की समस्या का भी समाधान यहाँ किया गया है । अनेकार्थक शब्दों में एक अर्थ का नियन्त्रण किस प्रकार होता है तथा उसमें हेतु क्या होता है ? इसका भी विवेचन यहाँ दिया गया है । इसी परिच्छेद में वृत्ति सामान्य का लक्षण देते हुये इसकी सत्ता में प्रमाण प्रस्तुत किये

---

८. आशाधरभट्ट, कोविदानन्द पृ० १-१४, शीर्षस्थ भाग ।
९. वही वही ,पृ० १५-२३, २४-३१, शीर्षस्थ भाग ।
१०. वही : वही, मङ्गल श्लोक

गये हैं। वैयाकरणों एवं आलङ्कारिकों के अनुसार **वृत्तियों** के प्रकार का प्रतिपादन करते हुए, एक ही वृत्ति के तीन प्रकार होने के वैयाकरणों के मत का उल्लेख कर आलङ्कारिकों के अनुसार उनके परस्पर भिन्न होने के मत का प्रतिपादन इस आधार पर किया गया है कि **शब्द** के भी मूलतः तीन भेद होते हैं। **तात्पर्य** नामक वृत्ति का उल्लेख करते हुए इसका प्रत्याख्यान किया गया है तथा यहीं **शक्ति** अर्थात् अभिधा के तीन भेदों का सोदाहरण निरूपण भी किया गया है।

ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने द्वितीय परिच्छेद अर्थात् भक्तिनिर्णय (लक्षणा निरूपण) का प्रारम्भ **लक्षणावृत्ति** की सामान्य परिभाषा से किया है।

परिभाषानन्तर ग्रन्थकार ने बड़ी ही सूक्ष्मता से विविध तर्कपूर्ण आधारों पर तार्किकों (नैय्यायिकों) की अभीष्ट **लक्षणा** (भक्ति) की परिभाषा का प्रत्याख्यान करते हुए आलङ्कारिकों के मत का प्रतिपादन करने के लिए लक्षणा के भेद-प्रभेदों का विविध दृष्टिकोणों से सोदाहरण विवेचन किया है। इन उदाहरणों एवं भेद-प्रभेदों के वर्णन-प्रसङ्ग में आशाधरभट्ट ने कुछ ऐसी भी पंक्तियाँ लिखी हैं, जिनसे ग्रन्थकार के निवास-स्थान की भी पुष्टि हो जाती है, साथ ही साथ एक सर्वथा नवीन उदाहरण—**ऊँकारलिङ्गं रेवायाम्** का परिचय भी मिल जाता है। इसे भट्ट जी ने **गङ्गायां घोषः** के स्थान पर लक्षणा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।

परिच्छेद के अन्त में विद्वान् ग्रन्थकार ने अनेकानेक युक्तियों से लक्षणा के (सारोपा और साध्यवसाना) नामक भेदों के 'विषयों' का अत्यन्त गम्भीर विवेचन सुग्राह्या परम्परा से किया है।

ग्रन्थ का तीसरा परिच्छेद **व्यक्तिनिर्णय** है। आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल ने अपने संस्करण में इसे **व्यञ्जना निरूपण** कहा है। इसमें कुल ४२ कारिकाएँ हैं। **व्यञ्जना परिच्छेद** का प्रारम्भ भी व्यञ्जना की सामान्य परिभाषा से किया गया है। तदनन्तर अभिधा और लक्षणा नामक दोनों वृत्तियों से व्यञ्जना की विशेषताओं को सर्वथा नवीन रीति से विवेचन किया गया है। इसी प्रसङ्ग में व्यञ्जना वृत्ति के भेद-प्रभेदों का वर्णन सरल शब्दों में किया गया है। विशेषतः **शब्द शक्तिमूला** और 'अर्थ शक्तिमूला' व्यञ्जना को विविध उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है।

ग्रन्थकार आशाधरभट्ट की यह अपनी विशेषता है कि उन्होंने एक ही कारिका[११] में आर्थी व्यञ्जना वृत्ति के सहायक तत्वों को स्पष्ट कर दिया है, जिसके अनुसार देश, काल, प्रकरण, वाक्य, श्रोता, सान्निध्य एवं काकु अभिप्रेत व्यङ्ग्यार्थ

---

११. आशाधरभट्ट, कोविदानन्द : व्यञ्जना निरूपणम्, का० ५।

को यथास्थल अभिव्यञ्जित करते हैं। इसी प्रसङ्ग में इन सभी सहायक तत्वों के स्पष्टीकरणार्थ विविध प्रामाणिक उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं; जबकि शाब्दी व्यञ्जना के सहायक तत्वों के रूप में वर्ण, पद, पदांश एवं वाक्यांश विषयक उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है।

इसी परम्परा में ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने **बोद्धव्य** अर्थात् श्रोता को भी सुरुचिपूर्ण शैली व शब्दावली से **आर्थी व्यञ्जना** के व्यङ्ग्यार्थ का प्रत्यायक कहा है। तदनन्तर अभिधा का ग्रन्थकार ने शब्दशास्त्र के कुछ विद्वानों के एक वृत्ति-विषयक पूर्वपक्ष का तर्कपूर्ण स्पष्ट खण्डन करते हुये तीनों वृत्तियों के (अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना) की विशेषता का प्रामाणिक उदाहरणों से दिग्दर्शन कराया है। यहीं (अभिधा और लक्षणा नामक) दोनों ही वृत्तियों के पोषक नैय्यायिकों के विचार का ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने तर्कपूर्ण शैली में प्रत्याख्यान करके वृत्तित्रयी के सिद्धान्त का समर्थन किया है।

५. ग्रन्थगरिमा

आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द के प्रथम अभिधा नामक परिच्छेद में अपनी मौलिकता का परिचय शब्द और बाण में **उपमानोपमेय भाव** की व्यवस्था का विवेचन करके दिया है।

ग्रन्थकार आशाधरभट्ट का कहना है कि जिस प्रकार बिना शक्ति के योग से बाण लक्ष्य के भेदन में समर्थ नहीं हो पाता, यद्यपि उसके निर्माण का प्रयोजन **लक्ष्यभेदन** ही होता है। ठीक उसी प्रकार शब्द का भी लक्ष्य **अर्थ** की प्रतीति कराना है, उसके लिए ही शब्द की रचना होती है, किन्तु पूर्वतः निर्मित कोई भी शब्द प्रयोगमात्र से किसी अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता अपितु उसे अभिधा-लक्षणा या व्यञ्जना में से किसी एक शक्ति का योग अपेक्षित होता है। इसीलिए इन वृत्तियों को शक्ति की संज्ञा भी दी गई है; क्योंकि इनके सामर्थ्य से ही शब्द **शक्त** अर्थात् **अर्थ** की प्रतीति कराने में समर्थ होता है।

शब्द के लिए **बाण** का दृष्टान्त कोई नूतन उद्भावना नहीं है, **अपितु** मीमांसकों के द्वारा मात्र **अभिधा व्यापार** से ही हर प्रकार के अर्थों की प्रतीति कराने के **इषुवद्दीर्घदीर्घतरः अभिधाव्यापारः.........**के सिद्धान्त का प्रतिपादन बहुत पहले किया जा चुका है, किन्तु उससे और आशाधरभट्ट के विवेचन में एक मौलिक अन्तर है जिसके अनुसार जैसे किसी व्यक्ति के द्वारा प्रयुक्त बाण एक ही शक्ति **वर्मभेदन, मर्मभेदन** एवं **प्राण-हरण** तीनों कार्य सम्पादित कर देता है, उसी प्रकार अभिधा शक्ति से समन्वित शब्द प्रयुक्त होकर वाच्य, लक्ष्ण और व्यङ्ग्य आदि सभी अर्थों की प्रतीति कराने में समर्थ होता है।

हम यहाँ देखते हैं कि सिद्धान्त जहाँ केवल अभिधा व्यापार में ही अन्य सभी व्यापारों के अन्तर्भाव के लिए **बाण** का दृष्टान्त प्रस्तुत करता है, वहाँ आशाधरभट्ट ने उसे सामान्य रूप से इस अभिप्राय को प्रगट करने के लिए उदाहृत किया है कि शब्द से साक्षात् अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती जब तक किसी-न-किसी वृत्ति का योग न हो। यह बात आपाततः समझ में नहीं आती कि जिस अर्थ प्रतीति के लिए शब्द की रचना हुई है, उसकी ही प्रतीति कराने में वह शब्द स्वतः समर्थ नहीं है, किन्तु **बाण** का दृष्टान्त देने से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि **बाण** का निर्माण भी तो **लक्ष्य-भेद** के लिए किया गया होता है, किन्तु किसी व्यक्ति के द्वारा उसके शक्ति-पूर्वक सन्धान के बिना वह (बाण) स्वतः लक्ष्य-भेदन में कथमपि समर्थ नहीं होता। इस प्रकार ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने बहुत समय से चले आ रहे 'शब्द' के लिए **बाण** के दृष्टान्त का बहुत ही समुचित उपयोग किया है।

मीमांसकों और आलङ्कारिकों के बीच अन्तर केवल इतना है कि मीमांसक (**विधि अर्थप्रत्यायिका**) उस शक्ति को केवल अभिधा ही अर्थात् मात्र एक ही शक्ति मानना चाहते हैं, जबकि **आलङ्कारिक अर्थ-भेद** के अनुसार वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों की प्रतीति के लिए अलग-अलग तीन शक्तियाँ मानते हैं। बाण और शब्द के प्रयोगों में यही अन्तर है कि एक बार ही प्रयुक्त बाण वर्मभेदन, मर्म-भेदन और **प्राण-हरण** तीनों कार्य सम्पादित कर सकता है, जबकि शब्द एक बार प्रयुक्त होकर एक ही अर्थ की प्रतीति कराता है, इस बात को ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने बड़े ही सहज ढंग से व्यक्त किया है—

> **सकृत्प्रयुक्तः शब्दोऽसौ सकृदेकार्थसाधकः।**
> **बाणवल्लक्ष्यभेदे तु प्रयोगं पुनरर्हति ॥**[१२]

इससे स्पष्ट है कि आशाधरभट्ट बाण के विषय में भी एक ही बार के प्रयोग से अनेक लक्ष्य-भेदन की बात को स्वीकार नहीं करते, जो सर्व सामान्य की धारणा के अनुरूप ही है।

द्वितीय परिच्छेद में आलङ्कारिक विद्वानों तथा अनुसन्धित्सुओं के लिए ग्रन्थकार ने एक सर्वथा नवीन उदाहरण लक्षणा प्रसङ्ग में दिया है, जिसकी अपनी विशेषता है कि वह नया होते हुए भी नया या कम महत्त्वपूर्ण नहीं लगता।

प्रायः **गङ्गायां घोषः** को लक्षणा प्रसङ्ग में तार्किकों, वैयाकरणों एवं आशाधरभट्ट के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सभी आलङ्कारिकों ने एक मत से प्रयोग किया है, किन्तु आशाधरभट्ट ने सबसे पहले साहित्य संसार में अद्भुत शब्द प्रवाह वाला

---

१२. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द अभिधानिरूपणम्, का० १७

ऊङ्कारलिङ्गं रेवायाम् उदाहरण लक्षणा प्रसङ्ग में प्रयुक्त किया है, जिससे यदि एक ओर ग्रन्थकार की नवीन विचार-पद्धति की पुष्टि होती है तो दूसरी ओर इसी परिच्छेद के अन्यतम सम्बन्धित श्लोकों से ग्रन्थकार के जन्म-स्थान के सन्दर्भ में भी हमें प्रामाणिक तथ्य मिल जाते हैं, जिसका उपयोग प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के सम्बन्धित अध्याय में यथावसर किया गया है।

ग्रन्थकार की दूसरी विशेषता का भी परिचय हमें इसी परिच्छेद से सहज ही प्राप्त हो जाता है। आशाधरभट्ट अनन्य शिवभक्त थे, जैसा कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में **शैवमङ्गलाचरण** से स्पष्ट हो जाता है।

ग्रन्थकार ने सोपज्ञ **कादम्बिनी** नामक टीका का प्रारम्भ की **प्रणम्य शङ्करं साम्बं कोविदानन्दनामकम्**[13] से ही किया है : परन्तु **लक्षणानिरूपण तो अप्रत्यक्षतः** शिव-भक्ति की ही प्रतीति कराता है। इस प्रकार ग्रन्थकार आशाधरभट्ट कृत कोविदानन्द में प्रयुक्त लक्षणा वृत्ति के लिए **भक्ति** पद इस लक्षणानिरूपण के द्वारा तो अक्षरशः सिद्ध हो जाता है। इस परिच्छेद में शायद ही कोई ऐसी पंक्ति होगी जिसमें शिवभक्ति परिचायक शब्द न हों। अस्तु, ग्रन्थकार के इस भक्ति निर्णय से वस्तुतः ग्रन्थकार की शिव-भक्ति की पुष्टि हो जाती है। इस प्रकरण में कुल ३२ कारिकाएँ हैं।

तीसरे परिच्छेद का नाम व्यञ्जना निरूपण है। इसमें कुल ४२ कारिकाएँ हैं। इसमें ग्रन्थकार की मौलिकता व्यञ्जना की स्वतन्त्र सद्भावना की सिद्धि में है।

१. टीका एवं अनुवाद

कोविदानन्द पर टीका उपलब्ध होती है, जिसकी रचना स्वयं ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने की है। इसको भट्ट जी ने **कादम्बिनी** नाम से अभिहित किया है। इसकी पुष्टि प्रत्येक परिच्छेद की पुष्पिका से होती है।

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीणधुरीणरामजिभट्टात्मजाशाधरभट्ट-विरचितायां कादम्बिनीसमाख्यायां स्वकृतकोविदानन्दव्याख्यायाभिधापरिच्छेदः प्रथमः।

इसी परम्परा से मात्र परिच्छेद के स्थान पर परिवर्तन करके क्रमशः लक्षणा एवं व्यञ्जना परिच्छेदों का उपसंहार भी भट्ट जी ने स्पष्टतः किया है।

भट्ट जी की स्वोपज्ञ टीका एक सारगर्भित **टीका** है। इसमें अनेकानेक महनीय ग्रन्थों के उद्धरण भी उपलब्ध होते हैं, जो महाभाष्यकार पतञ्जलि के

---

१३. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द का० १।

अनुसार मात्र पदान्वय एवं पद-विच्छेद को व्याख्यान नहीं कहते, अपितु एक सुष्ठु टीका के अनिवार्य तत्त्व हैं—उदाहरण, प्रत्युदाहरण एवं वाक्याध्याहार। इन सब के मञ्जुल सामञ्जस्य वाले, **व्याख्यान** को ही **टीका** की संज्ञा दी जाती है।

न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानानि वृद्धिः आत् ऐ च् इति। किंतर्हि उदाहरण प्रत्युदाहरण वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति।[१५]

निश्चित रूप से आशाधरभट्ट ने पातञ्जल महाभाष्य के टीकाविषयक निर्देश का पूर्णतः पालन किया है। टीका अत्यन्त सरल एवं सुग्राह्य है। भट्ट जी ने टीका का उद्देश्य प्रतिपादित करते हुए स्वयं लिखा है—

प्रणम्य शङ्करं साम्बं कोविदानन्दनामकम्।
ग्रन्थं व्याख्यावि सङ्क्षेपात् स्वकृतं बोधसिद्धये॥[१६]

भट्ट जी ने **सङ्क्षेपात् स्वकृतं बोधसिद्धये**' वाच्यांश के प्रयोग से अपने लक्ष्य को स्पष्ट कर दिया है।

अन्ततः कादम्बिनी अभिधान की सार्थकता व उसके रहस्योद्घाटन को समुद्घाटित करते हुए भट्ट जी स्वयं 'हेमकोश' की व्याख्या से अपने मन्तव्य को प्रतिष्ठापित करते हैं—

कादम्बिनी मेघमालेति हैमः। कादम्बिनीव कादम्बिनी। यथा मेघमाला कुत्रचिद्घनीभूता, कुत्रचिच्च स्वल्पा तद्वदियमपि श्लोकेष्विति।

तात्पर्य यह है कि भट्ट जी ने अपने कोविदानन्द ग्रन्थ की कुछ कारिकाओं पर विशद व्याख्या की है, जबकि कुछ पर 'स्पष्टम्' आदि कहकर ही छोड़ दिया है। इस शैली के अपनाने के कारण ही अपनी टीका को 'मेघमाला' की उपमा से विभूषित किया है और **स्वभावानुरूप कादम्बिनी**' अभिधान से इसे अभिहित किया है।

हिन्दी अनुवाद—

डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी ने कोविदानन्द की हिन्दी व्याख्या की है, जिसे 'दीपिका' नाम दिया है। अनुवाद मात्र कारिकाओं पर किया गया है, टीका पर नहीं। विस्तृत विवेचन 'प्रकाशन' शीर्षक में इसी अध्याय के प्रारम्भिक पृष्ठों में किया गया है।

---

१४. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द टीका की पुष्पिका।

१५. पतञ्जलि : व्याकरण महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

१६. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपणम्, मङ्गलकारिका, टीका भाग।

७. वैगुण्य

कोविदानन्द वैगुण्य से अछूता नहीं है। इसमें आशाधरभट्ट ने यदि विषय के विवेचन में अपने अगाध पाण्डित्य एवं नीरक्षीरविवेकिनी बुद्धि का परिचय दिया है तो दूसरी ओर ग्रन्थ में विवेच्य विषयों की क्रमानुगत व्यवस्था में यत्र-तत्र 'शैथिल्य' भी दृष्टिगोचर होता है। ग्रन्थकार किसी एक विषय का प्रतिपादन करते-करते विषयान्तर में उलझ जाते हैं और इस तरह पाठक का मन भ्रमित हो जाता है। परिणामतः उसमें विवेच्य-विषय की एकरूपता नहीं बनी रह पाती है, जो कि कृति में वैगुण्य का ही आधान करती है; क्योंकि सामान्य पाठक एक साथ अनेक विषयों के बोध का क्रम नहीं रख सकते—यह तो असाधारण पाठक में ही सम्भव है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह आशाधरभट्ट का शीघ्रता में लिखा गया ग्रन्थ है, जिसका विषय-विवेचन तो गम्भीर है, परन्तु विवेच्य-विषयों का क्रम अव्यवस्थित ही है। सम्भवतः इसी त्रुटि के परिमार्जन के लिए ही ग्रन्थकार ने शब्दशक्ति विषयक अन्य ग्रन्थ 'त्रिवेणिका' भी लिखा। त्रिवेणिका के प्रारम्भ में ही भट्ट जी ने 'कोविदानन्द' के अव्यवस्थित क्रम आदि की न्यूनता या वैगुण्य को स्वयं ही स्वीकारते हुए लिखा है—

प्रणम्य पार्वतीपुत्रं कोविदानन्दकारिणा।
आशाधरेण क्रियते पुनर्वृत्तिविवेचना॥

यहाँ 'पुनर्वृत्तिविवेचना' में पुनः पद के प्रयोग से यह भी लक्षित होता है कि ग्रन्थकार को 'कोविदानन्द' शब्द वृत्ति सम्बन्धी अपने विवेचन से पूर्ण सन्तोष नहीं है। यह सब होते हुए भी ग्रन्थ की उपादेयता का सर्वथा अपलाप नहीं किया जा सकता। आचार्य कालिका प्रसाद शुक्ल ने 'कोविदानन्द' एवं उसकी 'कादम्बिनी टीका' का मूल्याङ्कन समुचित रूप में किया है। उन्हीं के शब्दों में—

मया पर्यवलोकितासु निखिलासु आशाधरस्य कृतिषु स्वोपज्ञकादम्बिनीटीका-कलितः कोविदानन्दो वस्तुतः कोविदानानन्दयेत् तस्य कादम्बिनी टीका वस्तुतः मनीषिणां मानसमयूरान् नर्तयेत्।[१८]

ख. त्रिवेणिका

१. कृति का औचित्य—

आशाधरभट्ट ने शब्दशक्ति पर ही दो स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है,

---

१७. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द व्यञ्जनानिरूपणम्, पुष्पिका, टीका भाग।
१८. वही : त्रिवेणिका, प्रस्तावना भाग, आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल द्वारा सम्पादित संस्करण, पृ० २६, १९२५, वाराणसी।

जिनमें से प्रथम 'कोविदानन्द' का सामान्य विवेचन इसके पूर्व अध्याय में किया जा चुका है। द्वितीय कृति 'त्रिवेणिका' का विवेचन ही प्रस्तुत अध्याय का प्रतिपाद्य है। यहाँ इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि ग्रन्थकार ने एक ही विषय पर दो ग्रन्थों की रचना किसलिए की ? त्रिवेणिका के मङ्गलात्मक पद्य में अपने पूर्व ग्रन्थ 'कोविदानन्द' का उल्लेख करते हुए आशाधरभट्ट ने स्वयं कहा है कि 'कोविदानन्द' में वृत्तियों का विवेचन करने के अनन्तर वे इस ग्रन्थ में उन्हीं वृतियों का पुनः विवेचन करने जा रहे हैं—

प्रणम्य पार्वतीपुत्रं कोविदानन्दकारिणा ।
आशाधरेण क्रियते पुरवृ`त्तिविवेचना ।[१९]

पर इतने से यह स्पष्ट नहीं होता है कि वृत्तियों के पुनः विवेचन के पीछे ग्रन्थकार की भावना क्या है ? क्या उन्होंने अपनी पूर्व कृति में संशोधन करने की अपेक्षा उसकी रचना-शैली में आमूलचूल परिवर्तन करते हुए उसी विषय पर एक नये ग्रन्थ की रचना कर दी, जिसमें कोविदानन्द पर उठाई गई आपत्तियों का भी समाधान कर दिया।

'त्रिवेणिका' के व्यञ्जना नामक प्रकरण में शक्तिमूला व्यञ्जना का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने स्वरचित एक पद्य दिया है, जिसमें 'त्रिवेणिका' के विषय में कहा है कि वह आशाधरभट्ट के हृदय से उत्पन्न हुई है तथा वह विमला अर्थात् दोष रहित है, वह बुद्धि को शुद्धता प्रदान करने वाली अर्थात् संशय को दूर करने वाली कोविदानन्द की 'सहजा' अर्थात् 'भगिनी' है; क्योंकि दोनों ही आशाधर-भट्ट के हृदय से उत्पन्न हैं—

आशाधरहृदुत्पन्ना विमला बुद्धिशुद्धिदा ।
कोविदानन्दसहजाऽनुग्राह्यैषा त्रिवेणिका ॥[२०]

यद्यपि इस पद्य में गङ्गा, यमुना एवं सरस्वती के सङ्गम त्रिवेणिका और अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना का विवेचन करने वाली पुस्तक 'त्रिवेणिका' का श्लेषमय वर्णन करते हुए पुस्तक 'त्रिवेणिका' वाच्य से त्रिवेणी तीर्थरूप अर्थ की व्यञ्जना की गई है। तथापि त्रिवेणिका में उद्धृत उपर्युक्त पद्य के विशेषणों से उसकी रचना के औचित्य पर भी प्रकाश पड़ता है।

पहला विशेषण है—'आशाधरहृदुत्पन्ना' जिसका अर्थ यह है कि 'त्रिवेणिका' नामक यह कृति आशाधर (भट्ट) नामक विद्वान् के हृदय अर्थात् बोध से रची गई

---

१९ आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरणम्, मङ्गलपद्य ।
२०. वही : त्रिवेणिका, व्यञ्जना प्रकरण, पृ० ३५, १९५७ संस्करण ।

है, जबकि कोविदानन्द के लिए ग्रन्थकार ने कहा है कि वह शिष्यों की प्रेरणा से उसकी रचना कर रहे हैं—

अथात्र शब्दव्यापारसंशयनिवृतिकामैः शिष्यैः प्रेरित आशाधरभट्टनामा कविः सङ्क्षिप्तं युक्तियुक्तं कोविदानन्दाख्यं ग्रन्थं कुर्वन् शिवोत्कर्षरूपं मङ्गलमाचरतित्रिनयनेति ।[२१]

दूसरा विशेषण है—**विमला**, जिससे ध्वनित होता है कि 'कोविदानन्द' में अनेक ऐसे दोष उद्भावित किये गये हैं, जिनसे ग्रन्थकार भी सहमत थे । अतः उन दोषों का निराकरण करते हुए जिस कृति की रचना की, उसके लिए 'विमला' विशेषण साभिप्राय प्रयुक्त किया है ।

तीसरे विशेषण—**बुद्धिशुद्धिदा** से यह अभिप्राय निकलता है कि कोविदानन्द सम्भवतः शब्दशक्ति के विषय में पूर्वकालीन अन्य ग्रन्थों की तरह सर्वथा भ्रान्तिरहित नहीं था, क्योंकि उसमें अन्य विद्वानों के मतों का ही विवरण दिया गया है, जिससे पाठकों की बुद्धि में अनेक भ्रान्तियाँ पैदा होती हैं । 'त्रिवेणिका' उन भ्रान्तियों से सर्वथा रहित है । अतएव इसके लिए प्रयुक्त विशेषण 'बुद्धिशुद्धिदा' सर्वथा उपयुक्त है ।

कोविदानन्दसहजा नामक चौथे विशेषण से इस बात की प्रतीति होती है कि जिस समय में कोविदानन्द की रचना की जा रही थी उन्हीं दिनों त्रिवेणिका के लिखे जाने की बात भी ग्रन्थकार के मन में उत्पन्न हो गई थी । इसका कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि कोविदानन्द की रचना जिस कारिका शैली में ग्रन्थकार ने की है, वह सम्भवतः उन्हें विषय के विवेचन के लिए बहुत उपयुक्त सिद्ध नहीं हुई; क्योंकि छन्दोबद्धता भी एक प्रकार की पराधीनता ही है, जिसमें भाव की अभिव्यक्ति के लिए खुलकर अवसर नहीं होता । अतः 'कोविदानन्द' की रचना होते-होते ही उस विषय का विवेचन नई शैली में करने का संकल्प ग्रन्थकार के मन में जाग्रत हो गया, जिसकी अभिव्यक्ति 'सहजा' पद से होती है ।

'कोविदानन्द' की कटु आलोचना हुई थी । इसकी पुष्टि 'त्रिवेणिका' के अन्त में व्यञ्जनाप्रकरण की समाप्ति के बाद उद्धृत दो पद्यों में भी होती है, जिसे ग्रन्थकार ने अपनी एक अन्य कृति 'प्रभापटल' से उद्धृत बताया है ।

पहले पद्य में यह कहा गया है कि मेरी रचना में यदि कोई दोष अज्ञानवश रह गया हो तो बुद्धिमान् लोगों को चाहिए कि उसके कारण मेरी कृति की उपेक्षा न करें, अपितु उसका सेवन करें; क्योंकि सरोवर का जल यदि सेवार (जलकाई) से युक्त होता है तो भी बुद्धिमान् पिपासु उसे हटाकर सरोवर के अमृतोपम जल का पान कर तृप्त होते ही हैं—

---

२१. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपणम्, मंगलश्लोक, टीका भाग ।

यदिह लिखतामव्युत्पत्त्या पतेल्लघुदूषणं
निपुणधिषणैरुज्झित्वा तत् कृति मम सेव्यताम् ।
सरसि बिमले वातक्षिप्तं निवार्य तु शैवलं
सलिलममृतप्राप्यं प्रायः पिबन्ति पिपासवः ॥[२२]

दूसरे पद्य में यही बात अन्य प्रकार से कही गई है कि यदि मेरी रचना में कोई कहीं दोष आरोपित करता है तो क्या उस व्यक्ति को प्रौढ़ पण्डित अथवा कवियों के तुल्य कोटि का स्वीकार किया जा सकता है ? रघुकुल शिरोमणि महाराज राम की निष्कलुष पत्नी सीता में भी दोष बताने वाला दुष्ट धोबी क्या राजाओं के तुल्य समझा जा सकता है ! अर्थात् कथमपि नहीं—

यदि मम सरस्वत्यां कश्चित् कथञ्चन दूषणं
प्रलपति ततः प्रौढप्रज्ञैः स किं कविभिः समः ।
रघुपतिकुटुम्बिन्यां सत्यामवद्यमुदाहरन्
हतकरजकः साम्यं लेभे स किं सह राजभिः ॥[२३]

२. **प्रकाशन**—

ग्रन्थकार आशाधरभट्ट के शब्दशक्तिविषयक ग्रन्थों में 'त्रिवेणिका' नामक ग्रन्थ दूसरा ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ के अब तक तीन संस्करण प्रकाशित हुए हैं । वे हैं—

(i) प्रो० बटुकनाथ शर्मा संस्करण
(ii) आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल संस्करण
(iii) डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी कृत अनुवाद

प्रो० बटुकनाथ शर्मा संस्करण—

यह प्राचीनतम संस्करण है । यह सन् १९२५ में विद्याविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ है ।[२४] यह प्रकाशन प्रो० बटुकनाथ शर्मा एवं जगन्नाथ शास्त्री 'होसिङ्ग' के सहयोग से सम्पन्न हुआ है । इसकी प्रस्तावना प्रो० बटुकनाथ शर्मा ने लिखी है, जबकि ग्रन्थ की टिप्पणियों में दोनों का सहयोग रहा है, जो कहीं विशिष्ट तथा कहीं नवीन तथ्योद्घाटन करता है ।

इस प्रकाशन की विशेषता यह भी है कि इसे शैवमङ्गलाचरण वाले ग्रन्थ का प्रणयन भी विद्वान् प्रो० शर्मा ने 'शिवरात्रि' की पवित्र वेला में किया जो कि ख्रिष्टीय वर्ष १९२५ की २१ फरवरी नियत होता है ।

---

२२. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, व्यञ्जनाप्रकरणम्, पृ० ३८, १९५७ संस्करण
२३. वही वही वही , पृ० ३८, १९५७ संस्करण ।

यह ग्रन्थ 'सरस्वती भवन पुस्तकालय वाराणसी' के सौजन्य से प्रकाशित किया गया। 'त्रिवेणिका' ग्रन्थ की एक 'हस्तलेखप्रति' का सम्पादक महोदय ने प्रस्तुत प्रकाशन में सहयोग लिया।

सम्पादक महोदय ने 'सरस्वती भवन पुस्तकालय' के प्रबन्धक के प्रति हस्तलेख प्राप्ति के सौविध्य के लिए 'कृतज्ञताज्ञापन' किया है। यहीं सम्पादक महोदय ने 'हस्तलेखक' या प्रतिलिपिकार को एक सामान्य व्यक्ति बताकर 'हस्तलेख' की व्याकरणात्मक त्रुटियों के लिए पश्चात्ताप भी किया है। वस्तुतः इसके अतिरिक्त हस्तलेख समीचीनावस्था में उपलब्ध है तथा यह अति प्राचीन पत्र पर लिखा गया है, जिनकी संख्या अठारह है तथा आकार-प्रकार १०"×४½" इंच प्रति पृष्ठ है। प्रत्येक पृष्ठ पर ११-११ पंक्तियाँ तथा प्रति पंक्ति में औसतन ३०-३० वर्णों का समावेश है।[२४]

ग्रन्थ के सम्पादक प्रो० बटुकनाथ शर्मा ने इसी प्रसङ्ग में एक अन्य 'हस्तलेख' का भी उल्लेख किया है। यह दूसरा हस्तलेख प्रो० शर्मा के किसी मित्र के द्वारा 'वाराणसी निवासी' किसी विद्वान् ब्राह्मण के अधिकार में होने वाले एक हस्तलेख से 'नकल' करके लिखा गया था।[२५]

आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल संस्करण

कालक्रम से यह प्रकाशन दूसरा प्रकाशन है। १९२५ के बाद ३२ वर्षों के अनन्तर सन् १९५७ में वाराणसी के ही 'भारतीय साहित्य विद्यालय' नामक प्रकाशन से 'त्रिवेणिका' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ।

आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल ने बड़े ही मनोयोग से इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। माघी पूर्णिमा संवत् २०१३ को यह ग्रन्थ विद्वान् सम्पादक के द्वारा सर्व सामान्य के लाभार्थ प्राप्त हो सका। इसमें ग्रन्थ की भूमिका अत्यन्त सारगर्भित है, जिसके आधार पर शब्दशक्ति-विषयक विविध तथ्यों का स्पष्टीकरण एवं ग्रन्थकार आशाधरभट्ट की प्रतिभा एवं नवीनता का क्रमशः वैविध्य एवं वैशद्य की सहज ही पुष्टि हो जाती है। इस प्रकाशन की भूमिका में विद्वान् सम्पादक ने यथातथ्य ग्रन्थकार के स्थान, समय आदि को भी स्पष्ट, स्थिर करने का प्रयास किया है, विचारणीय है, जिसे पूर्वाध्याय में निरूपित किया गया है। श्री शुक्ल द्वारा सम्पादित संस्करण में ग्रन्थ (त्रिवेणिका) के विशिष्ट व गम्भीर विषयों के सरलीकरणार्थ टिप्पणियाँ भी पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी के द्वारा लिखी गई हैं। इस योजना से विषय की सरल मीमांसा सहज ही में सम्भव हो सकी है।

---

२४. विद्याविलास प्रेस, गोपालमन्दिर लेन, बनारस सिटी।

२५. प्रो बटुकनाथ शर्मा, इन्ट्रोडक्शन, आशाधरभट्ट कृत त्रिवेणिका।

इसकी 'विषयानुक्रमणिका' का अनुशीलन करने मात्र से पुस्तक का विवेच्य-विषय स्पष्ट हो जाता है। इसी वैज्ञानिक विषय-सूची से यदि एक ओर ग्रन्थकार आशाधरभट्ट के पाण्डित्य की झलक मिलती है तो दूसरी ओर विद्वान् सम्पादक की नीर-क्षीर विवेकिनी बुद्धि की सूक्ष्मता का भी दिग्दर्शन हो जाता है। इसमें 'परिशिष्ट' का विधान भी रखा है, जिसके एक पक्ष में वर्ण-क्रमानुसार ग्रन्थ (त्रिवेणिका) में उद्धृत विविध ग्रन्थों के पद्यों की प्रथम पंक्ति का तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के नामों के साथ योजना है तो परिशिष्ट का दूसरा पक्ष ग्रन्थ में उद्धृत अनेकानेक ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के नामों का वर्णक्रम से उल्लेख करता है।

परिणामतः यह संस्करण शोध की दृष्टि से और भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है तथा इससे ग्रन्थ के किञ्चित् विशिष्ट तथा किञ्चित् नवीन तथ्य उभर कर सामने आते हैं। यह एक आलोचनात्मक संस्करण है।

अवस्थी संस्करण—

सन् १९७८ में डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी और उनकी सुपुत्री इन्दु अवस्थी के सहयोग से 'त्रिवेणिका' का तीसरा संस्करण पहली बार हिन्दी व्याख्या के साथ सर्वसामान्य के सामने आया।[२६]

यह संस्करण राष्ट्र भाषा में 'दीपिका' नामक व्याख्या से युक्त है। सम्पादक ने १४ पृष्ठों की भूमिका द्वारा ग्रन्थकार के सामान्य परिचय व ग्रन्थ के विवेच्य-विषय का सूचनात्मक विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ग्रन्थकार के स्थानादि के सन्दर्भ में जो तर्क या तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं उनमें कोई नवीनता नहीं है। प्रथम अध्याय में इसे स्पष्ट कर दिया है। इसकी विषयानुक्रमणिका अवैज्ञानिक है; क्योंकि इसमें विवेच्य-विषयों को क्रमानुसार पृथक्-पृथक् उल्लिखित न करके मात्र अध्यायों के नामों का ही निर्देश किया गया है। इस संस्करण के तीन पक्ष हैं—भूमिका, मूल ग्रन्थ और हिन्दी व्याख्या। हिन्दी व्याख्या का नाम 'दीपिका' है। अनुवाद कहीं-कहीं व्याख्या का रूप ले लेता है जो विवेच्य-विषय को खोलने की अपेक्षा भ्रामक ही सिद्ध होता है।

३. विवेच्य-विषय—

आशाधरभट्ट का यह गन्थ वैषयिक तथा भाषा वैज्ञानिक दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें विषय-प्रतिपादन सर्वथा नवीन विशिष्टता के साथ किया गया है। विषय की सर्वाङ्गपूर्णता की प्रतीति ग्रन्थ के देखने से ही हो जाती है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र सरणि में निष्णात आचार्य आशाधरभट्ट ने शब्दशक्ति

---

२६. इन्दुप्रकाशन ८/३, रूपनगर, दिल्ली-७

विषयक तथ्यों को स्फुट करने की धारणा से दो ग्रन्थों (कोविदानन्द और त्रिवेणिका) का प्रणयन किया है। एक ही विषय पर दो ग्रन्थों प्रणयन जिज्ञासा को जन्म देता है, जिसका निरसन यथास्थान कर दिया गया है।

'त्रिवेणिका एक प्रकार से शब्दशक्तिविषयक ग्रन्थों में कालक्रम व वर्णक्रम दोनों दृष्टियों से आशाधरभट्ट की अपेक्षाकृत वैषयिक प्रौढ़ता, क्रमबद्धता आदि का प्रतिनिधित्व करती है।

ग्रन्थकार का प्रारम्भ गणेश-वन्दना से हुआ है, जिससे गन्थकार के प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीयत्व का एवं प्रथम ग्रन्थ के नाम की जानकारी तो मिलती ही है, साथ ही साथ प्रतिपाद्य विषय का परिचय भी प्राप्त हो जाता है—

मङ्गलाचरण से यही सिद्ध होता है कि त्रिवेणिका का प्रतिपाद्य विषय भी वृत्ति-विवेचना ही है। 'वृत्ति-विवेचना' से यहाँ अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नामक तीनों वृत्तियों का विवेचन ही ग्राह्य है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन अध्यायों में विभक्त है, जिसकी पुष्टि ग्रन्थान्तर्गत प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका से हो जाती है। प्रथम परिच्छेद की पुष्पिका में—**इति श्री आशाथरभट्टकृतायां त्रिवेणिकायां प्रथमं शक्तिविवेचनाप्रकरणम्।**[२८] कहा गया है, जिससे प्रत्यक्षतः शक्ति-विषयक विवेचना रूप प्रथम अध्याय की सीमा की प्रतीति होती है इसी सरणि पर पुष्पिकाएँ क्रमशः दूसरे अध्याय के अन्त में—**इति श्री आशाधरभट्टकृतायां त्रिवेणिकायां द्वितीयं लक्षणाप्रकरणम्।**[२९]

तीसरे अध्याय के अन्त में—**इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीणरामजी भट्टात्मज आशाधरभट्टविरचितायां त्रिवेणिकायां तृतीयं व्यञ्जनाप्रकरणम् समाप्तश्चायं ग्रन्थः**[३०] है।

मुकुल भट्ट, मम्मट, अप्पयदीक्षित एवं श्री मौनि श्री कृष्ण भट्ट जैसे शब्दशक्ति विषयक ग्रन्थकारों की वृत्ति सामान्य की परिभाषा न देने की परम्परा से हट कर आशाधरभट्ट ने त्रिवेणिका का प्रारम्भ 'वृत्ति सामान्य' की परिभाषा से किया है—

वर्तते शब्दोऽर्थे प्रवर्ततेऽनयेति वृत्तिः।[३१]

वृत्ति सामान्य की परिभाषा के अनन्तर वृत्ति के भेद-प्रभेदों का निरूपण ग्रन्थकार की मौलिकता का ही द्योतक है। अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना एवं उनके

२७. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, अभिधानिरूपण, मङ्गलकारिका।
२८. वही , पृ० १७, १९५८ संस्करण।
२९. वही , पृ० ३३, १९५७ संस्करण।
३०. वही , पृ० ३८, १९५७ संस्करण।
३१. वही , पृ० १, १९५७ संस्करण।

भेद-प्रभेदों को व्याख्यायित करने के लिए भट्ट जी ने अन्यान्य विद्वानों की महनीय कृतियों को भी उदाहृत किया है। बहुविध विवेचन करते हुए आशाधरभट्ट ने अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना के लिए क्रमशः शक्ति, भक्ति एवं व्यक्ति नामक संज्ञाओं का विलक्षण प्रयोग किया है—

शक्तिभक्तिव्यक्तिगङ्गायमुनागूढनिर्झराः ।
निर्वाहवन्त्यः सन्त्यत्र यत्तदेषा त्रिवेणिका ॥[32]

इस श्लोक के माध्यम से आशाधरभट्ट ने वृत्तियों के तीन भेदों का निरूपण किया है। इन तीनों वृत्तियों के लिए क्रमशः गङ्गा, यमुना और सरस्वती उपमित संज्ञाएँ हैं। अर्थात् ग्रन्थकार ने वृत्ति के प्रथम भेद 'शक्ति' की उपमा गङ्गा से, वृत्ति के द्वितीय भेद 'भक्ति' की उपमा यमुना से तथा वृत्ति के तृतीय भेद 'व्यक्ति' को उपमा 'सरस्वती' से देकर अपने गहन मन्तव्य को सरस रीति से निरूपित किया है। इसमें ग्रन्थकार की अपनी विशेषता है, लेकिन इस तथ्य की परीक्षा आवश्यक है। विचार करने पर शक्ति अर्थात् अभिधा की 'गङ्गा' से तुलना का आधार दोनों की स्पष्टता ही हो सकती है, जिस प्रकार गङ्गा के दर्शन मात्र से ही व्यक्ति पुण्य लाभ करता है, उसी प्रकार शब्द के उच्चारण मात्र से जहाँ अर्थ की प्रतीति स्वतः हो जाय उसे ही अभिधा कहते हैं। एक दूसरा सामान्य आधार यह हो सकता है कि जिस प्रकार गङ्गाजल के स्पर्श मात्र से 'आपामरतिर्यक्' सभी के तर जाने का विधान स्मृतियों और पुराणों में प्राप्त होता है, उसी प्रकार शब्द को सुन करके प्रत्येक श्रोता को जिसके द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है, उसे 'अभिधा' कहते हैं।

ग्रन्थ के नामकरण की सार्थकता के सन्दर्भ में भट्ट जी ने 'भक्ति' की तुलना यमुना से की है। सम्भवतः इसलिए की कि भगवान् कृष्ण की स्मृति 'यमुना तट' पर निरन्तर बसती है। 'भक्ति' का क्षेत्र 'यमुना तट' ही रहा है। भट्ट जी ने लक्षणा को 'भज्यते शक्यार्थः अनया इति भक्तिर्लक्षणा'[33] कहकर परिभाषित किया है।

'व्यक्ति' व्यञ्जना है, जिसकी तुलना 'सरस्वती' से की गई है। सरस्वती को आशाधरभट्ट ने **गूढनिर्झरा** कहा है, जिसका अभिप्राय यह है कि जिसका निर्झर अर्थात् प्रवाह गूढ़ हो। व्यञ्जना के साथ यह बात भी घटती है; क्योंकि जिस प्रकार संकेतग्रह के माध्यम से अभिधा कार्य करती है, तथा मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय के द्वारा लक्षणा कार्य करती है, उसी प्रकार व्यञ्जना कार्य नहीं करती, अपितु

---

३२. त्रिवेणिका, आशाधरभट्ट, पृ० २, १९५७ संस्करण।
३३. वही, पृ० १८, श्री शुक्ल संस्करण।

व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति किसी के द्वारा नहीं होती; अपितु विदग्ध लोगों को इसका बोध साक्षात् शब्द या अर्थ से हो जाता है। इसीलिए व्यञ्जना को 'सरस्वती' कहना सर्वथा उपयुक्त ही है।

इस प्रकार वृत्तिवैविध्य के मार्मिक विवेचन के पश्चाद् भट्ट जी ने शक्ति अर्थात् अभिधा के "**सा त्रिधा योगो रूढिर्योगरूढिश्चेति**" कहकर इसके भेद-प्रभेदों को निरूपित किया। तदनन्तर, अपने प्रथम ग्रन्थ कोविदानन्द का उल्लेख करते हुए 'शक्ति-ग्राहकों' का सम्यक् विवेचन किया है। उन्हीं के शब्दों में—

अथ कोविदानन्दस्य क्रमेण शक्तिग्राहकाण्युच्यन्ते—व्याकरणम्, कोशः, निरुक्तम्, मुनिवाक्, व्यवहारः, व्याख्यानम्, वाक्यशेषः, प्रसिद्धार्थपदसन्निधिः, उपमानम् (त्रिवेणिका, पृष्ठ ६, १९२५ सं०)

उन उपर्युक्त शक्तिग्राहकों को मार्कण्डेय पुराण, महाभाष्य प्रभृति महनीय ग्रन्थों के उद्धरणों से उदाहृत करने के पश्चात् 'कोविदानन्द' के ही क्रम से लिङ्ग प्रकरणादि शक्ति-नियामकों को नवीनतर उदाहरणों सहित निरूपण किया गया है। शक्ति-नियामकों को भट्ट जी ने अमरकोश, हेमकोश, विश्वकोश, एवं किराता-र्जुनीयम् एवं नैषधीयचरितम् जैसे महनीय ग्रन्थों के उद्धरणों से उदाहृत किया है। शक्ति नियामकों के सोदाहरण निरूपण के ही सन्दर्भ में आशाधरभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'अद्वैतविवेक' के एक पद्य को उदाहृत किया है—

मत्कृतेऽद्वैतविवेके तु—

मृगाङ्कत्वेऽपि न मृगी शशाङ्कत्वाच्छशीति तु चन्द्रमा कथितस्तत्र रूढेरन्यत्र कारणम्।[३४]

भट्ट जी ने 'लक्षणा प्रकरणम्' का प्रारम्भ 'शक्यसम्बन्धसहकारिणी लक्षणा' कहकर शब्द की द्वितीय वृत्ति 'लक्षणा' की परिभाषा से किया है। इसके बाद जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा रूप लक्षणा के तीन भेदों को उनकी परिभाषा एवं उदाहरणों से स्पष्ट किया तथा पुनः उन्हें निरूढा एवं फलवती भेद से विभाजित किया है। अवान्तर भेद-प्रभेद के पश्चाद् व्यधिकरणविषया व समानाधिकरणविषया भेद से लक्षणा को पुनः विभाजित करने के पश्चाद् 'शुद्ध' और 'गौणी' भेदों को परिभाषित करके सभी को अन्यान्य आचार्यों की तद्विषयक विचार परम्परा से व्याख्यायित किया है। यहाँ पर **अमरकोश, कुमारसम्भव, नैषधीयचरितम्, पाणिनीयसूत्र** आदि ग्रन्थों को उदाहृत किया है।

लक्षणा के भेद-प्रभेद के पश्चाद् ग्रन्थकार ने 'लक्षणाप्रयोजक सम्बन्ध' का निरूपण किया है। भट्टानुसार यह पाँच प्रकार का होता है:—

---

३४. त्रिवेणिका, आशाधरभट्ट, पृ० १६, १९५७ संस्करण।

"स पञ्चविधः अवयवावयविभावः, गुणगुणिभावः, क्रियाक्रियावद्भावः, जातिव्यक्तिभावो विशेषनित्यद्रव्याभावश्चेति ।"

इन सम्बन्धों एवं इनके भेद-प्रभेदों को सोदाहरण निरूपित करने के परिप्रेक्ष्य में ही 'लक्षितलक्षणा' एवं 'व्यतिरेकलक्षणा' की सम्यक् विवेचना की गई है। समास की स्थिति को लक्षणेतर निरूपित करने के प्रसंग में किरातार्जुनीयम्, सिद्धान्तकौमुदी एवं वैयाकरणभूषणसार प्रभृति महनीय ग्रन्थों का सदुपयोग किया गया है।

लक्षणा के विवादास्पद 'बीज' के विवेचन को आशाधरभट्ट ने छोड़ दिया है। विचारणीय है कि वैयाकरण 'अन्वयानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज मानते हैं, जबकि मीमांसक 'तात्पर्यानुपपत्ति' को। आशाधर के 'लक्षणा' के विषय के सम्पूर्ण विवेचन में 'तात्पर्यानुपपत्ति' के स्थल उद्धृत नहीं हैं, अपितु अन्वयानुपपत्ति ही मुख्यार्थबाध में सर्वत्र प्रयुक्त हुई है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि आशाधरभट्ट को मुख्य रूप से 'अन्वयानुपपत्ति' ही लक्षणा के बीज के रूप में स्वीकार्य है।

लक्षणापरिच्छेद के अंत में 'लक्षणा' के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए आशाधरभट्ट ने बताया है कि किसी भी रचना में 'अभिधा' के द्वारा अर्थ के प्रतिपादन से आपत्तिजनक प्रयोग करने पड़ते हैं, जबकि लक्षणा के द्वारा उनका सम्मार्जन किया जा सकता है—

"मलसम्मार्जनकर्ता, त्यक्तात्मेहश्च पादचार्यनुगः ।
कृतगमना च विटस्त्री कार्ये गुह्येऽपि तुच्छमूल्यानि ।"[35]

अर्थात् मल का सम्मार्जनकर्ता, आत्मत्याग करने वाला, पादचारी अनुचर और कृतगमना विटस्त्री—ये यद्यपि गुह्य कार्य करते हैं तथापि इनका महत्त्व तुच्छ होता है। इसलिए ही भट्ट जी ने लक्षणा प्रकरण का उपसंहार, मानव-जीवन में वृत्तियों के उपयोग के वैविध्य का निरूपण करके ही किया है :—

"शक्तिं भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा नराः ।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः ॥"[36]

ग्रन्थकार ने 'त्रिवेणिका' के तृतीय एवं अन्तिम 'व्यञ्जनाप्रकरणम्' नामक परिच्छेद का भी प्रारम्भ अन्य परिच्छेदों की परम्परानुसार ही व्यंजना की परिभाषा से किया है :—

"शक्तिलक्ष्यार्थातिरिक्तार्थबोधिका वृत्तिः व्यञ्जना ।"

व्यंजना की सोदाहरण परिभाषा करने के पश्चाद् व्यंजना की सिद्धि की चर्चा की गई है। इसी सन्दर्भ में तार्किकों एवं वैयाकरणों के क्रमशः अनुमान एवं

---

३५. त्रिवेणिका, आशाधरभट्ट, पृ० ३३, १९५७ शुक्ल संस्करण ।
३६. वही, पृ० ३३, १९५७ शुक्ल संस्करण ।

अभिधा में व्यञ्जना के अन्तर्भाव को भट्ट जी ने युक्तिपूर्वक उपस्थापित करके व्यञ्जना को एक स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में प्रतिष्ठापित किया है।

आशाधरभट्ट ने व्यञ्जना के 'शाब्दी' एवं 'आर्थी' नामक दो भेदों की सोदाहरण व्याख्या की है।

ग्रन्थ के अंत में स्वकृत 'प्रभापटल' नामक ग्रन्थ की सूचना देते हुए प्रभापटल के दो पद्यों को युक्तिपूर्वक लिखकर ग्रन्थ की समाप्ति की है। अन्त में :—

"इति पदवाक्यप्रमाणपारावारीणश्रीरामजीभट्टात्मजाशाधरभट्टविरचिता त्रिवेणिका समाप्ता।" पुष्पिका दी है।[३७]

४ काव्यशास्त्रीय शब्दशक्तिविषयक ग्रन्थों की संक्षिप्त पृष्ठभूमि :—

'त्रिवेणिका' नामक ग्रन्थ में आशाधरभट्ट ने शब्द की तीनों वृत्तियों का जो निरूपण किया है, वह साङ्गोपाङ्ग तो है ही, अनेक दृष्टियों से मौलिक भी है। आशाधरभट्ट की प्रतिभा केवल विषयों के संकलन में ही निहित नहीं है, अपितु विषय पर कुछ-न-कुछ नई बात कहने में है।

पूर्वाचार्यों के द्वारा निरूपित विषयों का भी जब वे निरूपण करने लगते हैं, तो उनके विवेचन की योजना इनकी अपनी होती है। ये पिष्टपेषण करना नहीं जानते, अपितु किसी भी विषय को इसलिए लेते हैं क्योंकि उनको उस पर नई बात कहने को है। यहाँ स्थूल रूप से मैं ग्रन्थकार आशाधरभट्ट की ऐसी ही कुछ ('त्रिवेणिका' सन्दर्भ की) उपलब्धियों का निरूपण करना चाहूंगा।

संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में शब्दशक्ति या शब्दवृत्ति को लेकर विवेचन करने वाले ग्रन्थों की संख्या कम नहीं है। तथापि केवल चार हा ग्रन्थ ऐसे हैं जो स्वतन्त्र रूप से वृत्ति या शब्द-शक्ति का विवेचन करते हैं :—

क. इनमें सबसे प्रथम ग्रन्थ **मुकुलभट्ट** की **अभिधावृत्तिमातृका** है, जो संभवतः इस उद्देश्य से लिखी गई थी कि आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा प्रतिपादित नई वृत्ति व्यञ्जना का अभिधा एवं लक्षणा में ही अन्तर्भाव साधित किया जा सके। मुकुल भट्ट का विवेचन अपने आप में बहुत गहन है तथा तत्कालीन भाषा-शास्त्रीय समस्याओं एवं विवेचनों का एक उत्कृष्ट निदर्शन है। आशाधरभट्ट ने त्रिवेणिका में 'व्यञ्जना प्रकरण' के अन्तर्गत मुकुलभट्ट प्रभृति के अभिधा और लक्षणा में व्यञ्जना के अन्तर्भाव का पूर्ण खण्डन किया है।

---

३७. आशाधरभट्ट; त्रिवेणिका, पृ० ३८, १९५७ शुक्ल संस्करण।

ख. मुकुलभट्ट के पश्चाद् आचार्य मम्मट ने सम्भवतः 'काव्यप्रकाश' की रचना करने से पहले ही 'शब्द-व्यापार-विचार' नामक लघुकृति की रचना की; किन्तु उसके अनुशीलन के बाद ज्ञात होता है कि उन्होंने काव्यशास्त्र में 'शब्दशक्ति' के विवेचन करने की बात तभी सोच ली थी। परिणामतः 'शब्द-व्यापार-विचार' बेमन से लिखी हुई कृति प्रतीति होती है।

ग. आचार्य मम्मट के बाद शब्दवृत्तियों पर लेखनी उठाई अप्पयदीक्षित ने जिनकी कृति 'वृत्तिवार्तिक' अधूरी ही उपलब्ध है।

घ. अप्पयदीक्षित के बाद आशाधरभट्ट प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने शब्द-शक्ति-विषयक दो स्वतन्त्र ग्रन्थों को पूर्ण एवं सुव्यवस्थित रूप से लिखा है। प्रथम कृति का नाम है '**कोविदानन्द** और दूसरी कृति को '**त्रिवेणिका**' के नाम से जाना जाता है।

त्रिवेणिका अपेक्षया अधिक प्रौढ एवं सफल कृति है।

५. ग्रन्थगरिमा

'त्रिवेणिका' आशाधरभट्ट की दूसरी रचना है। इस कृति के आमूल मनन एवं चिन्तन से भट्ट जी के व्याकरण, न्याय, मीमांसा, दर्शन, आयुर्वेद एवं ज्योतिष तथा वेदवेदाङ्गादि एवं रामायण और महाभारत जैसे महनीय ग्रन्थों के सम्यक् ज्ञान का परिचय मिल जाता है।

(१) आशाधरभट्ट प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने वृत्ति सामान्य का लक्षण प्रस्तुत किया है :—

"वर्तते शब्दोऽर्थे प्रवर्ततेऽनयेति वृत्तिः"।

इनके पूर्ववर्ती आचार्यों में से किसी ने भी वृत्ति का कोई लक्षण नहीं दिया था। आशाधरभट्ट द्वारा प्रस्तुत वृत्ति का लक्षण '**व्युत्पत्यात्मक**' होने के साथ ही साथ सारगर्भित भी है। भाव यह है कि शब्द की अर्थ में प्रवृत्ति साक्षात् नहीं होती, अपितु, किसी माध्यम से ही होती है। वैयाकरणों ने इसके लिए 'स्फोट' के सिद्धान्त का विस्तार किया है, किन्तु आलङ्कारिकों ने उसकी अपेक्षा वृत्ति के सिद्धान्त को अपनाया। इस विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द और अर्थ के बीच कोई एक शक्ति अवश्य कार्य करती है, जिसमें हमें शब्द के द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है। 'वृत्ति' के उपर्युक्त सरल लक्षण में इतने बड़े महत्त्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन किया गया है कि 'शब्द से अर्थ की प्रतीति का कोई न कोई व्यापार माध्यम होता है।"—यही आशाधरभट्ट की मौलिकता है।

(२) आशाधरभट्ट ने शब्द की तीनों वृत्तियों को क्रमशः गङ्गा, यमुना और सरस्वती उपमित संज्ञाओं को मनोरम वर्णन का आधार माना है। ग्रन्थकार के

द्वारा शक्ति अर्थात् अभिधा को गङ्गा, भक्ति अर्थात् लक्षणा को यमुना, तथा व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना को अन्तःसलिला सरस्वती कहना अपने आप में एक विलक्षण बात है :—

"शक्तिभक्तिव्यक्तिगङ्गायमुनागूढनिर्झराः।
निर्वाहवन्त्यः सन्त्यत्र यत्तदेषा त्रिवेणिका ॥[३८]"

इस अभिप्राय का विशद विवेचन यथास्थान कर दिया गया है। यहाँ हम यही बताना चाहते है कि ग्रन्थकार में किसी बात को कुछ नवीनता देकर कहने की पर्याप्त क्षमता है।

(३) पूर्ववर्ती आचार्यों ने शब्द-जन्य अर्थ के अनेक प्रकार के भेद किए हैं, किन्तु आशाधर भट्ट का यह विवेचन कि वह चारु, चारुतर एवं चारुतम होता है—अनुपम ही है—

"शक्तिजन्यं चारु। यथा—पाकं कुरुष्व पाकार्थम्। लक्षणाजन्यं चारुतरम्। यथा गङ्गायां घोषः। व्यञ्जनाजन्यं चारुतमं। यथा गतोऽस्तमर्कः।"[३९]

अभिधा के द्वारा चारु, लक्षणा के द्वारा चारतर एवं व्यञ्जना के द्वारा 'चारुतम' अर्थ की प्रतीति होती है— यह एक मौलिक बात है, जो काव्य में व्यञ्जना के ग्रहण की महत्ता का प्रतिपादक है; क्योंकि उसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ ही चारुतम होता है।

(४) शक्ति के रूढि, योग और योगरूढि नामक भेदों का विवेचन भी आशाधरभट्ट की नई सूझ है। शब्द के प्रकार के भी अवसर पर अन्यान्य शास्त्रों में भी शब्द के यौगिक, रूढ, योगरूढ इत्यादि भेदों के होने का विवरण उपलब्ध होता है, परन्तु ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने उसे 'अभिधा' के भेद बताकर एक अच्छी व्यवस्था प्रदान कर दी है।

(५) **शक्तिग्राहक** के अतिरिक्त **शक्तिनियामक** के होने का भी निरूपण ग्रन्थकार ने जो इस ग्रन्थ में किया है, वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यद्यपि यह निरूपण पूर्वाचार्यों के द्वारा वाक्यपदीय से उद्धृत कारिका पर ही हुआ है, तथापि उसके तत्त्वों और संख्या में अंतर होना तथा नाना प्रकार से उन्हें उदाहृत करना—लेखक की अपनी मौलिकता है।

(६) शब्दों के रूढ होने की प्रक्रिया में **प्रयोगरूढि** के नाम से आशाधरभट्ट द्वारा सर्वथा एक नवीन विवेचन का ही अन्तर्भाव इस ग्रन्थ में किया गया है। **'प्रयोगरूढि'** के अनेक उदाहरण (पङ्कजादि) देकर उनके वैशिष्ट्य का प्रतिपादन भाषाशास्त्र के क्षेत्र में नवोन्मेष है। इसमें ग्रन्थकार ने शब्दों के बनने एवं 'रूढ़'

---

३८. आशाधरभट्ट, त्रिवेणिका; पृ० १, १९५७ शुक्ल संस्करण।
३९. वही, पृ० ३, १९५७ शुक्ल संस्करण।

होने के विचित्र निदर्शन प्रस्तुत किये हैं, जिनका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में यथा-स्थान किया गया है। यहाँ उसका उल्लेखमात्र करना अभिप्रेत है।

(७) लक्षणा के प्रसङ्ग में **आशाधरभट्ट ने लक्षणाप्रयोजक** के नाम से सर्वथा मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। यद्यपि यह 'लक्ष्यार्थ' एवं 'मुख्यार्थ' के सम्बन्ध को लेकर ही किया गया है, तथापि इन सम्बन्धों की मीमांसा अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहन है, तथा जो निदर्शन प्रस्तुत किए गए है, वे पिटे-पिटाये न होकर निखिल संस्कृत वाङ्मय से संगृहीत है। इस सम्बन्ध में इन्होंने तीन प्रकार के सम्बन्धों का विवेचन किया है, परन्तु यह भी बताया है कि इन तीनों सम्बन्धों के रहने पर लक्षणा अवश्य होगी—ऐसा नियम नहीं है। लक्षणा के भेदों के विवेचन के विषय में आशाधरभट्ट ने किसी भी पूर्वाचार्य का अनुसरण नहीं किया है; अपितु उन्होंने भेद-प्रभेद का सारा विवेचन एक नए ही प्रकार से किया है, जिसमें मीमांसकों, वैयाकरणों नैयायिकों एवं अलंकारिकों के द्वारा किए गए लक्षणा के विवेचनों का सार सुतरां विवेचित हो गया है। 'लक्षणा' के भेदों में से **'समानाधिकरणविषया'** एवं **'व्यधिकरणविषया'** नामक भेद इनकी मौलिक कल्पना है।

(८) लक्षणा के भेदों के उदाहरण इन्होंने संस्कृत वाङ्मय की हर विधाओं से लिया है। यहाँ तक कि ज्योतिष शास्त्र के प्रयोगों में भी लक्षणा प्रदर्शित की है, जिसके उदाहरण—

"**रवौ नीलं बुधे पीतम्**," तथा
मातृविद्धौ गणेश्वरः" हैं।

इनका निरूपण यथास्थान कर दिया गया है।

(९) आशाधरभट्ट ने लक्षणा के प्रसङ्ग में अनेक ऐसे उद्धरण दिए हैं, जिनसे सिद्ध किया है कि बहुत से स्थलों पर वस्तुतः लक्षणा होती नहीं, अपितु उसकी भ्रान्ति होती है। उन स्थलों पर अर्थ की प्रतीति शक्ति के द्वारा ही होती है, शक्ति समस्त पद में निहित हो जाती है। इसी तरह 'उपमानोपमेय' एवं 'आरोप' के भी ऐसे स्थल है, जहाँ लक्षणा की भ्रान्ति ही होती है। वस्तुतः वहाँ अर्थ की प्रतीति शक्ति अर्थात् अभिधा के द्वारा ही होती हैं।

लक्षणा के प्रसङ्ग में एक और मौलिक बात आशाधरभट्ट ने कही है कि बहुत से स्थल ऐसे हैं, जहाँ एक की अपेक्षा दो-दो लक्षणाएं साथ-साथ होती है, जिनका विश्लेषण करने से ही पता चलता है। इनके निदर्शनों का विवेचन यथा-स्थान किया जाएगा। मानव जीवन में भी वृत्तियों का वर्णन देते हुए 'त्रिवेणिका' में आशाधरभट्ट ने कहा है कि—'सरल प्रकृति के सामान्य जन अपने व्यवहार में 'शक्ति' अर्थात् अभिधा का ही आश्रयण करते हैं, लेकिन उसी समाज में रहने वाले

कुछ चतुर लोग होते हैं— वे ही अपने व्यवहार में 'लक्षणा' को काम में लेते हैं। 'व्यञ्जना' के व्यवहार करने वाले लोग कमनीय होते हैं, जिन्हें कवि कहा गया है तथा जो सौन्दर्य के पारखी होते हैं—

"शक्ति भजन्ति सरला लक्षणां चतुराः नराः।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः ॥[४०]

ग. कुवलयानन्दकारिका

१. प्रकाशन

आशाधरभट्ट की अलङ्कारशास्त्रीय तृतीय कृति 'कुवलयानन्दकारिका' है। इस पर ग्रन्थकार ने 'अलङ्कारदीपिका' नामक व्याख्या भी लिखी है। इसका प्रकाशन देश एवं विदेश दोनों स्थलों से हुआ है। भारत में इसे सर्वप्रथम प्रकाशित करने का श्रेय 'निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई' को है।[४१] निर्णयसागर प्रेस से ही १९२७ ईसवीय सन् में पांडुरङ्ग जिवाजी द्वारा **अलङ्कारदीपिका** नामक टीका सहित **कुलयानन्द-कारिका** नामक ग्रन्थ का तीसरी बार प्रकाशन सम्पन्न हुआ है। इसके तीन अंश है। वे हैं—**कारिका वृत्ति** एवं **मातृका**। विवेच्य अलङ्कार की परिभाषा एवं उदाहरण कारिका में निबद्ध है तथा कारिका पर सरल एवं बोधगम्य शब्दों में ग्रन्थकार आशाधरभट्ट की **अलङ्कारदीपिका** नामक वृत्ति (व्याख्या) है। तृतीय अंश **मातृका** है जो सम्पादक वासुदेव शर्मा पणशीकर द्वारा जटिल एवं गूढ़ पदों पर टिप्पणी के रूप में लिखा गया है। इसके अन्त में **'कुलयानन्दकारिका'** की टिप्पणी में उल्लिखित पद्यों को वर्णक्रम से व्यवस्थित कर दिया गया है। वासुदेव शर्मा पणशीकर ने इस प्रकाशन का उद्देश्य सामान्य लोगों के लिए अलङ्कारविषयक ज्ञान का सम्यक् प्रचार एवं प्रसार ही निर्दिष्ट किया है, जिनकी पुष्टि उन्हीं के शब्दों से होती है—

"कुवलयानन्दस्य कोमलमतिबालानां दुरूहत्वात् केवलं कुवलयानन्दकारिका एव पृथगुद्धृत्य श्रीमदाशाधरपण्डितेन सरलसुबोधव्याख्यासनाथीकृतमिदं पुस्तकं महता प्रयासेन संपाद्यास्माभिः पूर्वं मुद्रितमासीत्, तथापि तत्र पदच्छेदपरसवर्णादि-वैकल्यं मूल्यमप्यधिकमित्यापन्निरसनायाधुनाधुनिकप्रणालिकया यथाध्येतृबालमनो-विनोदावहं स्यादिति व्याख्योदाहरणटिप्पण्यादिभिः श्लोकवर्णक्रमकोशेन च मण्ड-यित्वा पुस्तकरूपेण मुद्रितं सर्वेषामुपकाराय स्यादित्याशास्ते।"[४२]

आशाधरभट्ट की **अलङ्कारशास्त्रीय** पूर्वरचित दोनों कृतियों की अपेक्षा **कुवलयानन्दकारिका** ने विद्वानों को विशेष रूप से आकृष्ट किया। फलतः १९वीं

---

४०. आशाधरभट्ट, त्रिवेणिका, पृ० ३३, १९५७ शुक्ल संस्करण।

४१. Prof. V. Raghavan, New C. Catalogorum, Vol. II. page 193, 1966

४२. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका (वासुदेव शर्मापणशीकर संस्करण) प्रस्तावना भाग, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

शताब्दी में ही इसके अनेक प्रकाशन हुए। जिनमें से 'निर्णयसागर' का प्रकाशन सर्वोत्कृष्ट माना गया।[४३] इस कृति का प्रथम प्रकाशन सन् १८८६ में निर्णयसागर बम्बई से हुआ।[४४] मुझे इसकी जो प्रति उपलब्ध हो सकी है वह निर्णयसागर के प्रकाशन का ही १९२७ में प्रकाशित तृतीय संस्करण है। '**कुवलयानन्दकारिका**' की ओर विदेशी विद्वानों का भी ध्यान आकृष्ट हुआ तथा जर्मनी के विद्वान् आर० स्मित (R. Schmidt) ने इसका जर्मन भाषानुवाद १९०७ में बर्लिन से प्रकाशित किया। बहुत प्रयत्न करमे पर भी मुझे निर्णयसागर के अतिरिक्त कोई और प्रकाशन उपलब्ध नहीं हो सका। निर्णयसागर के प्रथम एवं द्वितीय संस्करण भी मुझे देखने को नहीं मिले। बहुत खोज-बीन करने पर निर्णयसागर के तृतीय संस्करण की कुछ प्रतियाँ सौभाग्य से उपलब्ध हो गईं। 'कुवलयानन्दकारिका' एक अन्ताराष्ट्रीय ख्यातिलब्ध कृति है।

२. नामकरण

'कुवलयानन्दकारिका' नाम से अनेक भ्रान्तियां उत्पन्न होती हैं। **कुवलयानन्द** अप्पयदीक्षित की कृति है जिसमें कारिका और वृत्ति सम्मिलित हैं। आशाधरभट्ट ने 'कुवलयानन्द' कारिकांश को ज्यों का त्यों ग्रहण कर उस पर अपनी वृत्ति लिखी है। अप्पयदीक्षित द्वारा लिखित वृत्ति अंश का सर्वथा परित्याग कर दिया है। सम्भवतः इसी भाव को प्रकट करने के लिए कि उन्होंने कुवलयानन्द की केवल कारिकाओं को ही ग्रहण किया है तथा ग्रन्थ का नाम 'कुवलयानन्दकारिका' रखना उचित समझा। यद्यपि प्रकृत कुवलयानन्दकारिका ग्रन्थ के प्रथम लक्ष्यलक्षणप्रकरण की कारिकाएं अप्पयदीक्षित द्वारा रचित कुवलयानन्द की कारिकाएं ही हैं। शेष दोनों उद्दिष्टालङ्कार एवं परिशेषालङ्कार प्रकरण की कारिकाएँ आशाधरभट्ट की रचना है, जिन पर वृत्ति प्रथम प्रकरण पर लिखी गई है। इस प्रकार द्वितीय एवं तृतीय प्रकरणों की कारिकाओं के अप्पयदीक्षित द्वारा रचित कुवलयानन्द की न होने के कारण पूरे ग्रन्थ का नाम **कुवलयानन्दकारिका** रखना सर्वथा समुचित प्रतीत नहीं होता तथापि 'छत्रिणो यान्ति' की तरह ही **कुवलयानन्दकारिका** नाम लाक्षणिक प्रयोग ही है।

यह ग्रन्थ २०१ कारिकाओं का है जिनमें से १७२ अप्पयदीक्षित की तथा शेष २९ आशाधरभट्ट की रचना हैं। कुवलयानन्द की कारिकाएँ भी सभी अप्पयदीक्षित की ही रचना नहीं है, अपितु उनमें से बहुत बड़ी संख्या उन कारिकाओं की है जो चन्द्रालोक के कर्ता जयदेव द्वारा रचित हैं, जिसका विशेष विवेचन आगे किया जायेगा। प्रकरणत्रयात्मक ग्रन्थ **कुवलयानन्दकारिका** में उपलभ्यमान कारिकाओं की

---

४३. Prof. Batuknath Sharma, Introduction, Trivenika of Asadhar Bhatta, 1925

४४. Prof. V. Raghavan, New Catalogus Catalogorum, Vol. II. p. 193, University of Madras, 1966.

कुल संख्या २०१ है, जिनमें से प्रथम 'लक्ष्यलक्षणप्रकरणम्' में १७२ कारिकाएं हैं। शेष दोनों प्रकरणों में क्रमशः २१ और ८ कारिकायें हैं। यह ग्रन्थ 'अलङ्कार-दीपिका' नामक स्वोपज्ञ टीका से, जो वृत्ति के रूप में है, समन्वित है। इस वृत्ति अंश का नाम 'अलङ्कारदीपिका' सम्भवतः इसलिए रखा गया है कि इसमें कारिकाओं के लक्ष्य-लक्षण भाग को सुचारु रूप से व्याख्यायित कर सुतरां बोधगम्य बना दिया गया है। अतएव ग्रन्थकार ने इसे **'बालानामुपकारिणी'** भी कहा है। **अलङ्कारान् सर्वथा सुतरां दीपयति प्रकाशयति इति अलङ्कारदीपिका** व्युत्पत्ति से उक्त कृति का नाम सार्थक है।

आशाधरभट्ट ने अगर इस ग्रन्थ का नाम **कुवलयानन्दकारिका** न रखकर **अलङ्कारदीपिका** ही रखा होता तो अधिक उपयुक्त होता क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रालोक को अप्पयदीक्षित ने उसका नाम चन्द्रालोक कारिका न रखकर 'कुवलया-नन्द' रखा जिसके नाम से चन्द्रालोक का कोई सम्बन्ध प्रगट नहीं होता यद्यपि उन्होंने भी आशाधरभट्ट की तरह अनेक नई कारिकाओं की रचना की थी।

३. स्वरूप एवं विवेच्य विषय

'कुवलयानन्दकारिका' स्वरूप की दृष्टि से एक विलक्षण कृति है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि यह मूर्धन्य आलङ्कारिक अप्पयदीक्षित कृत 'कुवलयानन्द' पर आधृत है तथा यह भी निर्विवाद मान्यता है कि कुवलयानन्द में मात्र अर्थालङ्कारों का ही विवेचन है। जयदेव ने अपने ग्रन्थ **चन्द्रालोक** की कारिकाओं को अनुष्टुप छंद में निबद्ध किया है, जिनके पूर्वार्द्ध में लक्षण तथा उत्तरार्ध में उदाहरण (लक्ष्य) पाये जाते हैं। जयदेव ने 'चन्द्रालोक' के पंचम मयूख में कुल १०४ अलङ्कारों का विवेचन किया है, जिनमें ८ शब्दालङ्कार हैं :—

१. छेकानुप्रास, २. वृत्त्यनुप्रास, ३. लाटानुप्रास, ४. स्फुटानुप्रास, ५. अर्थानुप्रास, ६. पुनरुक्तप्रतीकाश, ७. यमक और ८. चित्रालङ्कार। इसके अतिरिक्त उपमादि ९३ अर्थालङ्कारों का विवेचन है।

अप्पयदीक्षित ने अपनी कृति **कुवलयानन्द** में चन्द्रालोक के अर्थालङ्कारों में से कई अलङ्कारों के नए भेदों की समुद्भावना की है, जिनमें रूपक, प्रतीप, तुल्य-योगिता, विभावना, विषम आदि प्रमुख हैं तथा इसके साथ-ही-साथ १७ नवीन अलङ्कारों का संकेत दिया है। कुवलयानन्द के परिशिष्ट में ७ रसवदादि अलङ्कार एवं १० प्रमाणालङ्कारों को भी अलङ्कार कोटि में रखा गया है जबकि जयदेव ने 'चन्द्रालोक' में अन्य अलङ्कारों के द्वारा इनके विवेचित होने का उल्लेख मात्र किया है :—

रसवत्प्रेय उर्जस्विसमाहितमयाभिधाः ।
भावानामुदयः सन्धिः शबलत्वमिति त्रयः ।।''[४५]

इससे यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि जयदेव को रसवदादि की अलङ्कारता मान्य नहीं थी। अतएव उन्होंने अन्य अलङ्कारों की भाँति इनका लक्षणोदाहरणात्मक निरूपण नहीं किया। अपितु केवल नामतः परिगणित कर दिया है। पर अप्पयदीक्षित को रसवदादि की अलङ्कारता मान्य थी। फिर भी उनके लिए नई कारिकाएँ तो नहीं रची पर कुवलयानन्दवृत्ति में ही इनके लक्षण एवं उदाहरण का विवेचन पूर्ववत् किया। प्रमाणादि १० अलङ्कारों की स्थितिरसवदादि से कुछ भिन्न इस रूप में थी कि चन्द्रालोककार ने इनका नामतः भी उल्लेख नहीं किया था। पर अप्पयदीक्षित ने इनका 'वृत्ति' प्रणाली में ही काव्यों से उदाहरण देते हुए विवेचन किया था। आशाधरभट्ट ने रसवदादि एवं प्रमाणादि अलङ्कारों के लिए भी लक्ष्य लक्षणात्मक कारिकाएं रचकर उन पर 'दीपिका' नामक वृत्ति भी लिख दी जिससे समूचे ग्रन्थ में एकरूपता आ गई—

''येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः ।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते ।।''[४६]

उक्त ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं :—

१. लक्ष्यलक्षणप्रकरणम्
२. उद्दिष्टालंकारप्रकरणम्
३. परिशेषालंकारप्रकरणम्

'लक्ष्यलक्षण' नामक प्रथम प्रकरण में कुल १७२ कारिकाएं हैं, जिनमें ४९ कारिकाएं अविकल रूप से जयदेव के चन्द्रालोक से ली गई हैं। ये सभी कारिकाएं चन्द्रालोक, कुवलयानन्द एवं कुवलयानन्दकारिका में अविकल रूप से उपलब्ध हैं। वे हैं :—

८, ९, २०, २२, २३, २८, २९, ३४, ३९; ४०, ४१, ४९, ५१, ५५, ५६, ५७, ५९, ६०, ६१, ७२, ७६, ८३, ९३, ९७, ९८, १०१, १०३, १०४, १०६, १०८, १११, ११२, ११४, ११७, ११८, १२३, १२९, १३१, १४०, १४४-१४६, १५१, १५२, १५८, १६१, १६२, १६४, १७०.

इसी प्रकरण में ९ ऐसी कारिकाएं हैं जिनका पूर्वार्द्ध चन्द्रालोकानुरूप है त उत्तरार्द्ध अप्पयदीक्षित ने स्वयं बनाया है। वे हैं :—

४, २७, ३६, ५०, ६४, ९४, १२४, १२५ और १४३.

---

४५. जयदेव, चन्द्रालोक, पृ० १२८।

४६. अप्पयदीक्षित, कुवलयानन्द, का० ५।

अप्पयदीक्षित ने ९ कारिकाओं का पूर्वार्द्ध ही परिवर्तित किया है। उत्तरार्ध चन्द्रालोकानुरूप है। वे हैं—

२६, ४२, ६०, १०६, ११६, १२०, १२१, १४२ और १४७.

इसके अतिरिक्त अप्पयदीक्षित की निम्नलिखित १०५ कारिकाएं स्वयं की रचनाएँ हैं :—

५-७, १०-१६, २१, २४, २५, ३०-३३, ३५-३८, ४२-४८, ५२-५४, ५८, ६२, ६३, ६५-७१, ७३-७५, ७७-८२, ८४-८९, ९१, ९२, ९५, ९६, ९९, १००, १०२, १०५, १०७, ११०, ११३, ११५, ११६, १२२, १२३, १२६, १२७, १२८, १३०, १३२, १३३, १३४, १३६-१३९, १४८-१५०, १५३-१५७, १५९, १६३, १६५-१७१, और १७२.

इस प्रकार प्रथम प्रकरण की 'कुवलयानन्दकारिका' की समग्र कारिकाओं में जयदेव, अप्पयदीक्षित और आशाधरभट्ट की कारिकाओं का विवरण निम्नहै :—

१. जयदेव कृत 'चन्द्रालोक' की	=४९ कारिकाएं
२. अप्पयदीक्षित कृत 'कुवलयानन्द' की	=१०५ कारिकाएँ
३. 'चन्द्रालोक' एवं 'कुवलयानन्द' की	=१८ कारिकाएं
४. आशाधरभट्ट की २१+८	=२९ कारिकाएँ
	....
	कुल कारिकाएँ=२०१

इन सभी कारिकाओं पर आशाधरभट्ट ने 'अलङ्कारदीपिका' नामक वृत्ति लिखी है। कुवलयानन्दकारिका के विवेच्य विषय में उनमें निरूपित १२९ अलङ्कार है, इनका साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रकृत प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय में विस्तार के साथ किया गया है।

तृतीय अध्याय

शब्द-शक्ति

(क) (१) शब्द-शक्ति के स्वरूप का ऐतिहासिक विकास

आचार्य मम्मट ने शब्द की अभिधा, लक्षरगा, व्यञ्जना तथा तात्पर्य नामक चार वृत्तियों का निरूपरग अपनी प्रतिनिधि कृति 'काव्यप्रकाश' में किया है। यह एक प्रामारिगक विवेचन के रूप में सर्वमान्य है, किन्तु महाभाष्यकाल तक इन वृत्तियों का कोई स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। वेदाङ्ग साहित्य के माध्यम से ही हम कुछ उदाहरणों के माध्यम से शब्दवृत्तियों के विषय में आचार्यों की जानकारी का संकेत पाते हैं। यास्क ने वैदिक मंत्रों की व्याख्या के प्रसंग में कहा है कि शब्दों का अर्थ उनकी व्युत्पत्ति से करना चाहिए किन्तु यदि व्युत्पत्ति सम्भव नहीं हो तो किसी भी वृत्ति से अर्थ किया जा सकता है।

"अथानन्वितेऽर्थे प्रादेशिके दिकारेऽर्थनित्यं परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येन। केनचिद् अर्थवृत्तिसामान्येन क्रियागुरगसामान्येन इत्यर्थः ॥"[1]

निरुक्त में 'स्थाणुरयम् भारहारः' जैसे प्रयोगों को 'जघन्यावृत्ति' कहा गया है। शौनक कृत बृहद्देवता में शब्द से अर्थ की प्रतीति की प्रक्रिया का विवेचन उपलब्ध होता है। शौनक का कहना है कि भाषा में प्रयुक्त पदों के अर्थ ही प्रधान होते हैं तथा शब्द गौरग होता है। वह 'तद्गुरगायत्त' अर्थात् अर्थ के गुरग के अनुरूप होता है। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने कहा है कि शब्द को नाना प्रकार के अन्वय के उपाय से अर्थ के अनुकूल लाना चाहिए :—

"प्रधानमर्थः शब्दो हि तद्गुरगायत्त इत्यते।
तस्मान्नानान्वयोपायैः शब्दनर्थ वंश नयेत् ॥"[2]

प्रकृत निदर्शन में '**नानान्वयोपायैः**' पद (शब्द) विशेष महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि अन्वयोपाय ही आगे चलकर शब्दवृत्ति के रूप में पहचाना गया है। इसका नानात्व ही वृत्तियों की अनेकता का सूचक है। बृहद्देवता में यह प्रश्न भी उठाया गया है कि केवल शब्द ही अर्थ की प्रतीति के लिए पर्याप्त होता है अथवा पूर्ण वाक्य? इस प्रसङ्ग में अभिधा प्रकरण में 'नैरुक्त' एवं 'नानान्वय' आदि संकेत

---

१. यास्क : निरुक्त द्वितीय अध्याय, प्रथम पाद तथा दुर्गवृति।
२. शौनक : बृहद्देवता, २।९९।

बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इससे यही ज्ञात होता है कि यास्क के काल तक वेद की व्याख्या में प्रवृत्त वेदाङ्गों में शब्द की वृत्तियों की जानकारी के संकेत तो अवश्य प्राप्त होते हैं पर उनका स्वतन्त्र रूप से विवेचन नहीं हुआ है। प्रो० मरुल सिद्धैया ने अपनी कृति 'शब्दवृत्तिः' में वृत्ति पद के विविध अर्थों में हुए (१५) प्रयोगों का निर्देश किया है।

(१) **पञ्चिका** :—अर्थात् ऐसी व्याख्या जिसमें प्रत्येक शब्द की व्याख्या की गई हो अर्थात् प्रत्येक शब्द का विश्लेषण किया गया हो। '**कातन्त्रवृत्ति पञ्चिका**' व '**प्रकरण पञ्चिका**' में प्रयुक्त 'वृत्ति' पद इसके निदर्शन हैं।

(२) किसी ग्रन्थ की किसी के द्वारा की हुई टीका या भाष्य पर किसी अन्य के द्वारा की गई प्रटीका के लिए भी 'वृत्ति' पद का प्रयोग हुआ है। शाङ्करभाष्य पर आनन्दगिरि की 'वृत्ति' तथा **न्यायवार्तिक** पर 'तात्पर्यवृत्ति' उक्त कोटि के उदाहरण हैं।

(३) सूत्रग्रन्थ की संक्षेप में की गई व्याख्या को भी 'वृत्ति' कहा गया है, जिसका निदर्शन पाणिनीय सूत्रों की भट्टोजिदीक्षित द्वारा की गई वृत्ति है। इसी मन्तव्य से राजशेखर ने भी लिखा है :—

"**सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः।**"[3]

(४) 'वृत्ति' पद का प्रयोग सरल व्याख्या के रूप में भी हुआ है। '**काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति**' नाम ऐसा ही उदाहरण है।

(५) व्याकरणशास्त्र में कृत्, तद्धित, समास, एकशेष और सनाद्यन्त नामक **पाँच** वृत्तियां भी 'वृत्ति' पद की विशेष प्रसिद्धि की परिचायक हैं।

(६) नाट्यशास्त्र में भी 'वृत्ति' का प्रयोग मिलता है। ये हैं—भारती, सात्वती, आरभटी और कैशिकी। इनका प्रतिपादन आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में सविस्तार किया है।

(७) 'वृत्ति' का अर्थ व्यवहार भी होता है, जिसका समर्थन आनन्दवर्धन ने '**व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते**' कहकर किया है।

(८) वाक्य में पदों को सम्बन्ध के रूप में भी वृत्ति पद का प्रयोग किया गया है। जिसकी पुष्टि यास्क की उक्ति 'अथानन्वितेऽर्थेप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येन'[4] से होती है।

(९) विश्वनाथ पञ्चानन ने 'वृत्ति' पद का प्रयोग—(१) **वृत्या पदजन्यत्वं बोध्यम्** और **वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धः**[5] कहकर शक्ति रूप में वृत्ति पद

---

३. राजशेखर, काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय।

४. यास्क, निरुक्त, द्वितीय अध्याय, प्रथम पाद।

५. विश्वनाथ पञ्चानन, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली एवं कारिकावली, शब्द खण्ड का० ८१, वृत्ति भाग

का प्रयोग किया है ।

(१०) काव्यशास्त्र में 'वृत्ति' पद का प्रयोग उपनागरिका, कोमला और परुषा नामक तीन काव्य-वृत्तियों के लिए कहा गया है। ये भाषागत वृत्तियाँ हैं जिन्हें काव्यप्रकाश में निम्न रूप से परिभाषित किया गया है :

१. 'माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।"

२. 'कोमलाऽपरैः'

३. ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा' —काव्यप्रकाश ६।८०

(११) राजशेखर ने 'वृत्ति' की व्याख्या **'विलासविन्यासक्रमो वृत्तिः'** पदावली से किया है।

वृत्ति का अर्थ 'रीति' भी होता है। वैदर्भी, गौणी, एवं पांचाली नामक वृत्तियों का परिगणन उक्त अर्थ में ही किया जाता है।

(१२) वृत्ति का तात्पर्य 'नियम' भी होता है। 'कामवृत्या विमोक्षे' वाक्य इसी भाव का प्रतिपादन करता है।

(१३) 'वृत्ति' का अर्थ जीविका भी होता है। **केन वृत्तिं कल्पयामि** उक्ति उक्त सन्दर्भ की प्रतीति कराती है।

(१४) 'वृत्ति' पद का अर्थ 'चैतन्य' भी होता है। यह वेदान्तियों का मत है।

(१५) वृत् धातु से क्तिन् प्रत्ययपूर्वक निर्मित वृत्ति शब्द का अर्थ जीवन की सहायिका है। वर्तन् का अर्थ जीवन है और उसी की वृत्ति को जीविका (जीवन) कहते हैं। अस्तु वृत्ति पुरुषार्थ के साधक व्यापार का बोधक है। आचार्य अभिनवगुप्त ने तो 'वृत्ति' को पुरुषार्थ एवं इसे ही काव्य की 'माता' कहा है—

"तस्माद् व्यापारः पुमर्थसाधको वृत्तिः। सः च सर्वत्र वर्ण्यते इत्यतो वृत्तिः शब्दस्य मातृका इति। न किंचिदपि व्यापारशून्यं वर्णनीयमस्ति।"[६]

एक स्थल पर अभिनवगुप्त ने वृत्ति की व्याख्या 'काय-वाङ्-मनसां चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तयः"[७] कहकर की है।

अभिनवगुप्त के ही भाव को सङ्गीतरत्नाकर की व्याख्या में श्रीमल्लिनाथ ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है :—

"वृत्तिर्नाम वाङ्मनःकायानां चेष्टा पुरुषार्थोपयोगिनी चेति सामान्य-लक्षणम् ।"[८]

(१६) ध्वन्यालोककार तो व्यापार को ही वृत्ति पद से अभिहित करते हुए लिखते हैं—

---

६. अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, प्रथम अध्याय।

७. वही।

८. सङ्गीतरत्नाकर की मल्लिनाथीय व्याख्या।

"तद्व्यापारात्मिका वृत्तिः ।"[९]

अर्थात् काव्य अथवा नाटक के पात्रों की चेष्टा ही वृत्ति है।

भरतमुनि ने तो वृत्तियों को काव्य एवं नाट्य की 'माता' तक कह दिया है।

सर्वेषामेव काव्यानां वृतयो मातृकाः स्मृताः ।[१०]

(१७) आचार्य मम्मट के अनुसार रसव्यञ्जना सम्बन्धी व्यापार जो नियत वर्णों में निहित होता है, वृत्ति पद से अभिहित होता है, जिसकी पुष्टि **वृत्तिनियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः"**[११] से होती है।

सबसे पहले शब्द से अर्थ की प्रतीति के सम्बन्ध में 'वृत्ति' पद का प्रयोग निरुक्त में मिलता है, जहाँ पर आचार्य ने कहा है कि जब कोई शब्द अन्वित अर्थ में प्रयुक्त न हो तथा उसमें लगे प्रत्यय आदि का भी ज्ञान न हो पाता हो तो किसी वृत्ति सामान्य से उसकी परीक्षा करनी चाहिए। यहाँ पर वृत्ति सामान्य पद की व्याख्या करते हुए स्कन्दस्वामी ने लिखा है :—

"यत्सामान्यं तेन तत्र प्रवृत्तिः इति प्रतीयात् ।[१२]"

अर्थात् सामान्य के माध्यम से उस शब्द की प्रवृत्ति समझनी चाहिए। वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उन्होंने लिखा है :—

"वर्तते तत्र शब्द इति वृत्तिरर्थ उच्यते ।।"[१३]

इसका अभिप्राय यह है कि जिस अर्थ में शब्द प्रयुक्त होता है बह अर्थ ही 'वृत्त' है।

'देवराजयज्वा' ने भी 'वृत्तिसामान्येन' का 'अर्थ-प्राधान्येन' ही अर्थ किया है। दुर्गाचार्य ने भी वृत्ति पद का अर्थ 'वृत्तिः अत्र अर्थः' कहकर 'अर्थ' ही किया है।

ये वृत्ति और प्रवृत्ति को एक ही मानते हैं, जब यह कहते हैं—

"नानाभावेन अर्थेष्ववस्थितिः प्रवृत्तिः ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि यास्क ने वृत्ति शब्द का प्रयोग अपने निरुक्त में शब्दार्थ के सम्बन्ध में पहली बार किया है तथा वृत्ति और प्रवृत्ति को एक

---

९. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक

१०. भरत, नाट्यशास्त्र, २०।४

११. मम्मट, काव्यप्रकाश, ९।७८

१२. स्कन्दस्वामी, महेश्वर, संपादित डा० स्वरूप, द्वितीय भाग, तृतीय भाग, १९३१ संस्करण

१३. यास्क, निरुक्त, १-१-१

ये वृत्ति और प्रवृत्ति को एक ही मानते हैं, जब यह कहते हैं :—

"नानाभावेन अर्थेष्ववस्थितिः प्रवृत्तिः ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि यास्क ने वृत्ति शब्द का प्रयोग अपने निरुक्त में शब्दार्थ के सम्बन्ध में सबसे पहली बार किया हैं तथा वृत्ति और प्रवृत्ति को एक माना है, जिसके आधार पर क्रिया, गुण सामान्य के आधार पर जब शब्द अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसी को 'वृत्ति' कहा जाता हैं ।

शौनक ने भी बृहद्देवता में 'वृत्ति' पद का प्रयोग किया है। उनका कहना है कि सामान्यवाची शब्द जब विशेष अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तो वृत्ति के अनुसार ही होते हैं । यहाँ भी 'वृत्ति' शब्द 'प्रवृत्ति' अर्थ को ही प्रकट करता है :

"सामान्यवाचिनः शब्दा विशेषे स्थापिताः क्वचित् ।
पलायने यथा वृत्तिः कोनु मर्या इतीष्यते ।"[१४]

पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में वृत्ति पद का परिगणन भिरिक्यादिगण,[१५] क्रथादिगण[१६] में किया गया है तथा शक्ति पद का भी प्रयोग उन्होंने बह्वादि-गण[१७] में 'शक्तिः शस्त्रे' से किया है, किन्तु इसके आधार पर कोई स्पष्ट धारणा नहीं बनाई जा सकती कि पाणिनि के समय में वृत्ति या शक्ति पद शब्दार्थ-सम्बन्ध में प्रयुक्त होते थे या नही । पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में 'वृत्ति' पद का न केवल प्रयोग किया है, अपितु उसे लक्षित भी किया है । वे प्रश्न करते हुए कहते हैं—

"अथ ये वृत्तिं वर्तयन्ति किं ते आहुः"[१८]

जो 'वृत्ति' का व्यवहार करते हैं वे क्या कहते हैं ? महाभाष्यकार ही स्वयं उत्तर देते हुए कहते हैं :—

"पराणां शब्दानां अर्थाभिधानम् (सामर्थ्यम्) ।"

एक अन्य स्थल पर 'वृत्ति' की व्याख्या 'वृत्तेः' समासादिरूपायाः धर्मभूतायाः वृत्तिः शक्तिः तद्रूपं सामर्थ्यम्'[२०] अर्थात् शब्दों का अर्थाभिधान रूप सामर्थ्य ही वृत्ति है । इसको और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :—

---

१४. शौनक : वृहद्देवता, द्वितीय भाग, तृतीय भाग, पृ० ५४

१५. पाणिनि : अष्टाध्यायी, ४-४-१०२,

१६. वही, ४-१-४५

१७. पाणिनीय गणपाठ, ४-१-४५

१८. पतञ्जलि : व्याकरण महाभाष्य, पृ० ३२८

१९. पतंजलि : व्याकरण महाभाष्य, भाग २ उद्योत पृ० ३२८

२०. वही,

"परस्य शब्दस्य योऽर्थः तस्य अभिधानम् वृत्तिः इत्यर्थः।"[२१]

महाभाष्य में व्याकरण के प्रयोजन का परिगणन कराते हुए 'वृत्तिः समवायार्थ, उपदेशः' कहा गया है। अर्थात् व्याकरण का उपयोग वृत्ति समवाय के लिए है। यहाँ पर वृत्ति पद के विषय में स्वयं प्रश्न किया है—'का पुनर्वृत्तिः? इसका उत्तर दिया है 'वृत्तिः शास्त्र प्रवृत्तिः'। अर्थात् व्याकरणशास्त्र की प्रवृत्ति ही वृत्ति है जो शब्द से अर्थ की प्रतीति कराती है। भर्तृहरि ने **वृत्ति** पद पर टीका करते हुए लिखा है:—

वृत्तिरिति क्रिया।

क्रिया ही वृत्ति है। नागेश ने भी अपनी व्याख्या में यही बात कही है:—

क्रिया साधनाकांक्षिणी।

इस प्रकार 'वृत्ति' एक प्रकार का मानसिक व्यापार है, जिसके द्वारा शब्द अपने अर्थ के साथ सम्बद्ध रहता है।

भर्तृहरि ने अपनी 'वाक्यपदीय' में भी 'वृत्ति' शब्द का प्रयोग अनेकत्र किया है। जिसकी अभिव्यक्ति निम्न उक्तियों से परिलक्षित होती है।

१. वृतावाख्यात सदृशं पदमन्यत्रपुज्यते

२. शब्दान्तरं च यान्तीवशक्तन्यतरपरिग्रहात्

३. आदौ प्रत्यायितैः शब्दैः संबंधयान्ति संज्ञिभिः

इन सब उपर्युक्त स्थलों में 'वृत्ति' पद शब्द की शक्तियों का ही अभिधायक है।

दार्शनिक चिन्तकों ने भी वृत्तियों का विवेचन अपने-अपने सिद्धान्तों के आधार पर किया है। न्याय सूत्रकार **गौतम** ने **वृत्ति** शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से शब्दशक्ति के अर्थ में किया है। इस प्रसंग में शक्ति, संकेत, समयरूढ़ि, योग, **जाति** शब्द-बोध आदि पदों के प्रयोग भी उपलब्ध होते है। शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में उनका कहना है कि वह सामयिक होता है:—

सामयीकत्वात्शब्दार्थसम्बन्धस्य।[२२]

नैयायिकों ने वृत्ति के जो दो स्वरूप स्वीकार किए हैं, वे हैं:—शक्ति और लक्षणा। मीमांसकों ने लक्षणा के अतिरिक्त 'गौणी' वृत्ति की कल्पना की, जिसका आधार व्यक्ति में पाये जाने वाला 'गण' था। इस सन्दर्भ में वृत्तियों में मुख्य एवं गौण भेद का भी विवेचन हुआ। वैयाकरणों ने वृत्ति से अभिधा का ही ग्रहण किया, जो शब्द से अर्थ के संबंध को बताती है।

---

२१. पतञ्जलि: व्याकरण महाभाष्य पृ०-३२८

२२. गौतम: न्यायसूत्र, २-१-५५

नैयायिकों ने 'लक्षणा' को भी स्वीकार किया है। साहित्यशास्त्र के इतिहास में इसकी स्वीकृति 'उद्भट्' के काल तक हो गई थी।

भामह ने **शब्दाच्छन्दोविधानार्थाः** की उक्ति के अर्थ के अभिधानस्वरूप अभिधावृत्ति' की सत्ता का उल्लेख किया है। उद्भट ने इसकी व्याख्या करते हुए **शब्दानां अभिधानम् अभिधाव्याप.रोगुणवृत्तिश्च** लिखा है।

यहाँ अभिधान' शब्द ही मुख्य वृत्ति 'अभिधा' और गुण 'गौण' वृत्तिलक्षणा—ग्रहण कराता है। इससे स्पष्ट है कि भामह के समय तक 'लक्षणा' का आविर्भाव नहीं हो पाया था। 'उदभट' के काल तक भी वह गुणवृत्ति के रूप में ही स्वीकृत थी। आनन्दवर्धन ने अपने **ध्वन्यालोक** में इस तथ्य को निरूपित किया है कि अब तक शब्द की दो वृत्तियों से लोग परिचित हैं। पहली अभिधा और दूसरी गुणवृत्ति अर्थात् लक्षणा। अतएव आनन्दवर्धन प्रतिपादित ध्वनि का 'गुणवृत्ति' में अन्तर्भाव करने का प्रयास करते हैं।

मुकुल भट्ट ने **अभिधा-वृत्ति-मातृका** में यह स्पष्ट कर दिया है कि शब्द का व्यापार दो प्रकार का होता है। पहला मुख्य और दूसरा लाक्षणिक। मुख्य व्यापार का ही नाम है अभिधा तथा लाक्षणिक व्यापार की संज्ञा लक्षणा दी गई है :—

शब्द व्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते।

—अभि० वृ० मा०, पृ० १ का० २

आनन्दवर्धन ने व्यञ्जना नामक शब्द की तीसरी वृत्ति की उद्भावना की, जिसे वैयाकरणों ने 'अभिधा' में, मुकुलभट्ट प्रभृति मीमांसकों ने 'लक्षणा' में तथा महिमभट्ट आदि ने 'अनुमान' में उसके अन्तर्भाव का प्रयास किया। साहित्यिकों में भट्टनायक अभिधावादी हैं।

यद्यपि आनन्दवर्धन के पूर्व मीमांसा के किसी भी ग्रन्थ में तात्पर्य वृत्ति का विधान नहीं मिलता है, तथापि धनंजय प्रभृति आचार्यों ने कुमारिलभट्ट के अनुयायी अभिहितान्ववादियों के पक्ष का समर्थन करते हुए 'तात्पर्य' में व्यंग्यार्थ की गतार्थता का प्रतिपादन किया। इससे ज्ञात होता हैं कि **तात्पर्य वृत्ति** को भी शब्द-शक्ति के रूप में समझा जाता था।

इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी चार वृत्तियों का विवेचन 'ध्वनि' के प्रसंग में मिलता है। पहली अभिधा, जिसका उल्लेख भामह के **काव्यालङ्कार** में अभिधान पद से हुआ दूसरा लक्षणा या गुणवृत्ति जिसका उल्लेख उद्भट ने अपनी 'भामह-विवरण' नामक टीका में किया तथा मुकुलभट्ट ने जिसका अनुसरण कर

ध्वनि का अन्तर्भाव उसी में प्रदर्शित करने की चेष्टा की। तीसरी तात्पर्य वृत्ति है जिसका सम्बन्ध मूल रूप से **अभिहितान्वयवादी मीमांसकों** से था, पर **धनिक** ने **दशरूपक** की **अवलोक** टीका में इसका समर्थन करते हुए उसी में व्यंग्यार्थ के अन्तर्भाव की बात कही। चौथी व्यञ्जना वृत्ति है, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता आनन्दवर्धन ने प्रतिपादित की तथा अभिनवगुप्त एवं आचार्य मम्मट ने जिसका समर्थन किया।

(क) (२) शब्द वृत्ति के विविध प्रकार

शब्द का वास्तविक स्वरूप उसकी अर्थ-प्रत्यायिका शक्ति में निहित है। इसलिए शब्द की परिभाषा करते हुए **सिद्धान्तमुक्तावलीकार** विश्वनाथ ने पद को '**शक्तं पदं**' कहा है और पद से पदार्थ के संबन्ध को ही शक्ति माना है।

शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धा।

पद के साथ पदार्थ-सम्बन्ध के स्वरूप के विषय में नैयायिकों और मीमांसकों में मतभेद है। मीमांसक शब्द से अर्थ के संबंध को औत्पतिक अर्थात् 'नित्य' मानता है. उसका कहना है कि भाषा का ज्ञान हमें अपनी पूर्व पीढ़ी से होता है। उस पीढ़ी को भी अपने से पूर्व पीढ़ी से हुआ। इस तरह जिस प्रकार हम यह निश्चय करने में समर्थ नहीं हो सकते कि मानव की उत्पत्ति पहली बार (उत्पत्ति) कब हुए, अपितु अनादि काल से बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज की तरह यह सृष्टि चल रही है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ का संबंध है :—

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सह सम्बन्धः...।[२३]

वैयाकरण भी शब्द और अर्थ के नित्य संबंध को ही मानते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'कात्यायन' का 'वार्तिक' 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे...। कथन से उद्धृत किया है।

भर्तृहरि ने भी **नित्याःशब्दार्थसम्बन्धाः**[२४] कहकर इसी की पुष्टि की है। भर्तृहरि का कहना है कि जिस प्रकार इन्द्रियों की अपने विषय का बोध कराने की जो क्षमता है, वह अनादि है, इसी प्रकार शब्दार्थ-संबंध भी अनादि है :—

इन्द्रियाणां स्वविषयेषु अनादिरयोग्यता यथा।
अनादि अर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥[२५]

---

२३. जैमिनि : मीमांसासूत्र १-१-५

२४. भतृहरि : वाक्यपदीय, १।२।३

२५. वही. ३।३।२९

नैयायिकों ने शब्दार्थ के स्वभाविक सम्बन्ध के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया, बल्कि वे उसके 'सामयिक सम्बन्ध' को मानते हैं, जिसकी पुष्टि न सामयिकत्वाच्छब्दार्थ संप्रत्ययस्य'[२६] से होती है।

वैशेषिक सूत्रकार ने भी इसी भाव की पुष्टि 'सामयिकः शब्दाद् अर्थप्रत्ययः' कहकर की है। उनका कहना है कि यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक और औत्पतिक होता, तो 'अग्नि' शब्द के उच्चारण से ही 'मुख' जल जाता तथा मधु शब्द का उच्चारण करने से 'मुख' मधुर हो जाता।

स्याच्चेद् अर्थेन सम्बन्धः क्षुरमोदवशब्दोच्चारणे
मुखस्य पाटनपूरणे स्याताम्।[२८]

शब्दार्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध के विरोध में नैयायिकों का यह तर्क भी कम जोरदार नहीं है कि यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक होता तो शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थों में न होकर सर्वत्र एक ही अर्थ में उपलब्ध होता। इसलिए उनकी धारणा है कि शब्द और अर्थ का संबंध स्वाभाविक न होकर द्वितीय सामयिक अर्थात् संकेत पर निर्भर करता है जो दो प्रकार होता है। प्रथम **इश्वरेच्छाजन्य** तथा द्वितीय **मनुष्यकृत**। **ईश्वरेच्छाजन्य** संकेत ही **अभिधा** अर्थात् **शक्ति** है तथा मानव कृत संकेत पर आधारित संबंध ही परिभाषा कहा जाता है। इन दोनों ही स्थितियों में शब्द से अर्थ का संबंध साक्षात् होता है, जहाँ यह संबंध साक्षात् न होकर परम्परया हो उसे लक्षणा या गौणी वृत्ति कहते हैं।

शब्दार्थ के सम्बन्ध में शब्द 'संकेत' कहा जाता है तथा उसके द्वारा संकेतित पदार्थों के लिए शब्द रूप संकेतों का निर्धारण '**शक्तिग्रह** या **संकेतग्रह** कहलाता है। यह आठ प्रकार से सम्पन्न होता है।

आशाधरभट्ट ने अपनी कृति **कोविदानन्द** में इन्हें निम्न रूप से व्याख्यापित किया है :—

संकेत गहणो हेतून क्षणुदाहरणः सह।
प्रायो व्याकरणं कोशो निरुक्तं मुनिवागपि॥
व्याख्यानं वाक्यशेषस्य प्रसिद्धार्थस्य सन्निधिः।
उपमान प्रमाण च व्यवहारश्च तद्विदाम्॥[२९]

---

२६. गौतमः न्यायसूत्र, द्वितीय भाग, २-१-५५
२७. कणाद : वैशेषिक सूत्र, सप्तम भाग २।२०
२८. शबर : शबरभाष्य, १।१।५
२९. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, कारिका १२-१३

अर्थात् व्याकरण, कोश, निरुक्त, मुनिवाक्, व्याख्यान, वाक्य शेष प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, उपमान और व्यवहार इन आठ संकेत-हेतुओं का विधान किया है। आचार्य विश्वनाथ पंचानन ने इसी को क्रम से लिखा है :—

शक्तिग्रह व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च
वाक्यस्यशेषाद् विवृर्तेवदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्यवृद्धाः ॥[३०]

इन आठों संकेत-हेतुओं में से किसी भी प्रकार के द्वारा यह ज्ञात होना कि इस पदार्थ की अभिव्यक्ति के लिए अमुक शब्द निहित हैं—'शक्तिग्रह' कहलाता है।

आशाधरभट्ट ने अपनी कृति 'त्रिवेणिका' में वृत्ति सामान्थ का विवेचन 'वृत्' धातु से 'बाहुलकात्' करण में क्तिन् प्रत्यय करके 'वर्ततेशब्दोर्थे प्रवर्ततेऽनयेति वृत्तिः व्युत्पत्ति से किया है। क्तिन् प्रत्यय सामान्यतः' भाव में होता है, किन्तु प्रकृत-स्थल में भाव में 'क्तिन् प्रत्यय मानने पर 'वृत्ति' पद से अभीष्ट अभिधा, लक्षणादि का ग्रहण नहीं हो सकेगा। अपनी व्युत्पत्ति के समर्थन में ग्रन्थकार ने 'दुद्धि' और भक्ति शब्द में भी करण में ही क्तिन् प्रत्यय का निदर्शन प्रस्तुत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस क्रिया के माध्यम से शब्द अर्थ की प्रतीति कराता है या उसके बोध में प्रवृत होता है उसे ही वृत्ति कहते हैं। इसीलिए उन्होंने व्यापार और क्रिया को वृत्ति का पर्याय माना है :—

वृत्तिः व्यापारः क्रियाचेति पर्याय शब्दाः ।[३१]

कहीं-कहीं वृत्ति के पर्याय के रूप में 'शक्ति' पद का प्रयोग भी किया गया है :—

व्याच्यौऽर्थोऽभिधयाबोध्यो लक्ष्योलक्षणयामतः ।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनयाताः स्युस्तिस्रः शब्दस्यशक्तयः ॥[३२]

आशाधरभट्ट ने सारी परम्परा को समेटते हुए वृत्ति के तीन प्रकारों का विधान किया है। ये हैं—शक्ति, भक्ति, और व्यक्ति, जिन्हें वे क्रमशः गंगा, यमुना और गूढ निर्झरा सरस्वती की उपमा देते हैं :—

शक्ति भक्तिव्यक्ति गंगायमुनागूढ़ निर्झराः ।
निर्वहवन्त्यः सन्त्यत्र यत्तदेषा त्रिवेणिका ॥[३३]

---

३०. विश्वनाथ : न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकारिकावली, शब्दखण्ड, का० ८१, वृत्ति, पृ० ३५६, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

३१. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० १, १९२५ संस्करण

३२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद, का० ३

३३. वही, : त्रिवेणिका, वृत्तिप्रकरण, पृ० १, १९२५ संस्करण

शक्ति पद की व्युत्पत्ति आशाधरभट्ट ने 'शक्यतेसाक्षादभिधीयतेऽनयेति वृत्तिः[३४] से की है। यहाँ भी करण में 'क्तिन्' प्रत्यय माना है। धातु पाठ के अनुसार 'शक्' धातु के तीन अर्थ होते हैं—शंका, मर्षण तथा शक्ति अर्थात् समर्थता। प्रकृत स्थल में कोई भी अर्थ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। अतः ग्रन्थकार ने यह तर्क दिया है कि 'शक्' धातु यहाँ अभिधेयार्थक या अभिधानार्थक है, क्योंकि धातुओं के अनेकार्थक होने का सिद्धान्त सर्वमान्य हैं। अतः **शक्यते अर्थात् साक्षादभिधीयतेऽनयेति वृत्तिः** की व्युत्पत्ति से शक्ति उस वृत्ति को कहते हैं, जिसके द्वारा अर्थ की प्रतीति बिना किसी बाधा या अवरोध के हो। शक्ति, अभिधा और मुख्या इसी के तीन पर्याय हैं। इसके द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसको 'शक्य, वाच्य, अभिधेय तथा मुख्यार्थ कहा जाता है। जो शब्द, अर्थ का अभिधान साक्षात् करते हैं उनके लिए वाचक, शक्त एवं अभिधायक पदों का प्रयोग किया गया है :—

(ख) अभिधा एवं उसके आधायक तत्त्व

(१) शक्ति पद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—

साहित्यशास्त्र में सर्वप्रथम आचार्य महिम भट्ट ने 'शक्ति' पद का प्रयोग अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना नामक तीनों वृत्तियों के लिए किया है। साहित्यदर्पण-कार विश्वनाथ कविराज ने तो तीनों वृत्तियों के लिए 'वृत्ति' पद के स्थान पर 'शक्ति' पद का ही प्रयोग किया है।[३५] आचार्य विश्वनाथ पञ्चानन ने तो **न्यायसिद्धन्त मुक्तावली**' में शक्ति पद से 'पदार्थ के सम्बन्ध का अभिप्राय लिया है।[३६] विश्वनाथ पञ्चानन ने '**पदेन सहपदार्थस्य सम्बन्धः** कहकर अभिधा के लिए ही शक्ति पद का प्रयोग किया है। पर 'अभिधा' नाम इसकी अपेक्षा प्राचीनतर है, जिसका उल्लेख भामह एवं उद्भट की कृतियों में भी उपलब्ध होंता है।

अशाधरभट्ट ने 'शक्ति' की तुलना 'गंगा' से की है जिसका तात्पर्य यह ही है कि जिस प्रकार गंगा के दर्शन एवं स्पर्श मात्र से सर्वसामान्य को पुण्य लाभ हो जाता है उसी प्रकार शक्ति वह वृत्ति है जो सर्वसाधारण को भी स्पष्ट रूप से अर्थ की प्रतीति करा देती है।

साहित्यदर्पणकार ने अभिधा की परिभाषा देते हुए इसे 'अग्रिमा' भी कहा है :—

---

३४. आशाधरभट्टः, त्रिवेणिका; वृत्तिप्रकरण, १९२५

३५. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद, का० ३

३६. विश्वनाथ पंचानन : न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, का० ८१, वृत्तिभाग

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।[३७]

इसी तरह काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने अभिधा को परिभाषित करते हुए 'मुख्या' पद से 'समुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते'[३८] अभिहित किया है ।

भर्तृहरि ने उपनी महनीय कृति **'वाक्यपदीय'** में अभिधा को परिभाषित करते हुए कहा है कि अभिधान (वाचक) एवं अभिधेय (वाच्य) का संबंध अभिधा शक्ति से ही है।

क्रियाव्यवेतः संबंधो दृष्टः करणकर्मणोः ।
अभिधा नियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः ।।[३९]

पतञ्जलि ने अभिधा के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए महाभाष्य में कहा है 'कि अभिधेयार्थ का ज्ञान मुख्यतः लोक व्यवहार से सम्पन्न होता है—

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्म नियमः ।[४०]

शब्द को तीन शक्तियों में मुख्य होने के कारण अभिधा शक्ति को 'मुख्या' संज्ञा दी गई है । चूंकि साक्षात् संकेतित अर्थ ही सभी (लक्ष्य या व्यंग्य) प्रकार के अर्थों के बोध होने से पूर्व हो जाता है, अतएव अभिधा (शक्ति) को 'प्रथमा' या 'अग्रिमा' अभिधानों से भी अभिहित किया गया है ।

वृत्तिवार्तिककार अप्पयदीक्षित ने भी अभिधा को परिभाषित करते हुए **शक्त्याप्रतिपादकत्वमभिधा ।**[४१] लिखा है ।

मुकुलभट्ट ने 'अभिधा' वृत्ति की मुख्यता के समर्थन में निम्न प्रकार से संकेत दिया है —

शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता ।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते ।।[४२]

आशाधरभट्ट ने अपने शब्दशक्तिविषयक प्रथम ग्रन्थ **कोविदानन्द** में भी वृत्तित्रय एवं उनके विभिन्न स्वरूप—सन्दर्भ के रहस्य को समुद्घाटित करते हुए दो समग्र कारिकाएं लिखी हैं । वे हैं—

---

३७. विश्वनाथ साहित्यदर्पण, २१,२, कलकत्ता संस्करण, १९३४
३८. मम्मट : काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, २।८, झलकीकर संस्करण, १९२१
३९. भर्तृहरि : वाक्यपदीय, २।४०८
४०. पतंजलि : व्याकरणमहाभाष्य, प्रथम आह्निक
४१. अप्पयदीक्षितः वृत्तिवार्तिक, पृ० १, बम्बई संस्करण, १९४०
४२. मुकुलभट्ट : अभिधावृत्तिमातृका, पृ० १, बम्बई संस्करण, १९,६

शाब्दिकैः सा स्मृतैकैव त्रिविधादिस्वरादिवत् ।
अभिधालक्षणा व्यक्तिरित्याख्या त्रितयं मनम् ।।[43]
एतास्तिस्रः पृथक् शक्ति लक्षणा व्यंजनाभिधा ।
अलङ्कारविदां वाच्यलक्ष्यव्यंग्यार्थगोचराः ।।[44]

मानव जीवन में भी वृत्तियों का वर्णन देते हुये 'त्रिवेणिका' में ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने एक पद्य प्रस्तुत किया है—

शक्ति भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा नराः ।
व्यञ्जना नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः ।।[45]

अर्थात् सरल प्रकृति के सामान्य जन अपने व्यवहार में शक्ति अर्थात् अभिधा' का ही आश्रयण करते हैं; लेकिन उसी समाज में रहने वाले कुछ चतुर लोग होते हैं, वे ही अपने व्यवहार में 'लक्षणा' को काम में लेते हैं, जबकि व्यंजना-वृत्ति का व्यवहार करने वाले लोग कमनीय होते हैं, जिन्हें कवि कहा गया है तथा वे सौन्दर्य के पारखी होते हैं ।

(२) परिभाषा एवं स्वरूप—

आशाधरभट्ट ने त्रिवेणिका में शब्द की प्रथम वृत्ति को 'शक्ति' की संज्ञा दी है अथा इसके अभिधा एवं मुख्या नामक दो पर्यायों का उल्लेख किया है । शक्ति नाम का कारण इसमें अर्थ को प्रकट करने की सहज (प्रवृत्ति) क्षमता ही प्रतीत होती है, जो शक् धातु से क्तिन् प्रत्यय लगकर बनने वाली इसकी व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ है । यद्यपि लक्षणा और व्यञ्जना भी अर्थप्रत्यायन की शक्तियाँ है, पर इनमें 'शक्ति' स्फुट न होने से इनका पाग्रहण 'शक्ति' पद से नहीं किया है—

वृत्तित्रयमध्ये संकेतसहकारिणी शक्तिः ।
साक्षादभिधीयतेऽति शक्तिः ।

कथनों से आशाधरभट्ट का यही अभिप्राय सुतरां स्पस्ट होता है कि जो वृत्ति संकेतग्रह की सहायता से अर्थ-विशेष के प्रत्यायन में साक्षात प्रवृत्त होती है, उसे ही 'शक्ति' कहेंगे । शक्ति पद का मूल शक् धातु है, जिससे साक्षात् अभिधान रूप अर्थ का ही ग्रहण होता है । शक्ति का ही अन्यतम पर्याय अभिधा है ।

यद्यपि मुकुलभट्ट प्रभृति सभी आचार्यों ने अभिधा के विषय में यह कहा है कि वह शब्द इसे अर्थ का बोध साक्षात् कराती है, तथापि उसके द्वारा अर्थ के

---

४३. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० ४२
४४. वही, का० ४३
४५. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० १, १९२५ संस्करण

प्रत्यायन में अनेक अन्य तत्व भी सहयोग करते हैं। इन्हीं के लिए ही यहाँ 'आधायक तत्त्व पद का प्रयोग किया गया है।

शब्द दो प्रकार का होता है—पद और वाक्य। इन दोनों से ही अर्थ की प्रतीति होती है। वाक्य से अर्थ की प्रतीति पदों में परस्पर आकांक्षा, योग्यता सन्निधि नामक धर्मों से ही होती है। अतः अभिधा के आधायक तत्त्व ये, भी हैं।

क्योंकि बिना शब्द के अर्थ का प्रत्यायन नहीं हो सकता इसलिए अभिधा के आधायक तत्त्वों में शब्द की गणना सर्वप्रथम है। इनके अतिरिक्त **शक्तिग्राहक शक्तिनियामक** एवं संकेतग्रह एवं शक्तिनियामकों को भी अभिधा के आधायक घटकों के रूप में परिगणित करना सर्वथा उपयुक्त है।

शब्द भी कहीं **योगिक,** कहीं **रूढ़** कहीं **योगरूढ़** दोनों, तो कहीं योगिक और रूढ़ अलग-अलग रूप से अर्थ का प्रत्यायन कराते हैं। अतः अभिधा के आधायक तत्त्वों के प्रसंग में इनका विवेचन आवश्यक ही है।

शब्द और अर्थ अन्योन्याश्रित हैं। शब्द के बिना अर्थ की एवं अर्थ के बिना शब्द की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। अतएव अभिधा के आधायक तत्त्वों के प्रसंग में 'अर्थ' व उसके भेद-प्रभेदों का विवेचन अपरिहार्य है।

उपर्युक्त सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर 'अभिधा के आधायक-तत्त्वों' को निम्न परम्परा से विवेचित किया जाएगा।

१. शब्द की परिभाषा व स्वरूप
२. शब्द के भेद-प्रभेद
३. अर्थ व उसके भेद-प्रभेद
४. शक्ति-ग्राहक
५. शक्तिनियामक

१. शब्द की परिभाषा एवं स्वरूप :—वैयाकरणों ने शब्दतत्व की ब्रह्म से अभिन्नता प्रतिपादित की हैं। **श्रीमद्भागवत्** के द्वादश स्कन्द में समाधिस्थ ब्रह्म के हृदय में प्रणव 'ओउम्' से सृष्टि (उत्पत्ति) की उद्भावना मिलती है--

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमोष्ठिनः।
हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधात् विभाव्यते ॥[४६]

गायत्री मंत्र ही ओऽम् की अभिव्यक्ति है तथा गायत्री से ही वेदी की उत्पत्ति हुई। प्रणव अर्थात् ओऽम् के ही 'पर और अपर' नामक दो भेद हैं जिनमें

४६. वेदव्यास : श्रीमद्भागवत्, द्वादशस्कन्द, ६।३७

'पर' ब्रह्मात्मक होता हैं जबकि 'अपर' शब्दात्मक ही इन दोनों भेदों में से किसी एक की साधना ही परमलक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति में पूर्ण सक्षम है ।

आचार्य दण्डी ने तो अपनी कृति काव्यादर्श में यहाँ तक लिख दिया है कि यदि शब्द ज्योति प्रकाशित न ही तो यह सारा विश्व अन्धकारमय हो जाय :—

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत् भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥[४७]

शब्दों के यथार्थ प्रयोग के लिए व्याकरण-ज्ञान अनिवार्य है । पतञ्जलि ने व्याकरण महाभाष्य में **लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्.. ...न चान्तरेण व्याकरणं लघुनापायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्'**[४८] कहकर व्याकरण का महत्त्व प्रतिष्ठापित किया है, क्योंकि उन्होंने ही व्याकरण के अध्ययन के प्रयोजनों को भी व्याख्यायित किया है :—

रक्षोह्वागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् ।

अर्थात् व्याकरणाध्ययन का प्रयोजन—रक्षा, ऊहं, आगम, लघु और असन्देह नामक पांच प्रकार का माना गया है ।

शब्द के साधु प्रयोग के संदर्भ में निम्न उक्तियाँ सटीक ही है, जिनमें से एक के द्वारा भाष्यकार पतञ्जलि ने पदों के समुचित प्रयोक्ता की प्रशंसा करते हुए कहा है :—

यस्सुप्रयुक्ते कुशलो विशेषे
शब्दान् यथावद् व्यवहार काले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र,
वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥[४९]

अर्थात् स्वर या वर्ण किसी भी प्रकार के अशुद्ध शब्द-प्रयोग को अभिलषित या अभीष्टार्थं प्रत्यायन में पूर्ण रूपेण अक्षम ही नहीं बल्कि यजमान के लिए वाग्वज्र बनकर घातक भी कहा है :—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा,
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
सवाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥[५०]

---

४७. दण्डी : काव्यादर्श, १.४

४८. पतंजलि : व्याकरणमहाभाष्य, प्रथम आह्निक

४९. वही.

५०. पतंजलि : व्याकरणमहाभाष्य, प्रथम आह्निक

शब्द के महत्त्व के सन्दर्भ में निम्न पद्य द्रष्टव्य है :—

शब्दः प्रयोगः प्रायेण परार्थमुपयुज्यते ।
न हि तेन बिना शक्यो व्यवहारयितुं परः ॥[५१]

अर्थात् दूसरे को उससे किसी अन्य के साथ व्यवहार करने के लिए प्रेरित करने में शब्द के अतिरिक्त दूसरा साधन संभव नहीं है ।

प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने शब्दार्थ एवं शब्द की अर्थ प्रत्यायिकाशक्ति का निरूपण अपनी-अपनी कृतियों में न्यूनाधिक रूपेण किया है । ध्वनिकार ने भी एक महाकवि के लिए प्रतीयमान अर्थ एवं उसे अभिव्यक्त करने में समर्थ, शब्द की पहचान अभीष्ट एवं अनिवार्य बताया है :

सोऽर्थस्तदव्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दाश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयो तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥[५२]

शब्द की असीम व्यापकता को अग्निपुराण ने भी व्याख्यायित किया है, जिसके अनुसार साहित्यशास्त्र की प्रमुखतः शास्त्र, इतिहास और काव्य वाङ्मय— ये तीन ही विधाएं हैं । तीनों ही शब्द, ध्वनि, वर्ण पद और वाक्य में ओत-प्रोत हैं । वेदादि शास्त्रों में 'शब्द' का प्राधान्य होता है । इतिहास को भी शब्दनिष्ठ माना गया है । काव्य को शास्त्र और इतिहास से सर्वथा भिन्न मानने का प्रमुख आधार काव्य में 'भंगीमणिति' रूप अभिधा का प्राधान्य ही है—

'ध्वनिवर्णाः पदं वाक्यमित्येतद्वाङ्मयं मतम् शास्त्रेइतिहास काव्यानां त्रयं यत्र समाप्यते शास्त्रेशब्द प्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठिता अभिधायाः प्रधानत्वाद् काषुयं ताभ्यां विभिद्यते ।'[५३]

२. शब्द के भेद-प्रभेद—

व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट ने 'द्विविधो हि शब्दः पद वाक्य-भेदात् ।' कहकर 'पद' और 'वाक्य' दोनों भेदों से **शब्द** को व्याख्यायित किया है ।

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में वाक्य को निम्न रूप से व्याख्यायित किया है—

वाक्यंस्याद्योग्यताकांक्षासक्ति युक्तः पदोच्चयः ।[५४]

---

५१. महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, पृ० ३९
५२. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक १।८
५३. अग्निपुराण, अध्याय ३३६, १।२
५४. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, २।१

उपर्युक्त शभी वाक्य घटकों को स्वयं कविराज ने निम्न रूप से व्याख्यायित किया हैं :—

१. **योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे वाधाभावः**

२. **आकांक्षाप्रतीतिपर्यवसानविरहः**

३. **आसक्ति-विच्छेदः ।**

आशाधरभट्ट ने शब्द' के तीन भेदों का निरूपण **सवाचको लक्षकश्च व्यजवश्चेति वृत्तितः**[५५] कहकर किया है जो शक्ति, भक्ति, एवं व्यक्ति अर्थात् क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक तीनों शब्दवृत्तियों के आधार पर है—

तत्राद्यो वाचकः शक्योऽभिधायकश्चेत्युच्यते । द्वितीयो लक्षको लाक्षणिक, औपचारिको भाक्तश्चेति व्यपदिष्यते । तृतीयो व्यञ्जको, गमको, ध्वननो, द्योतकः प्रत्याय वश्चेति व्यवह्रियते ।[५६]

आशाधरभट्ट प्रथम विद्वान् हैं, जिन्होंने शब्द के लिए उक्त पर्याय पदावली का प्रयोग किया है ।

३ अर्थ एवं उसके भेद-प्रभेद :—

पञ्चार्थक अर्थ धातु से घञ् प्रत्यय होकर अर्थ पद की निष्पत्ति होती है । हलायुधकोश में अर्थ को अभिधेय, अभिप्राय, प्रयोजन और दृव्यवाचक कहा गया है :—

अभिधायाभिप्राय प्रयोजन दृव्यकेष्वर्थः ।[५७]

तत्वचिन्तामणिकार ने भी **यत्परः शब्दः स शब्दार्थः** कहकर अर्थ पद में निहित भाव की अभिव्यञ्जना की है । 'अर्थ' के अन्यान्य भेदों का वर्णन व्याकरण, दर्शन, साहित्य सभी शास्त्रों में विवेचित हुआ है । साहित्य शास्त्र में सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने अर्थ के स्वरूप एवं उसके भेद-प्रभेदों का निरूपण किया है, जिसके अनुसार 'अर्थ' वाच्य और प्रतीयमान रूप दो प्रकार का होता है :—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानोख्यौ तस्य भेदावुभौस्मृतौ ।[५८]

वाच्य वह अर्थ है जो प्रकृति-प्रत्यय व कोशादि माध्यम से निकलता है अर्थात् यह अभिधाश्रित होता है, जबकि प्रतीयमान अर्थ 'सहृदयश्लाघ्य' अर्थात् मात्र सहृदयों के लिए ही संवेद्य होता है, सर्वसामान्य को इसकी प्रतीति संभव नहीं ।

---

५५. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० ४५ पूर्वार्द्ध

५६. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० ३-४, १९२५ संस्करण

५७. हलायुध :हलायुधकोश, ५।८६७

५८. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, का० २

प्रकारान्तर से आचार्य महिमभट्ट ने भी अर्थ की वाच्य और अनुमेय रूप भेदों से दो ही प्रकार का माना है :—

अर्थोऽपि द्विविधोवाच्योऽनुमेयश्व ।[५९]

आशाधरभट्ट ने अपने पूर्ववर्ती सभी परम्पराओं को समेटते हुए अर्थ के भेद-प्रभेदों को उनके पर्याय पदावली के सहित निरूपित किया। यह निरूपण अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना के आधार पर ही किया गया है, जिसकी पुष्टि स्वयं आशाधरभट्ट ने की है :—

वृत्तिविषयभूतार्थास्त्रिविधाः । तत्राद्यः शक्यो वाच्योभिधेयो मुख्यार्थश्चेत्युच्यते । द्वितीयो लक्ष्यो, लाक्षणिको, भाक्त औपचारिश्चेति व्यपदिश्यते । तृतीयो व्यङ्ग्यो, गम्य, प्रतीत्यो, ध्वनित इति व्यवह्रियते ।[६०] —

इसी भाव को प्रकारान्तर से भट्ट जी ने 'कोविदानन्द' की निम्नकारिका से व्यक्त किया है ।

एतास्तिस्त्रः पृथक् शक्तिलक्षणाव्यञ्जनाभिधाः ।
अलंकारविदा वाच्य लक्ष्य व्यङ्ग्यार्थगोचराः ।[६१]

शब्दवितविषयक 'त्रिवेणिका' में ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने सर्वथा नवीन परम्परा से भी अर्थ के भेद-प्रभेद का निरूपण किया है, जिसमें बताया गया है कि हम काव्य पढ़ते हैं, सुनते हैं, तथा रसास्वाद करते हैं। विभिन्न समय में जिस अर्थ का बोध काव्य में होता है, वह अर्थ तीन प्रकार का होता है :—

'काव्यादिषु शब्दजन्यमर्थज्ञानं त्रिविधं । तत्र चारू, चारूतरं, चारूतमं तेति । अत्र शक्तिजन्यं चारू, यथा 'पाकं कुरुष्व पाकार्थम्' इति । अत्र पाक शब्दस्य शिशु वाचकत्वमन्वयबोधश्च व्युत्पन्नानामेव भासत इति चारूत्वम् ।...लक्षणाजन्यं चारूतरं यथा दधिद्रोणक्रयकामेन केनचिद् कश्चिद् गोपालः पृष्टः—'प्रातर्दधि दास्यसि, क्वते निवास ।......तदा तेनोक्तं' दास्यामि गंगायां मे घोषः ।। तदां नागरिकस्य चेतयागतमेतदीपमेव दधि ग्राह्यमिति । यतो गंगा प्रवाह निकटे यं वसति, वृक्षवातादिसद्भावात् पथि तापादिबाधश्च न स्यादिति सुखित पशुजन्यत्वात् स्वादुतरं गंगाभ्यः सम्बन्धात् पावनं चेति चारूतरत्वम् । .....व्यंजनाजन्यं चारूतमं यथा शक्रध्वसोत्थापने उद्यानिका भाजनान्तरमुपविष्टेन राज्ञा सूपकार आज्ञपतः 'अहो । शीघ्रं भृत्यान् भोजय गतोस्तभर्कः इति । ततः शब्दशक्त्या विपक्षितार्थं ज्ञात्वा सूपकारो

---

५९. महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, का० २० वृत्ति

६०. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० ३, १९२५

६१. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द अभिधाप्रकरण, का० ४३

६२. आशाधभभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० २-३-, १९२५ संस्करण

गतः । अर्थं व्यंजनया ब्राह्मणं सन्ध्यासमयो जात' इति बोधो जातः । सारथीना च 'रथसंयोजन समयो जात' इति । दीपिकाधारिणां च तत्समयो जातः' । एवमन्येषां नानाविधो बोधो जात इति चारूतमत्वम् ।।[62]

भट्ट जी ने चारुतम अर्थ को अत्यन्त चतुर लोगों के द्वारा ही संवेद्य बताया है—

चारुतमत्वं ह्यतिचतुरवेद्यत्तम् इति ।[63]

६. संकेतग्रह हेतु अर्थात् शक्तिग्राहक :—

शब्द के उच्चारण मात्र से ही श्रोता को अर्थ की प्रतीति नहीं हो जाती अपितु इसके पूर्व अर्थ-विशेष के प्रत्यायन में समर्थ शब्द-विशेष की शक्ति का ग्रहण अनिवार्य है । इसे ही शक्तिग्रह कहते हैं, जिसकी मान्यता व्याकरण, दर्शन और साहित्य में समान रूप से है । आशाधरभट्ट ने पूर्व परम्परा के अनुसार ही 'शक्ति-ग्राहकों' का निरूपण अपनी शब्द-शक्ति विषयक दोनों कृतियों—**कोविदानन्द** और **त्रिवेणिका** में किया है । शक्ति-ग्राहकों के विशय में 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार' ने एक पद्य दिया है जो प्रायः सर्वत्र उद्धृत किया जाता है । पद्य निम्न प्रकार है :—

शक्तिग्रह व्याकरणोपमान-
कोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति,
सान्निध्यतः सिद्धपदस्यवृद्धाः ।।[64]

इसके अनुसार आठ प्रकार के शक्तिग्राहक होते हैं । वे हैं :—
१. व्याकरण २. उपमान, ३ कोश, ४. आप्तवाक्य, ५. व्यवहार, ६. वाक्यशेष, ७. विवृत्ति तथा ८. अन्य पद का सान्निध्य ।

आशाधरभट्ट ने इन शक्तिग्राहकों का विवेचन सर्वथा मौलिक ढंग से किया है । वे इन्हें संकेतग्रह कहते हैं । तथा शक्तिग्राहकों को संकेतग्रह का हेतु मानते हैं । कोविदानन्द में इसका परिगणन करते हुए लिखा है :—

संकेतग्रहणे हेतून शृणुदाहरणैः सह ।
प्रायो व्याकरणं कोशो निरुक्तं मुनि वागपि ।
व्याख्यानं वाक्यशेषप्रसिद्धार्थस्य सन्निधिः ।
उपमान प्रमाणं च व्यवहारश्च तद्विदाम् ।।[65]

---

६३. वही, पृ० ५; १९५७ संस्करण

६४. विश्वनाथ पंचाननः न्ययसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड का० ८१ वृत्ति भाग, पृ० ३५९, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९५३

६५. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण का० १२-१३

आशाधरभट्ट ने पूर्व प्रतिपादित शक्तिग्रहों के नाम और क्रम में कुछ परिवर्तन किए हैं। हम यहाँ आशाधरभट्ट के अनुसार उनका निरूपण प्रस्तुत करते हैं। इसी संदर्भ में यह बात यही स्पष्ट कर देना समुचित ही है कि संकेतग्रह के ये हेतु दो तरह से कार्य करते हैं, स्वतन्त्र रूप से तथा मिश्रित रूप से। जिसका अभिप्राय यह है कि किसी शब्द का 'संकेत-ग्रह' इनमें से किसी एक के आधार पर होता है तथा कुछ ऐसे भी स्थल होते हैं, जहाँ एक ही स्थल पर अनेक संकेतग्रह काम करते हैं।[६६] विवेचन के प्रसंग में यथावसर इस बात का उल्लेख किया जायेगा।

(१) व्याकरण :—

संकेतग्रह का अन्यतम हेतु व्याकरण है। व्याकरण से अभिप्राय यहाँ प्रकृति-प्रत्यय विभाजन द्वारा अर्थ की प्रतीति से है, जिसका उदाहरण है—पार्वती। पर्वतस्य अपत्यं स्त्री इस अर्थ में पर्वत पद से 'अण्' तथा ङीप्' प्रत्यय होकर निष्पन्न 'पार्वती' शब्द का अर्थ हैं—हिमालह नामक पर्वत की पुत्री।

त्रिवेणिका में पाकं कुरुष्व पाकार्थम्' में प्रयुक्त प्रथम 'पाक' शब्द इसका उदाहरण है। क्योंकि इसके भाव में घञ् प्रत्यय होने से व्याकरण की शक्ति से ही पाक शब्द से भोजन या पक्वान्न रूप अर्थ की प्रतीति हो रही है।

(२) कोश :—

जब कोई शब्द किसी अर्थ विशेष की प्रतीति के लिए रूढ़ हो जाता है तो ऐसे शब्दों के संकलन को कोश कहते हैं। आशाधरभट्ट ने कोबिदानन्द में 'पार्बत्यम्बा' में प्रयुक्त 'अम्बा' शब्द को त्रिवेणिका के '**पाकं कुरुष्व पाकार्थम्**' में द्वितीय 'पाक शब्द को **कोश** नामक शक्तिग्राहक का उदाहरण बताया है। क्योंकि उक्त 'पाक' शब्द से शिशुवाचक अर्थ की प्रतीति: **पाकोऽर्थको, डिम्भः पृथुकः शायकः शशुः**[६७] नामक कोश की उक्ति से ही होती हैं। इसी प्रकार 'अम्बा' शब्द से भी कोषोक्ति से ही पार्वती रूप अर्थ की प्रतीति के लिए रूढ़ है।

(३) निरुक्त या निर्वचन

उमा शब्दे शब्दस्य सम्बोधनार्थकस्य निषेधार्थस्य च संयोगे व्युत्पत्यभावेऽपि अक्षसरसाम्यान्निर्वचन ब्रूयात् इति निरूक्त वचनम्।[६८]

अशाधरभट्ट ने यहाँ निरुक्त और 'प्रसिद्ध-ग्रन्थ' दो संकेत हेतुओं को विवेचित किया है। प्रथम तो 'उमा' शब्द से पार्वती रूप अर्थ की प्रतीति 'निर्वचन'

६६. वहीं, का० १४

६७. अमरसिंहः अमरकोश

६८. यास्क : निरुक्त, १-११

से होती है, क्योंकि निरुक्त में 'उ' और 'म' शब्द क्रमशः संबोधनार्थक और निषेधात्मक है क्योंकि पार्वती की माता 'मेनका' ने उन्हें संबोधनपूर्वक तप से मना किया था। इसीलिए ही पार्वती का अन्य पर्याय 'उमा' भी लब्धप्रतिस्ठ हो गया, जिसकी पुष्टि कालिदास की महनीय कृति 'कुमारसम्भव' के निम्न पद्य—

उमेति माता तमसो निषद्धा
पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम्।[६९]

से होती है। तथा निरुक्तकार का कथन भी है :—'**अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षर-वर्ण-सामान्यान्निब्रूयात्।**[७०] जो शब्द यौगिक नहीं है, अपितु रूढ़ होते हैं उनको संकेत-ग्रह कोश से जाना जाता है। उसके लिए यहाँ पर अम्बा' शब्द उद्धृत किया है रूढ़ होने के कारण इस शब्द के अर्थ की प्रतीति कोशों के देखने से होती है जैसे—अमरकोश।

त्रिवेणिका में चामुण्डा शब्द जो '**चाण्डमुण्डां गृहीत्वा** की व्युत्पत्ति से बना है—निरुक्त के द्वारा ही अर्थ की प्रतीति कराता है, क्योंकि निरुक्त में आया है कि **अक्षरसामान्यान्निब्रूयाः** अर्थात् अच्छरों की सामानता से भी शब्दों का निर्वचन होता है। इसी निरुक्त न्याय से ही 'चामुण्डा' का अर्थ लेते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि देवि ! क्योंकि आप चण्ड' और 'मुण्ड' को पकड़कर ले आई हो—इसलिए लोगों में आपका नाम प्रसिद्ध हो जाएगा।

चण्डमुण्डौगृहीत्वाऽऽगता 'चामुण्डा' इत्यत्र निरुक्त शक्तिग्राहकम्।[७१]

इसी निरुक्त द्वारा ही दामोदर का अर्थ 'विष्णु' हो जाता है। देवताओं का प्रशंसाभाजन होने तथा दम अर्थात् इन्द्रियनिग्रह होने से विष्णु का नाम दामोदर पड़ा। निरुक्त चूंकि आप्त वाक्य नहीं है, अतएव प्राचीन आचार्यों ने इसकी चर्चा नहीं की है।

४४. मुनिवाक्—

आशाधरभट्ट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने इसी मुनिवाक् नामक शक्तिग्राहक के लिए आप्त वाक्य का प्रयोग किया है।

कोविदानन्द में इसे **दिक्करवासिनी** से उदाहृत किया है, क्योंकि दिक्कर-वासिनी पद से देवी परक अर्थ का प्रत्यायन कोश या व्याकरण से सम्भव नहीं है, बल्कि **कालिकापुराण** में व्यास मुनि की **दिक्करस्तरुणः दिक्करवासिनी** उक्ति से ही देवीपरक अर्थ की प्रतीति हो रही है। इसी तरह त्रिवेणिका के **बिखरे**

---

६९. कालिदास : कुमारसम्भव १।२६

७०. यास्क : निरुक्त, द्वितीय अध्याय, प्रथम पाद

७१. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० ७, १९२५

कुरु वाक्य में 'विखर' शब्द को 'मुनिवाक्' नामक शक्तिग्राहक का उदाहरण माना गया है, क्योंकि विखर शब्द से बुद्धिपरक अर्थ के प्रत्यायन में आर्षप्रमाण ही सहायक हैं। **विखरे कुरु** का प्रयोग **लिङ्गपुराण** में मिलता है।

(५) **व्याख्यान—**

पर्याय को व्याख्यान कहते हैं। इसलिए जहाँ पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हो वह ही व्याख्यान 'शक्तिग्राहक' का स्थल माना जाता है। आशाधरभट्ट ने **व्याख्यानम् =पर्यायादि**[७२] कहा है: कोविदानन्द में 'सोम' शब्द इसका उदाहरण है—

'अम्बया सहित: शिव: कृष्णपुत्रो वा, व्याख्यान्निश्चीयते। सोम शब्दस्य **सोमयाजी ब्राह्मणो यमित्यादौभक्तिमार्गपौर्वापर्ये सोमशब्द: शिव वाचक: कर्ममार्ग-पौर्वापर्ये तु यज्ञ विशेष वाचक इति।**[७३]

(६) **वाक्यशेष—**

आशाधरभट्ट ने **वाक्यशेष: =पौर्वापर्यम् यदाहु: परामृष्ट: शब्दोऽन्यां कुरुते मतिम्**' कहकर 'वाक्यशेष' को व्याख्यायित किया है।

उपर्युक्त उदाहरण में सोम शब्द से अर्थ का प्रत्यायन प्रकरणपर्यालोचन या 'पौर्वापर्स' के द्वारा अर्थात् वाक्यशेष से होता है। उदाहरणार्थ सोमयाजी ब्राह्मण: इत्यादि वाक्यों ये भक्ति के प्रसङ्गानुकूल सोम शब्द शिव का वाचक होगा जबकि कर्ममार्ग के प्रकरण में यही यज्ञ विशेष अर्थ की प्रतीति कराएगा—

सोमशल्दस्य सोमयाजी ब्राह्मणो यमित्यादौ भक्तिमार्ग पौर्वापर्ये सोमशब्द: शिववाचक: कर्म मार्गपौर्वापर्यं तु यज्ञ विशेष वाचक इति[७४]

(७) **प्रसिद्धार्थस्य सन्निधि—**

'भव' शब्द से शिवपरक अर्थ की प्रतीति, 'भवो भव्याय' इत्यादि प्रसिद्ध वाक्यों में शब्दान्तर (भव्याय) के सान्निध्य के कारण ही होती है न कि संसारपरक अर्थ की।

(८) **मुनिवाक्—**

त्रिवेणिका में सन्निधि: का उदाहरण 'अजोविधि' है। यहाँ 'अज' शब्द का अर्थ प्रजापरक होता है; क्योंकि वह विधि का पर्याय है, जिसका यजन्, अज अर्थात् छाग अर्थात् बकरे से किया जाता है। इस उदाहरण में अज शब्द का अर्थ 'काम' भी होता है, जब वह 'धर्म' और 'अर्थ' शब्दों के साथ प्रयुक्त होता है—

---

७२. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० १३ वृत्ति

७३. वही, का० १५ वृत्ति

अजार्थधर्मधी:—इत्यत्राजशब्दस्य कामवाचकत्वेऽर्थधर्मशब्दयो: सन्निधि: शक्तिग्राहक:[७५] अर्थात् वह व्यक्ति, जिसकी बुद्धि धर्म, अर्थ और काम परक हो यह सन्निलि का उदाहरण हैं ।

(९) उपमान—

आशाधरभट्ट ने 'मुञ्जनश:' शब्द में 'उपमान' नामक संकेत हेतु के साहचर्य से अर्थ प्रतीति की उद्भावना की है—

मुञ्जकेश इति मुञ्चा इव केशा: यस्येति व्युत्पत्योपमान प्रमाणेन विशङ्ग-केशत्वेन जटाधरत्वं निश्चीयते ।[७६]

(१०) व्यवहार—

'शूली' शब्द से शिव परक अर्थ की प्रतीति व्यवहार संकेत हेतु के कारण ही होती है । अन्यथा 'शूली' शब्द के अन्य अर्थ भी होते हैं—जैसे वृक्ष विशेष, शूलरोगी एवं शूलधारी पुरुष आदि । इनमें से किसी भी अर्थ का ग्रहण न होकर 'व्यवहार' के द्वारा यहाँ 'शूली' शब्द से शिवपरक अर्थ का ही प्रत्यायन हो रहा है । इसकी पुष्टि स्वयं ग्रन्थकार के 'शूलीति । अन्येषां शूल धरत्वेऽपि शूलि शब्देन शिव एव व्यवह्रियते । तेन शूली सेव्य इत्यत्र वृक्षविशेष शूलरोगी, शूलायुधपुरुषो वा न प्रतीयते ।'[७७] के कथन से होती है ।

त्रिवेणिका में उपमान एवं व्यवहार नामक शक्तिग्राहकों के **'हिंगुलाम्बिका-सत्** अर्थात् कमल के समान कान्ति को 'हिंगुल' कहते हैं । यह उपमान का उदाहरण है, जिसकी कान्ति 'हिंगुल' के समान अर्थात् कमल के रङ्ग के समान हो, उसे **हिंगुलाम्बिका** कहेंगे । पद्मपराग मणि भी ऐसी ही होती है, जिसका रङ्ग 'कमल के रंग के समान किंचित् रक्तवर्ण का होता है । अत: जिस देवी के शरीर की कान्ति 'पद्मराग मणि' के समान हो, उसको 'हिंगुलाम्बिका देवी' कहेंगे । यहाँ 'उपमान' शक्ति ग्राहक के द्वारा ही 'हिंगुलाम्बिका' का अर्थ ज्ञात होता है, किन्तु इसी हिंगुलाम्बिका को ब्राह्मण आदि जब 'अम्बा' कहकर पुकारते हैं, पूजा करते हैं तथा 'यवन' अल्ला कहकर स्तुति करते हैं तो यहाँ देवीपरक अर्थ का ग्रहण 'उपमान' से न होकर 'व्यवहार' नामक 'शक्तिग्राहक' या संकेतेहेतु से ही होता है—

हिङ्गुलमिति । पद्मरागभं माणिक्यसदृशम् इत्युपमानं शक्तिग्राहकम् । हिङ्गुलाम्नी देवी तद्वर्णा हिङ्गुलसदृशीत्यत्र तथैव । 'यामम्बेति वदन्ति आर्या:

---

७५. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० ७, १९२५

७६. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का १५ वृत्ति

७७. वही

ब्राह्मणादयो या देवी माम्बेति नाम्ना वदन्ति (ताम्) अन्ये यवनादयोऽल्लति स्तुवन्ति । अत्र शब्दद्वयस्य देवीवाचकत्वे तद्विदां व्यवहार शक्तिग्राहकः । व्यवहाराभावादेव वेदोक्तमल्लासूक्तं बहवो ब्राह्मणा पठन्ति ।[७८]

(७) शक्ति नियामक

शब्द सामान्यता दो प्रकार के होते हैं—एकार्थक एवं अनेकार्थक । जिन शब्दों का एक ही अर्थ होता है, उनमें 'अभिधा' के द्वारा अर्थ निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं होती, किन्तु अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि अमुक स्थल पर उसके अनेक अर्थों में कौन-सा अर्थ लिया जाय, क्योंकि किसी भी शब्द के एक स्थल पर अनेक 'अर्थ' की प्रतीति न होकर एक ही अर्थ सम्भव होगा । आशाधरभट्ट ने इस सन्दर्भ में दो कारिकाएं लिखी हैं—

बहुष्वर्थेषु संकेतो हर्यादेरस्ति यद्यपि ।
तथाप्येकत्र भजते व्यापारस्य सहायताम् ॥[७९]

अर्थात् 'हरि' प्रभृति अनेकार्थक शब्दों में 'संयोगादि' से नियन्त्रित होकर एक ही अर्थ का प्रत्यायन होता है, क्योंकि एक साथ अनेक अर्थों का प्रत्यायन अभिधा से असम्भव है—

सकृत्प्रयुक्तः शब्दोऽसो सकृदेकार्थसाधकः ।
बाणवल्लक्ष्यभेदे तु प्रयोगं पुनरर्हति ॥[८०]

अर्थात् आशाधरभट्ट का मन्तव्य है कि एक बार प्रयुक्त 'शब्द' एक समय में एक ही अर्थ का सम्पादन कराता है, जैसे एक बाण संधानित होकर प्रत्यक्षतः एक ही लक्ष्य का भेदन करता है और जैसे लक्ष्यन्तर के लिए पृथक् रूप से बाण का संधान करना पड़ता है, उसी प्रकार अन्यान्य साक्षात् अर्थ-प्रतीति के लिए शब्द के प्रयोग का पार्थक्य भी अपेक्षित है । एक ही अपेक्षित या प्रकृत अर्थ अन्यान्य अर्थों में से निश्चित करने या जानने की विधि क्या है ? या उस (एक) अर्थ का निर्धारण कैसे होता है—इसके लिए आलङ्कारिकों ने 'भर्तृहरि' की निम्नलिखित कारिका का उपयोग किया, जिसमें अनेकार्थक शब्दों के अभिधेय अर्थ के निर्धारण की विधि बताई है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।

---

७८. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० ७, संस्करण २९२५
७९. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० १६
८०. वही, का० १७

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादय ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष स्मृति हेतवः ।।

आचार्य मम्मट ने अपनी महनीय कृति काव्यप्रकाश में उपर्युक्त कारिकाएं उद्धृत की हैं, जिन्हें अन्यान्य टीकाकारों ने भर्तृहरिकृत बताया है, इनमें संयोगादि के द्वारा 'वाचकत्व' के नियन्त्रण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है ।

अनेकार्तस्य शब्दस्य वाचकत्वेनियंत्रते ।
संयोगावाद्यैरच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ।।[८१]

इसी सन्दर्भ में आशाधरभट्ट ने भी—

नानार्थ शब्द संकेत प्रकृते स्मारयन्ति ये ।
तद्वशात् प्रकृतेऽर्थे तु व्यापारोऽपि नियम्यते ।।[८२]

कहकर अपना मत व्याख्यायित किया है ।

आशाधरभट्ट का मन्तव्य है कि एकार्थक संकेतग्रह—व्याकरण, कोश, निरुक्त प्रबचन के विवेचन के पश्चाद् अनेकार्थ शब्द को एक अर्थ में नियन्त्रित करने वाले हेतुओं का विवेचन अभीष्ट है । आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द और त्रिवेणिका दोनों ग्रन्थों में इन शक्ति-नियामकों का विवेचन किया है । मात्र उदाहरणों में विविधता है जबकि क्रमादि एक जैसा ही है—

संकेतस्मारकानार्हुलिगं प्रकरणं फलं.
व्यक्तिं प्रसिद्धासान्निध्यमार्हन्तीं च समर्थताम् ।
देशं कालं च चेष्टा च साहचर्यं विरुद्धताम्,
संयुक्तत्वं वियुक्तत्वं स्वरादीश्च यथायथम् ।।[८३]

त्रिवेणिका में भी अनेकार्थक शब्दों में निहित अर्थ विशेष के 'शक्ति' के नियामकों का विधान किया गया है—

लिंगं, प्रकरणं, फलं, व्यक्तिः, प्रसिद्ध सन्निध्यं, आर्हन्ती, समर्थता, देशः कालः, चेष्टा, सहचर्यं, विरुद्धत्ता, संयुक्तत्वं वियुक्तत्वं स्वरादयश्चेति ।[८४]

कोविदानन्द एवं त्रिवेणिकाकार आशाधरभट्ट ने भर्तृहरि प्रतिपादित १४ तत्त्वों के साथ-साथ 'फल' नामक अतिरिक्त शक्ति-धियामक को मिलाकर शक्ति के १५ नियामकों का विवेचन प्रस्तुत किया है, जिसका क्रम भी परिवर्तित कर दिया है ।

---

८१. मम्मट : काव्यप्रकाश; द्वितीय उल्लास सूत्र ३२ का० १६

८२. आशाधरभट्ट; कोविदानन्द, अभिधानिरूपण का० २१

८३. वही, का० २२-२३

८४. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० ८, १९२५

प्रकृतस्थल में आशाधरभट्ट के द्वारा अपनाया गया क्रम ही विवेच्य है—१. लिङ्ग, २. फलम्, ३. प्रकरणम्, ४. व्यक्तिः, ५. प्रसिद्धसान्निध्यम्, ६. आर्हन्ती, ७. समर्थता, ८. देश; ९. काल, १०. चेष्टा, ११. साहचर्य, १२. विरुद्धता, १३. संयुक्तत्वम्, १४. विनुक्तत्वम्, १५. स्वर।

आशाधरभट्ट ने 'शक्ति नियामकों' की व्याख्या में स्वरचित उदाहरण दिए हैं। इन उदाहरणों के देने में ही ग्रन्थकार आशाधरभट्ट की मौलिकता है।

१. लिङ्ग नामक शक्ति-नियामक—

कोविदानन्द में लिङ्ग शब्द नियामक के सन्दर्भ में उदाहरण दिया है—

देवस्त्रिनेत्रो जयति शूली जयति मुक्तिदः ।
स्थाणुं भजस्व विद्यार्थे शिवोवन्द्यो जटीकधृक् ॥[८५]

यहाँ लिङ्ग पद का तात्पर्य मात्र पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा निपुंसक लिङ्ग में ही सीमित नहीं है, अपितु लिङ्ग शब्द का अर्थ 'चिह्न' से लिया गया है।

ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने स्वयं ही 'कोविदानन्द' की कादम्बिनी टीका में लिखा है—

देवशब्दस्थानेकार्थस्य नेत्र त्रयरूपं लिङ्ग शिवे शक्ति नियामकम् । अत्र लिङ्ग शब्देनासाधारण चिन्हमुच्यते न तु पुंस्त्वादिकम् ।"[८६]

प्रस्तुत उदाहरण में देव, शूली, स्थाणु, आदि शब्द अनेकार्थक हैं, परन्तु लिङ्ग अर्थात् चिह्न विशेष के कारण ही इन सभी शब्दों से शिव रूप अर्थ का ही नियमत होता है। जैसे—'देव त्रिनेत्रो जयति' में अनेकार्थक देव शब्द का नेत्रत्रय रूप लिङ्ग के कारण का मुश्तिदः शूली जयति' में अनेकार्थक शूली शब्द का मुक्तिदातृत्वरूप लिङ्ग के कारण 'स्थाणुभजस्वविद्यार्थे' में अनेकार्थक स्थाणु शब्द का फलभूत विद्या के कारण, 'भवोबन्धः' में अनेकार्थक भव शब्द के पुल्लिङ्ग प्रयोग के कारण और जटीकधृक् (वन्द्यः) में अनेकार्थक भव शब्द के पुल्लिङ्ग प्रयोग के कारण और जटीकधृक् (वन्द्यः) में अनेकार्थक कधृक् (गङ्गाधर) का, प्रसिद्धार्थसान्निध्य रूप लिङ्ग अर्थात् चिह्न के कारण ही एकमाश्र शिव रूप अर्थ में नियमन हो जाता है।

त्रिवेणिका में भी लिङ्ग नामक शक्ति नियामक का विवेचन इसी सरणि में किया गया है। वहाँ 'चतुर्भुजं हरिं वन्दे' और 'सहस्राक्षे हरिः सेव्यते।' ये दो उदाहरण दिए गए हैं। इनमें प्रयुक्त 'हरि' शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ की प्रतीति अपने-अपने लिङ्ग विशेष के कारण ही कराता है। अतएव 'चतुर्भुज हरि वन्दे' में अनेकार्थक हरि शब्द का नियमन विष्णु में इसलिए ही हो रहा है कि उनकी ही चार भुजाएं वर्णित हैं तथा 'सहस्राक्षो हरिः सेव्यते' इस वाक्य में प्रयुक्त अनेकार्थक हरि शब्द का इन्द्रपरक अर्थ में नियमन स्पष्टतः इसलिए ही हो रहा है, क्योंकि 'सहस्राक्ष' इन्द्र का ही

---

८५. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २४
८६. वही, वृत्ति

लिङ्ग (चिह्न है) विष्णु का कथमपि नहीं। अतः द्वितीय वाक्य में प्रयुक्त 'हरि' शब्द से इन्द्र के ग्रहण का मात्र कारण सहस्राक्ष शब्द का प्रयोग ही है।

आशाधरभट्ट शायद 'हरि' प्रभृति अनेकार्थक शब्दों के एक विशेष अर्थ में प्रतीति कराने की मीमांसा की पुष्टि ही में अपने महनीय कृति कोविदानन्द की एक कारिका प्रस्तुत की है—

बहुष्वर्थेषु संकेतो हर्यादेरस्ति यद्यपि।
तथाप्येकत्र भजते व्यापारस्य सहायताम्॥[८७]

अर्थात् 'हरि' प्रभृति शब्दों का अनेक अर्थों में संकेत यद्यपि सम्भावित हो सकता है, फिर भी संयोगादि (अर्थात् शक्तिनियामकादि) से नियन्त्रित एक ही अर्थ की प्रतीति में नियमन किया जाता है; क्योंकि अनेक अर्थों की प्रतीति एक साथ अभिधा से कथमपि नहीं है— वह व्यञ्जनादि का विषय हो सकता है।

इन्द्रपरक अर्थ प्रतीति का उदाहरण आशाधरभट्ट ने त्रिवेणिका में इसी संदर्भ में 'वज्रहस्त' दिया है, क्योंकि 'वज्र' इन्द्र का ही 'अस्त्र' कहा गया है किसी अन्य देवता का नहीं। इसलिए 'वज्रहस्त' का प्रयोग लिङ्ग विशेष के कारण इन्द्र के लिये उपयुक्त ही है।

२. प्रकरणम् —

'मुक्तिदः शूलीजयति' वाक्य में अनेकार्थक 'शूली' शब्द का शैव परक एकार्थ प्रत्यायन प्रकरणपर्यालोचन के माध्यम से हो रहा है; क्योंकि आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द की कादम्बिनी नामक टीका में स्पष्ट कर दिया है कि :—

शूलीत्यस्यानेकार्थस्य मुक्तिदत्वं शिवे शक्तिनियामकम्। मुमुक्षुवाक्यमेतत्। तेन मुक्तिदानप्रकरणे पठितमिति बोध्यम्। हे मुने। इति पाठे तु मुनि सम्बोधनात् मुक्तिप्रकरणं ज्ञेयम्।[८८]

त्रिवेणिका में आशाधरभट्ट ने दो उदाहरण दिए हैं। जो निम्न प्रकार से हैं :—

'हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्' अत्र पौर्वापर्यसम्बन्ध रूपेण प्रकरणेन हरिशब्दस्य विष्णौ शक्तिर्नियम्यते। एवं गुरुगरीयान् दुरवस्थितः कृतः अत्र रेणुकां प्रति परशु-रामवाक्ये प्रकरणेन गुरुशब्दस्य 'पितरि' शक्तिर्नियम्यते।[८९]

यहाँ प्रथम उदाहरण हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्' में 'हरि' शब्द का अर्थ

---

८७. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण का० १६

८८. वही, का० २४, वृत्ति

८९. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० ८, १९२५ संस्करण

'विष्णु' लिया जाता है तथा द्वितीय उदाहरण **गुरर्गरीयान् दुरवस्थितः कृतः** में **रेणुका** के प्रति परशुराम द्वारा प्रयुक्त वाच्यप्रकरण द्वारा ही गुरु शब्द 'पिता' अर्थ में निर्धारित होता है ।

३. फल—

कोविदानन्द की २४वीं कारिका में ही 'स्थाणु भजस्व विद्यायै' में अनेकार्थक 'स्थाणु' शब्द से फलभूत विद्या के कारण ही 'शिव' अर्थ की प्रतीति होती है। त्रिवेणिका में भी आशाधरभट्ट ने 'फल' नामक शक्ति नियामक को वाक्यों से उदाहृत किया है । वे हैं—

मुक्तये हरि भजति और स्थाणुं भज भवच्छिदे ।

इनमें क्रमशः हरि शब्द से विष्णु अर्थ का तथा 'स्थाणु' पद से भगवान् शङ्कर के रूप के अर्थ का संकेत मिलता है । यहाँ आशाधरभट्ट ने युक्तिपूर्वक प्रदर्शित किया है कि प्रथमोदाहरण में प्रयुक्त 'हरि' शब्द से विष्णुपरक अर्थ की प्रतीति 'मुक्ति' रूप फल के कारण तथा 'स्थाणु' शब्द से 'शिव' अर्थ की प्रतीति 'भवच्छेदन रूप' फल के कारण ही होती है ।

४. व्यक्ति—

व्यक्ति नामक शक्तिनियामक का विवेचन अन्य शक्तिनियामकों की अपेक्षा विशद रीति से आशाधरभट्ट ने अपने दोनों ग्रन्थों कोविदानन्द और त्रिवेणिका में किया है ।

आशाधरभट्ट का मत है कि 'व्यक्ति' नामक शक्तिनियामक उसी अर्थ का नियमन करता हैं जो जाति, व्यक्ति, लिङ्ग, कारक एवं संख्या भेद से पाँच प्रकार का होता है ।

व्यक्तिर्यथा—व्यक्तिनामार्थः स च पञ्चविधः । जाति व्यक्ति लिंग संख्या कारकभेदात् ॥[९०]

वैयाकरणों ने व्यक्ति से पुलिंग, स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग का ग्रहण किया है जिसे आशाधरभट्ट 'चिन्त्य' कहते हैं—अर्थात् वह मत ग्राह्य नहीं है। भट्ट जी ने 'व्यक्ति' पद की व्युत्पत्ति 'व्यज्यते विभक्तया प्रकटीक्रियते असी व्यक्तिः ।'[९१] इस तरह उक्त 'व्यक्ति पद की कर्म व्युत्पत्ति के द्वारा उससे 'निखिल नाम' को उचित अर्थ समझा है, जिसको ग्रन्थकार ने नाम की संज्ञा दी है ।

अभिधा के नियामक अर्थात् शक्ति-नियामक के चतुर्थ तत्त्व 'व्यक्ति' का

---

९०. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका : शक्तिप्रकरण, पृ० ८, १९२५ संस्करण

९१. वही, पृ० १

उदाहरण मूल कारिका—

देवस्त्रिनेत्रो जयति शूली जयति मुक्तिदः ।
स्थाणु भजस्व विद्यायै शिवो वन्द्यो जटी कृधृक् ॥[९२]

में 'शिवोवन्द्यः' उदाहरण है, किन्तु ग्रन्थकार स्वतं द्वारा लिखित 'कादम्बिनी नामक टीका में **शब्दस्यानेकार्थस्य पुंस्त्वनिर्देशः शिवे शक्ति नियमयति** ।[९३] लिखा है इससे ज्ञात होता है कि 'व्यक्ति' नामक शक्ति नियामक का उदाहरण **शिवोवन्द्यः** न होकर **भवोवन्द्यः** होना चाहिए तभी टीका की बात सङ्गत होती है । **पुंस्त्वनिर्देशः** पद के प्रयोग से स्पष्ट कि व्यक्ति से स्त्रीलिङ्ग; पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का ग्रहण किया गया है । इसलिए ही आगे कहा है—

भवानीशब्द प्रयोगश्चेत् स्त्रीत्वं शिवायाम् ।[९४]

त्रिवेणिका में व्यक्तितत्व का विवेचन करते हुए लिखा है—'व्यक्ति नामार्थः अर्थात् व्यक्तिवाचक संज्ञा ही व्यक्ति है । नाम एक पारिभाषिक शब्द है । अतः त्रिवेणिका में 'नामार्थ' को पांच प्रकार का बताया है—जाति, व्यक्ति, लिंग, संख्या और कारक ।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी **पञ्चकं नामार्थः** की उक्ति से उसे पांच प्रकार का बतलाया है । 'व्यक्ति' नामक उपर्युक्त शक्ति-नियामक के पांचों उपभेदों के उदाहरण क्रमशः निम्नलिखित हैं :—

(क) जाति नामक उपभेद :—

'भद्रनागो महाधनः' इसका उदाहरण है । यहाँ जाति विभेष वाली 'भद्र' प्रयोग से ही 'नाग' शब्द का अर्थ 'गज' की चार जातियों का परिगणन किया गया है—वे हैं—भद्र, मन्द्र, मृग, तथा मिश्र, जिसकी पुष्टि हेमकोश की 'भद्रोंमन्द्रोमृगोमिश्रः चतस्त्रो गज जातयः ॥'[९५] उक्ति से होती है ।

(ख) व्यक्ति नामक उपभेद :—

आशाधरभट्ट ने 'शिवोपवीत नागेन' उदाहरण से इसको उदाहृत किया है । यहाँ **शिवोपवीत** शब्द विशेष के प्रयोग के आधार पर अभिधा (शक्ति) का नियमन 'शेष' अर्थात् शेषनाग नामक 'व्यक्ति विशेष' में होता है ।

(ग) लिंग नामक उपभेद :—

आशाधरभट्ट ने व्यक्ति नामक शक्ति के चतुर्थ नियामक के लिङ्ग नामक उपभेद को 'स्वानि शिवं याचति' में 'स्व' शब्द के नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग होने के

---

९२. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २४

९३. वही, का० २४, वृत्ति

९४. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २४, वृत्ति

९५. हेमकोश

कारण ही धन अर्थ की प्रतीति 'स्वानि' पद से अन्वित होती है। उसी प्रकार **मित्रो यजति** उदाहरण पुल्लिङ्गवाची शब्द पर आधारित है। यहाँ 'मित्र' शब्द का अर्थ 'सूर्य' ही हैं। यह पुल्लिङ्गवाची 'मित्र' शब्द-प्रयोग के कारण है।

(घ) संख्या नामक उपभेद—

आशाधरभट्ट ने इस प्रसङ्ग में **'हरयः सन्ति कानने' हरिवसति कानने'** एवं **'यमो विलोकयन्'**— इन तीन उदाहरणों को उदाहृत करके अपना मत प्रतिष्ठापित किया है। यहाँ क्रमशः **'हरयः सन्ति कानने'** में 'हरि' शब्द के बहुवचन में प्रयुक्त होने के कारण ही 'वानर' अर्थ की अभिव्यक्ति हुई है तथा 'हरिवसति कानने में हरिशब्द के एकवचन में प्रयुक्त होने से ही 'सिंह' अर्थ का नियमन तथा 'यमौ विलोकयन' में प्रयुक्त 'यम' शब्द के द्विवचन के प्रयोग के कारण ही 'यमौ' पद से 'जुड़वा' अर्थ का प्रत्यायन किया जाता है।

(ङ) कारक नामक उपभेद—

आशाधरभट्ट ने इस सन्दर्भ में **'अब्धितटे दुष्टो हरिहरिणा हतः'** उदाहरण देकर अपने मत को व्याख्यायित किया है। यहाँ तृतीयान्त 'हरिणा' पद के प्रयोग से 'बलराम' का तथा इसी उदाहरण में प्रयुक्त प्रथमान्त 'हरि' पद के प्रयोग से 'द्विविद' नामक वानर का ग्रहण होता है, जो भागवतपुराण के अनुसार है।

इस स्थल पर 'व्यक्ति' नामक शक्तिनियामक के चतुर्थ तत्त्व से केवल पुल्लिङ्गादि का ग्रहण मम्मटादि आचार्यों ने जो किया है, उसको 'आशाधरभट्ट ने चिन्त्य अर्थात् अग्राह्य माना है। व्यक्ति पद की व्युत्पत्ति देते हुए वे कहते हैं कि **'व्यज्यते विभक्तया पुनरपि क्रियते यसौ व्यक्तिः' इति कर्म व्युत्पत्या कृत्स्नस्य नानार्थस्य गृहणौचित्यात्। पञ्चकं नामार्थः इति भाष्य सिद्धान्तात्।**"[९६]

अब्धिन्तटे दुष्टो हरिहरिणाहतः उदाहरण में **कृदन्त हतः** पद के प्रयोग में 'क्त' प्रत्यय होने से कर्ता हरि के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग (हरिणा पद द्वारा) हुआ है। इसी कर्ता कारक के कारण 'हरिणा' का अर्थ बलिराम निर्धारित होता है। तथा 'कर्म' के 'उक्त' होने से प्रथमान्त 'हरिः' पद का नियमन 'वानर' के अर्थ में होता है। आशाधरभट्ट ने स्वयं स्पष्ट करते हुए लिखा है :—

कारकं यथा—अब्धिन्तटे दुष्टो हरिर्हरिणाहतः इत्यत्र कर्तृत्वेन हरिशब्दस्य वासुदेवे शक्तिः। तस्य शङ्खासुरहन्तृत्वात्। अब्धितटे दुष्टं हरिं हरिहतवान् अत्र कर्मत्वेन हरिशब्दस्य वानरे शक्तिः। तत्र हि बलदेवेन द्विरदाख्यो वानरो हतः।[९७]

---

९६. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० १९२४, वाराणसी
९७. वही

५. प्रसिद्ध सान्निध्य

आशाधरभट्ट ने अपनी विश्रुत कृति कोविदानन्द की—

देवस्त्रिनेत्रो जयति शूली जयतिमुक्तिदः।
स्थाणु भजस्व विद्यायै शिवो वन्द्यो जटी कधृक् ॥

कारिका के ही अन्तिम चरण 'जटीकधृक् वन्द्यः' को प्रसिद्धार्थ-सान्निध्य भाव शक्ति-नियामक के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकृतोदाहरण में कधृक' पद विशिष्ट है जिसकी निष्पत्ति 'कं जलं धरति धारयति, (वा) कधृग् गङ्गाधरः'[९८] व्युत्पत्ति से हुई है। यहाँ अनेकार्थक 'जटी' शब्द से शिव रूप के अर्थ की प्रतीति, मात्र 'कधृक' अर्थात् 'गङ्गाधार' रूप प्रसिद्धार्थसान्निध्य नामक शक्ति नियामक के कारण ही हो रही है। आशाधरभट्ट ने स्वयं इसकी पुष्टि निम्न शब्दों से अपनी कादम्बिनी टीका में की है :—

अत्र जटिशब्दस्य प्रसिद्धार्थं सन्निधिः शिवे। शक्ति नियमयाति, मेघादौ जटित्वासम्भवात् ॥[९९]

आशाधरभट्ट ने 'त्रिवेणिका' में भी इसको 'भक्तवश्यो हरिजयति' एवं 'हेमखर्जुरयोदाता' दो उदाहरणों से उदाहृत किया है। इन दोनों उदाहरणों में 'प्रसिद्धसान्निध्य' नामक शक्तिनियामक के कारण ही अर्थ प्रतीति, प्रथम उदाहरण में प्रयुक्त हरि शब्द से 'विष्णु' होती है और 'हेमखर्जुरयोः दाता' में हेम जो स्वर्ण धातु विशेष के अर्थ का अवधारक है—खर्जुर' पद की सन्निधि में होने से 'खर्जुर' शब्द में रजत रूप अर्थ विशेष का निर्धारण होता है। यद्यपि 'रजत' के खर्जुर पद का प्रयोग सामान्य नहीं है, तथापि हेम पद की सन्निधि से कहीं-कहीं रजत अर्थ में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

आशाधरभट्ट ने इसकी पुष्टि 'त्रिवेणिका' के 'शक्तिप्रकरण' में निम्न शब्दों से की है—

हेमखर्जुरयोः दाता इत्यत्र हेमरदसान्तिध्येन खर्जुर शब्दस्य रजते शक्ति-नियमते। अतएव शक्तिग्राहकबलादप्रसिद्धोऽपि खर्जुर शब्द क्वचित् प्रयुज्यत् इति न दोषः।

६. आर्हन्ती, सामर्थ्य, देश और काल :—

आर्हती नामक शक्ति-नियामक के सन्दर्भ में आशाधरभट्ट ने निम्न कारिका लिखी है—

पूजितो जयति स्थाणुः स्थाणुर्जयति सर्वगः।
स्थाणुर्जयति कैलासे, कल्पान्ते स्थाणुरेककः ॥[१००]

---

९८. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २४ वृत्ति

९९. वही, का० २५

१००. आशाबरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २५

इसमें **पूजितो जयति स्थाणुः** पद्यांश को उदाहृत किया है, जिसमें अनेकार्थक 'स्थाणु' शब्द से 'शिवरूप' अर्थ की प्रतीति 'पूजित' पद निहित पूजायोग्यता (आर्हती) के कारण ही होती है, क्योंकि इसी तथ्य की पुष्टि स्वयं ग्रन्थकार ने **पूजित इति पूजयोग्यत्वं सर्वोत्कर्षं च शिवे शक्तिं नियमयति**[101] कहकर की है।

अपने अन्य ग्रन्थ त्रिवेणिका में आशाधरभटट ने 'गुरुदेव परब्रह्म' और **जीवोजल्पति** उदाहरणों को उद्धृत किया, है, जिनमे प्रयुक्त अनेकार्थक 'गुरु' और 'जीव' पदों से क्रमशः 'ब्रह्म' एवं बृहस्पति अर्थ की सुतरां प्रतीति होती है।

७. समर्थता—

कोविदानन्द में—

पूजितो जयति स्थातुः स्थाणुर्जयति सर्वगः ।
स्थाणुर्जयति कैलासे कल्पान्ते स्थाणुरेककः ।।

प्रस्तुत कारिका द्वारा ही 'स्थाणु जयति सर्वगः पद्यांश में अनेकार्थक स्थाणु पद से उसमें निहित 'सर्वव्यापकता रूप सामर्थ्य' के कारण ही शिव-रूप अर्थ की प्रतीति होती है। त्रिवेणिका में सुरभिः पिकमादकः' उदाहरण है। इसमें पिक-मदोत्पादन सामर्थ्य से युक्त होने के कारण ही 'सुरभि' शब्द से 'वसन्त ऋतु अर्थ की प्रतीति होती है। 'राजा ग्रामधनप्रदः' यह भी समर्थता नामक शक्तिनियामक का ही उदाहरण है क्योंकि सामर्थ्य के कारण ही 'राज' शब्द से नृप' अर्थ की प्रतीति होती है।

८. देश—

स्थाणुर्जयति कैलासे उदाहरण से 'देश' नामक शक्ति नियामक की व्याख्या की गई है। समग्र कारिका इस प्रकार है—

पूजितो जयति स्थाणुः स्थाणुर्जयति सर्वगः ।
स्थाणुर्जयति कैलासे कल्पान्ते स्थाणुरेककः ।।[102]

यहाँ अनेकार्थक 'स्थाणु' पद से मात्र देशवाची 'कैलाश' शब्द के कारण ही 'शिव परक' अर्थ की प्रतीति हो रही है। इसी प्रकार अन्य कृति त्रिवेणिका में भी आशाधरभट्ट ने

वैकुण्ठे हरिर्जयति एवं शम्याप्रासाश्रमे कृष्णम्

इन दो उदाहरणों को प्रस्तुत किया है, जिनमें प्रयुक्त अनेकार्थक 'हरिः, एवं कृष्णम्' पदों से क्रमशः 'बैकुण्ठे' इसे देशवाची शब्द के कारण 'हरि' शब्द से

---

१०१. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २५ वृत्ति
१०२. वही, का० २५

'विष्णुपरक अर्थ एवं 'शम्पाप्रासाश्रमे कृष्ण' उदाहरण में प्रयुक्त 'कृष्ण पद से शम्माप्रास रूप देश विशेष के कारण ही कृष्ण शब्द से 'वेदव्यास' रूप अर्थ की प्रतीति हो रही है।

९. **काल-नियामक—**

पूजितो जयति स्थाणुः स्थाणुर्जयति सर्वगः।
स्थाणुर्जयति कैलासे कल्पान्ते स्थाणुरेककः॥[103]

कारिका में ही 'कल्पान्ते स्थाणुरेककः' उदाहरण से काल नामक शक्ति नियामक को व्याख्यायित किया गया है। यहाँ 'कल्पान्ते' पद से प्रलयकाल का बोध होने के कारण ही स्थाणु पद से शिवपरक अर्थ की अन्विति हो जाती है।

त्रिवेणिका में **दिवाविभावसुर्भाति** वाक्य से इसे उदाहृत किया है। यहाँ कालबाची 'दिवा' (दिन) के प्रयोग के आधार पर अनेकार्थक 'विभावसु' शब्द से सूर्य 'परक' अर्थ की प्रतीति होती है और अधिक स्पष्ट करने के लिए आशाधरभट्ट ने लिखा है कि यदि 'दिवा' पद के स्थान पर 'रात्रौ' पद का प्रयोग करके 'रात्रौ विभावसुर्भाति' कहा जाय तो कालवाची रात्रौ (रात) शब्द के प्रयोग के कारण ही अनेकार्थक 'विभामसु' पद से '**वह्निपरक**' अर्थ अन्वित होना न कि सूर्य। ग्रन्थकार के शब्दों में ही—

कालो यथा—दिवा विभावसुर्भाति इत्यत्र दिवसरूप कालेन सूर्ये विभावसुशब्दस्यशक्तिः। रात्राविति पाठेवन्हौ।[104]

१०. **चेष्टा—**

इसका उदाहरण 'कोविदानन्द' नामक ग्रन्थ में 'इदं लिङ्गं महेशस्य' है जिसे—

इदं लिङ्गं महेशस्य सम्बः स्थाणुर्यदाश्रितः।
सेव्यः स्मररिपुः स्थाणूः स्थाणुर्गङ्गाधरोऽवतु॥[105]

कारिका से उद्धृत किया गया है। प्रस्तुत उदाहरण में 'इदम्' पद सापेक्ष है। चूँकि इदम् शब्द प्रत्यक्षवाची है और इससे हस्त-संकेत-रूप चेष्टा की सूचना परिलक्षित होती है, इसलिए ही अनेकार्थक लिङ्ग शब्द का नियमन 'शिव-मूर्ति' रूप अर्थ में सटीक बैठता है। अन्य में नहीं। स्वयं ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने 'कादम्बिनी' नामक टीका में इसे प्रतिष्ठापित भी कर दिया है।

इदमिति—प्रत्यक्षवाचिनेदशब्देन हस्तचेष्टया निर्देशात् गम्यते। तेनानेकार्थस्य लिङ्गशब्दस्य शिवमूर्ति विषयेशक्तिर्नियम्यते।[106]

---

१०३ आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २६, वृत्ति
१०४. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० १०, १०२५, वाराणसी
१०५. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २६
१०६. वही, का० २६ वृत्ति

इस सन्दर्भ में त्रिवेणिका में 'इयं गौर्ममेति दर्शयति' उदाहरण है। यहाँ 'इयम्' सर्वनाम शब्द के प्रयोग से बोध्य 'गौ' शब्द से चेष्टा द्वारा ही 'धेनुपरक' अर्थ की प्रतीति होती है तथा 'अयम्' शब्द के प्रयोग से 'धेनु' के स्थान पर वृषभ की।

चेष्टा यथा—इयं गौर्ममेति दर्शयति इत्यत्र हस्तचेष्टया सर्वनाम बोधितया गोशब्दस्य धेनौ शक्तिः अयमिति पाठे गो शब्दस्य वृषभे शक्तिः।[१०७]

११. साहचर्य—

इस शक्तिनियामक के सन्दर्भ में 'साम्बः स्थाणुर्यदाश्रितः उदाहरण दिया गया है। जिसमें प्रयुक्त अनेकार्थक 'स्थाणु' शब्द से 'शिवपरक' अर्थ की प्रतीति 'साम्बः' पद के साहचर्य के कारण ही अन्वित होती है। आशाधरभट्ट ने इसकी पुष्टि कादम्बिनी नामक टीका में **साम्ब इति अम्बा साहचर्यात् स्थाणु शब्दस्य शिवे।**[१०८]

'त्रिवेणिका' में 'साहचर्य नामक शक्तिनियामक को 'पार्थकृष्णौ रथे स्थितौ' पद्यांश से उदाहृत किया है। यहाँ कनेकार्थक 'पार्थ' शब्द से कृष्ण पद के साहचर्य के कारण ही अर्जुन परक अर्थ की प्रतीति अन्वित होती है।

१२. विरुद्धता—

कोविदानन्द में इस सन्दर्भ में 'स्मररिपुः स्थाणु सेव्यः' उदाहरण है, जिसमें प्रयुक्त अनेकार्थक 'स्थाणु' शब्द का नियमन शिवपरक अर्थ में मात्र स्मर अर्थात् कामदेव के विरोध या विरुद्धता के कारण ही हो रहा है। आशाधरभट्ट ने इसी भाव को 'कादम्बिनी' नामक टीका में स्पष्ट किया है—

स्मररिपुरिति। अत्र स्मरविरोधित्वेन स्थाणुशब्दस्य शिवे।[१०९]

अन्य ग्रन्थ 'त्रिवेणिका' में भी विरुद्धता नामक शक्ति नियामक को आशाधर-भट्ट ने **रामोऽर्जुनकुलान्तकः** वाक्य से व्याख्यायित किया है। यहाँ राम शब्द से परशुराम अर्थात् भार्गवपरक अर्थ तथा अर्जुन शब्द से 'कार्तवीर्य अर्थात् सहस्रार्जुन परक अर्थ की प्रतीति ही सङ्गत होती है; क्योंकि इन्हीं दोनों में परस्पर विरोध था। स्वयंग्रन्थकार के शब्दों में—

रामोऽर्जुनकुलान्तकः अत्र विरुद्धतया रामशब्दस्य भार्गवे शक्तिः। तत् एवार्जुन शब्दे कार्तवीर्ये।[११०]

---

१०७. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० १०, १९२५, वाराणसी
१०८ आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २६ वृत्ति
१०९. वही,
११०. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० १०, १९२५, वाराणसी

१३. संयुक्तत्वम्—

इसका उदाहरण कोविदानन्द में 'स्थाद्दुर्गङ्गाधरोऽवतु' दिया है, जिसकी व्याख्या आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द की 'कादम्बिनी' टीका में करते हुए लिखा है—

गङ्गाधर इत्यत्र गङ्गासंयुक्तत्वेन स्थाणु शब्दस्य शिवे (शक्ति)[111]

तात्पर्य यह है कि गङ्गा से संयोग का बोध इसी अनेकार्थक स्थाणु पद का नियमन शिवरूप अर्थ में करा रहा है।

त्रिवेणिका में 'जयिनौ हरिणो हरि राघवौ' से संयुक्तत्वम् को उदाहृत किया है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है जयिनौ हरिणो हरि राघवो अत्र हरि शब्दस्य राघव संयुक्तत्वेन सुग्रीवाक्ये कोशे शक्ति नियम्यते। ततश्च राघवशब्दस्य रामे।[112]

तात्पर्य यह है कि इस उदाहरण में प्रयुक्त अनेकार्थक 'हरि' शब्द, राघव शब्द के संयुक्तत्व अर्थात् संयोग के कारण ही सुग्रीव नामक 'बंदर विशेष' का बोधक है।

१४. वियुक्तत्वम्—

इस सन्दर्भ में आशाधरभट् ने अपने दोनों ग्रन्थों कोविदानन्द और त्रिवेणिका में एक-एक उदाहरण दिया है। **कोविदानन्द** में इसे 'अशूलो ध्यानगः स्थाणुः' निदर्शन से व्याख्यायित किया है, जिसकी व्याख्या में आशाधरभट्ट ने 'कादम्बिनी' नामक टीका में स्वयं व्याख्या की है **'अशूल इति ध्यानगो ध्यानस्थ इत्यर्थः।**[113] अर्थात् अशूलो धानगः स्थाणुः वाक्य में अमूलो अर्थात् शूलवियुक्त कहने के कारण ही 'स्थाणु' पद शिवपरक अर्थ की प्रतीति कराता है।

त्रिवेणिका में इस 'वियुक्ततत्वम्' नामक शक्तिनियामक को रामः **सीतां स्मरन् दूनः** से व्याख्यायित करते हुए लिखा है—

रामः सीतां **स्मरन् दूतः' इति वाक्ये रामशब्दस्य सीता वियुक्तत्वेन राघवे शक्तिः। सीतायाश्च जानक्याम्।**[114]

तात्पर्य ग्रह है कि 'सीता' के वियुक्तत्व' (वियोग) के कारण ही राम शब्द के विभिन्न अर्थों में से 'राघव अर्थ विशेष ही समीचीन लगता है, क्योंकि राजा रघु की वंश परम्परा में ही राम और सीता का उल्लेख पति और पत्नी के रूप में है, अन्यत्र कहीं नहीं।

---

१११. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २६, वृत्ति
११२. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० १९, वाराणसी
११३. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० २७, वृत्ति
११४. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० १९२५, वाराणसी

१५. स्वर नामक अन्तिम शक्तिनियामक—

अशूलो ध्यानगः स्थाणुर्जयत्यसुरसूदनः ।
संयुक्तत्वे पृथक्त्वे च स्वयमूहय यथायथम् ।।[११५]

कोविदानन्द की उक्त कारिका से ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने 'जयति असूर-सूदनः' पद्यांश को उदाहृत किया है। समास के पद अर्थात् समस्त पद में ही 'स्वर' शक्ति नियामक का निर्धारण होता है। आशाधरभट्ट ने इसको व्याख्या में स्वयं कोविदानन्द की 'कादम्बिनी' नामक टीका में इसे व्याख्यायित करते हुए शुक्ल यजुर्वेद को उद्धृत किया है—

असुरसूदन इत्यत्र इन्द्रशत्रुवत्तत्पुरुषस्वरेण शम्भौ शक्तिर्नियम्यते। वस्तुतस्तु काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते स्वर संस्कारयोश्छन्दसिनियमः (शुक्लयजु० सूत्र १) इति प्रातिशाख्य वचनात्। संयुक्तत्वे मिश्रितत्वे पृथकत्वेऽमिश्रितत्वे च यथायथं यथायोग्यं स्वयं विभावनीयम्।[११६]

अर्थात् स्वर नामक शक्ति नियामक के प्रकृतोदाहरण जयति असुर सूदनः वाक्य में असुरश्च असौ सूदनः विग्रह करने पर कर्म धारय समास एवं असुर पद में प्रकृति स्वर होगा। अर्थात् असुर पदगत उदात स्वर की शाश्वत विद्यमानता होगी, परन्तु **असुराणां सूदनः** विग्रह करने पर षष्ठी-तत्पुरुष समास की सत्ता एवं 'समासान्त स्वर' अर्थात् 'अन्त्य' की सिद्धभावना उदात होगी। इस प्रकार क्रमशः कर्मधारय समास के सन्दर्भ में समस्तपद '**असुरसूदनः**' पद से विनाशक 'असुर' रूप अर्थ की प्रतीति होगी तथा षष्ठी तत्पुरुष समास की सरणि से समस्त पद **असुर-सूदनः** पद से असूरों का विनत्शक शिव रूप अर्थ की प्रतीति ही अन्वित होगी।

इस प्रकार उक्त दोनों अर्थों के पार्थक्य की सत्ता स्वरों के पार्थक्य पर आधारित होगी ऐसे स्थलों पर 'स्वर' ही अभीष्ट अर्थ की प्रतीति का कारण या हेतु होगा।

अन्य ग्रन्थ त्रिवेणिका में आशाधरभट्ट ने स्वर नामक शक्ति-नियामक को सुधारकर सुहृदक्त्रदृष्टिपङ्कजवैरिणी 'वाक्य' से उदाहृत किया है, जिसकी व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—

स्वरो यथा—सुधाकरसहृद्वक्त्रदृष्टि पङ्कजवैरिणी इत्यत्र पदद्वयेन तत्पुरुष-स्वरोच्चारणेन वक्त्रे दृष्टौ च प्राधांन्येन शक्तिः । वस्तुतस्तु काव्यमार्ग स्वरो न गण्यते स्वरसंस्कारयोछन्दसि नियमः' इति प्रातिशाख्यवचनात्। एषामनेकेषां मेलेन दानाधिक्यात्फलाधिक्यमिति न्यायेन सौकर्यातिशयः।[११७]

११५. आशाधरभट्ट : कोविदावन्द, अभिधानिरूपण, का० १७, वृत्तिभाग

११६. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० १६, १६२५, वाराणसी

११७. पाणिनि : अष्टाध्यायी, २।१।२३३

अर्थात् यहाँ 'सुधाकर सुहृद्वक्त्रदृष्टि पङ्कजवैरिणी' इस उदाहरण में सुधाकरस्य सुहृद' विग्रह करके तत्पुरुष समास में 'समासस्य'[११८] सूत्र के द्वारा 'अन्तोदात' होगा, परन्तु 'बहुव्रीहिसमास करने पर बहुव्रीहिप्रवृत्यापूर्वपदम्[११९] सूत्र से आद्यदात्त अतः यदि स्वर अन्तोदात्त है तो तत्पुरुष समास मानकर अर्थ का निर्धारण होगा, अन्यथा आद्युदात होने पर 'बहुव्रीहि समास' के द्वारा ही अर्थ करना उपयुक्त होगा।

ग. संकेतग्रह-सिद्धान्त

अभिधा के सन्दर्भ में सभी मत यह स्वीकार करते हैं कि संकेत की सहायता से ही कोई शब्द किसी अर्थ का वाचक होता है। इसका अभिप्राय यह है कि शब्द का संकेत किसी में निहित होता है, जहाँ शब्द संकेत होता है और अर्थ सङ्केतित।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि शब्द अर्थ को किस रूप में सङ्केतित करता है, इस प्रश्न के उठने का कारण यह है कि अर्थ कभी तो नाम से जाना जाता है, कभी गुण से, कभी जाति से तो कभी क्रिया से। इसके अतिरिक्त भी अन्य किसी प्रकार से अर्थ समझा जा सकता है। फिर शब्द इसमें से किसको संकेतित करता है ? एक ही साथ वह सबकी तो संकेतित कर नहीं सकता। अतः इनमें से किसी एक को ही संकेतित करने की क्षमता उसमें होती है। उसी को हम शब्द का प्रथम अर्थ अर्थात् शब्द से साक्षात् रूप से सम्बन्धित अर्थ कहेंगे। उससे अन्य अर्थ संकेतित न होकर परम्परा से सम्बद्ध माने जायेंगे। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारे समक्ष नैयायिक, मीमांसक, बौद्ध एवं व्याकरणों की अपनी-अपनी मान्यताएं उपस्थित होती हैं। उन्हीं का विवेचन करना हमारा यहाँ लक्ष्य है। इस सम्बन्ध में विचार करने पर सबसे पहले अर्थ का जो स्वरूप हमारी पकड़ में आता है वह है—व्यक्ति, जिसका अभिप्राय है अर्थ का अकेला स्वरूप अथवा इसकी इकाई, क्योंकि व्यवहार में आने वाला अर्थ का स्वरूप व्यक्ति ही होता है—इसी को 'अर्थ-क्रियाकारिता' कहते हैं। अर्थात् दुग्ध रूप प्रयोजन की प्राप्ति के लिए जब क्रियाशील होता है तो उस क्रिया का आस्पद अर्थ की एक इकाई ही होती है। उदाहरणतः दुग्ध रूपी प्रयोजन की प्राप्ति के लिए दोहन क्रिया का आस्पद कोई एक गाय ही हो सकती है—सभी गायें नहीं। इसलिए नव्यनैयायिकों ने शब्द का संकेतग्रह व्यक्ति में माना है। इसका अभिप्राय यह है कि कोई भी शब्द व्यवह्रित होने पर सबसे पहले 'व्यक्ति रूप अर्थ' का ही बोध कराता है। अतः संकेतग्रह व्यक्ति विशेष में ही होना चाहिए, किन्तु व्यक्ति में संकेतग्रह मानने पर कई दोष उपस्थित

११८. पाणिनि अष्टाध्यायी ६।३।१

११९. वही,

होते हैं, जैसे—पहला आनन्त्य, जिसका अर्थ यह है कि किसी भी अर्थ के 'व्यक्ति' अनन्त होते हैं, अतः व्यक्ति रूप से उनका बोध कराने के लिए अनन्त संकेतों की आवश्यकता पड़ेगी। इससे गौरव दोष होगा। अब तक तो यह है कि उन अनन्त व्यक्तियों को हम एक शब्द से समझते रहे हैं। केवल 'गौ' शब्द के प्रयोग से भूत, भविष्य तथा वर्तमान की अनेक गायों का अर्थ ग्रहण किया जाता है। व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से किसी एक ही गाय को हम 'गाय' की संज्ञा दे सकेंगे। गाय शब्द से सभी गायों का बोध नहीं कर पायेंगे।

दूसरा दोष जो इस प्रसङ्ग में पड़ेगा वह है व्यभिचार, क्योंकि '**गौर्दुग्धं ददाति**' तथा '**कम्बुग्रीवादिमान् घटो भवति**' इत्यादि स्थलों में और घट पद व्यक्ति के बोधक न होकर जाति के स्मारक है अतः उक्त नियम का उल्लङ्घन होने से इसे व्यभिचार दोष कहा जायेगा।

तीसरी कठिनाई एक और उपस्थित होगी, वह है शब्दों के व्यक्तिपरक होने से संज्ञावाचक जातिवाचक, गुणवाचक एवं क्रियावाचक—सभी शब्दों का एक मात्र अर्थ होगा। व्यक्ति विशेष जिसमें कोई अन्तर नहीं होगा। इसलिए प्राचीन नैयायिकों जाति वाले विशेष व्यक्ति में संकेतग्रह मानना उचित समझा है। इस प्रकार 'गौ' शब्द का संकेतित अर्थ 'गोत्वजातिविशिष्ट' गौ व्यक्ति होता है। मीमांसकों को इस पर इसलिए आपति है कि शब्द कभी-कभी केवल जाति का ही बोध कराता है, व्यक्ति आदि वहाँ गौण हो जाते हैं। ऐसे स्थलों में जाति-विशिष्ठ व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से व्यवहार नहीं बनेगा तथा 'गौरव' भी पड़ेगा; क्योंकि केवल जाति में संकेतग्रह मान लेने से ही जहाँ व्यक्ति भी अभीष्ट है, लक्षणा के द्वारा उसका ग्रहण हो जायेगा। क्योंकि लक्षणा को स्वीकार किया ही जा चुका है। किन्तु बौद्ध लोग इसे स्वीकार नहीं करते, क्योंकि जाति नित्य होती है। इस लिए उसमें संकेतग्रह मानने से नित्यता का अपलाप नहीं होता। अतः उन्होंने '**ऊपोह**' में संकेतग्रह माना है। अप पूर्वक 'ऊह' धातु से निष्पन्न ऊपोह शब्द इस बात को बताता है कि संकेतग्रह के सम्बन्ध में बुद्धि में उल्टी प्रक्रिया कार्य करती है। जैसे गौ शब्द का संकेत ग्रह ऊपोह में इसलिए होता है कि गो से भिन्न जितने पशुओं को हम जानते हैं—उन सबसे भिन्न में संकेतग्रह होता है। इसका अभिप्राय यह है कि दो निषेधों के योग से संकेतग्रहों के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है।

आचार्य मम्मट ने अपनी विश्रुत कृति काव्य-प्रकाश में बताया है कि संकेत का सम्बन्ध चूंकि वैयाकरणों से है, अतः इसे उनके सिद्धान्त के अनुसार संकेतग्रह व्यक्ति में न होकर 'व्यक्ति' की जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा नामक चार उपाधियों में अलग-अलग होते हैं। तभी महाभाष्यकार की उक्ति 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' सार्थक होती है।

आचार्य मम्मट ने इसको एक अन्य प्रकार से भी व्यवस्थापित किया है। उनका कहना है कि संकेतग्रह व्यक्ति में न होकर 'व्यक्ति की उपाधि में होता है। उपाधि मूलतः दो प्रकार की होती है—एक आरोपित दूसरी उसी में पाई जाने वाली। व्यक्ति की आरोपित उपाधि उसका केवल नाम है, जो संयोगवश ही उसे प्राप्त हो गई। दूसरी उपाधि उसका प्राणप्रद धर्म है। जो सिद्ध भी होता है और साध्य भी। व्यक्ति का साध्य धर्म क्रिया है, जिसे वह समय समय पर सम्पादित करता है। सिद्ध धर्म भी दो प्रकार का होता है प्राणप्रद और विशेषाधान हेतु। व्यक्ति का वह धर्म जो उसे दूसरों से अलग करता है वह '**विशेषाधान-हेतु**' कहलाता हैं, जैसे काली गाय, सफेद घोड़ा आदि—इसी को गुण कहते हैं। व्यक्ति का प्राणप्रद धर्म तो जाति है, जैसे गौत्व, मनुष्यत्व आदि। उसके बिना व्यक्ति की सत्ता सम्भावित नहीं, इसलिए जाति को सत्ता भी कहते हैं।

आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द की एक कारिका में इस बात का प्रतिपादन बड़ी सरलता से कर दिया है। आशाधरभट्ट संकेतग्रह के विषय में मम्मट एवं विश्वनाथ के विवेचनों से सहमत प्रतीत नहीं होते। उनकी धारणा है कि संकेतग्रह तो वस्तुतः व्यक्ति में ही होता है। जाति आदि उनकी उपाधियां हैं। उनमें संकेतग्रह इसलिए नहीं हो सकता; क्योंकि गमन आदि क्रिया की उपयुक्तता गो आदि व्यक्ति में ही सम्भव है, तथा जल आनयन आदि की उपयोगिता घटादि व्यक्ति में ही सम्भव है। जाति आदि के कहीं चेतन तो कहीं अचेतन होने से क्रिया और अर्थ की उपयोगिता उनमें सम्भव नहीं—

व्यक्तिष्वेव तु संकेतो जात्याद्यास्तदुपाधयः।
न तु तेष्वेव संकेतः क्रियार्थानुपयोगतः ॥[१२०]

आशाधरभट्ट के अनुसार क्रियार्थोपयोगी होने से व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानना समुचित है किन्तु वह 'दुर्गेय' अर्थात् दुर्बोध्य होता है। हमें उसकी प्रतीति जाति, गुण, क्रिया एवं संज्ञा नामक हेतुओं से ही होती है। अतः जात्यादि संकेतग्रह के हेतु सिद्ध होते हैं न कि इनमें ही संकेतग्रह होता है—

संकेतस्तु प्रतिव्यक्ति दुर्गेय इति हेतुभिः।
जात्या गुणेन क्रियया सुबोधः संज्ञया तु सः ॥[१२१]
गौशुक्लश्चलः शम्भो नन्दीवाहनकेतनम् ।
इत्यादौ क्रमतो ज्ञेया शब्दसंकेत हेतवः ॥[१२२]

---

१२०. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० ३१
१२१. वही, का० २८
१२२. वही, का० ३२

सामान्यं जातिरित्युक्तं गुणः शुक्लादिकोमतः ।
क्रियोक्ता चलन्तदिश्च संज्ञा चाकृतिरेकिका ।।[१२३]

आचार्य मम्मट ने गुण, क्रिया और यदृच्छा—इन तीनों तत्त्वों का समाहार केवल जाति में ही प्रदर्शित कर दिया है तथा उसी के आधार पर केवल जाति में ही संकेतग्रह मानने के मीमांसकों के मत का भी समर्थन कर दिया है, जिसकी अभिव्यक्ति मूल कारिका 'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादि जातिरेव वा' से हो जाती है ।

मम्मट का अभिप्राय यह है कि गुण, क्रिया, यदृच्छा से जिन अर्थों का बोध होता है, उन पर भी जाति का लक्षण घट जाता है । जाति का लक्षण है—'नित्यत्वेसति अनेकसमवेतत्वम्' जिसका अभिप्राय है जो तत्त्व अनेक व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से नित्य अर्थात् सर्वदा विद्यमान रहता है, उसे ही जाति कहते हैं, इसी को 'सामान्य' भी कहा गया है, जो अनेक व्यक्तियों में अनुगत होते हुए भी मात्र एक ही होता है तथा व्यक्तियों के मृत या नष्ट होने पर भी वह मृत या नष्ट नहीं होता, अपितु नित्य बना रहता है । 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्' गुणादि अन्य उपाधियों के स्वरूप का परीक्षण करने पर उन पर जाति का लक्षण ठीक-ठीक घट जाता है । उदाहरणतः शुक्ल एक गुण है जो एक व्यक्ति की नहीं अपितु अनेक व्यक्तियों की उपाधि है । इस प्रकार वह दुग्ध, हिम, वस्त्र आदि अनेक व्यक्तियों में अनुगत होता हुआ भी 'शुक्लत्व' कुल मिलाकर एक ही वस्तु है । इसी प्रकार पकाई जाने वाली तमाम वस्तुओं में अनुगत 'पाक-क्रिया' सम्बन्धी भिन्न-भिन्न है, किन्तु वह पाकत्व के रूप में एक ही है, इसलिए क्रिया का भी जाति में ही पर्यवसान होता है । इसी प्रकार डित्थ, डवित्थ, कपित्थ आदि विशुद्ध रूप से व्यक्ति बोधक संज्ञाओं में भी अनेकत्व इसलिए है कि वे बाल युवा एवं वृद्धावस्थाओं के विविध रूपांङ्गों में अनुगत हैं । 'व्यक्ति' के बाल से युवा या युवा से वृद्ध होने पर उसके स्वरूप में भेद होने से उसमें अनेकता की प्रतीति तो हो ही जाती है, किन्तु उसका नाम एक ही बना रहता है । अथवा व्यक्ति के एक ही नाम को बालक, वृद्ध और तोते आदि विविध प्रकार से उच्चारित करते हैं, जिससे वह एक होते हुए भी अनेकानुगत हो जाता है । फलतः वहाँ भी डित्थस्वरूप जाति उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार गुण, क्रिया एवं यदृच्छा नामक उपाधियों का पर्यवसान या अन्तर्भाव जाति नामक उपाधि में ही सम्भव होने से केवल जाति में ही संकेतग्रह मानने का विकल्प मम्मट ने 'जातिरेव वा' से दिया है । किन्तु, आशाधरभट्ट अपने व्यक्ति वाले पक्ष पर पूर्ण रूप से दृढ़ नहीं प्रतीत होते हैं इसलिए उन्होंने 'अथवा'

१२३. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण का० २६

कहकर जाति आदि संकेतग्रह मानना 'लाघव' है। ऐसा स्पष्ट किया है। व्यक्ति का बोध तो शब्द के अतिरिक्त अन्य प्रमाण से हो सकता है, जहाँ पर अन्य प्रमाण से अर्थ की प्रतीति हो सकती है, वहाँ शब्द की प्रमाणता स्वीकार्य नहीं है। इसलिए लाघव वश व्यक्ति की जाति आदि उपाधियों में संकेतग्रह माना गया है; क्योंकि इनसे निखिल व्यक्तियों का ग्रहण हो जाता है। व्यक्ति का इनसे अविनाभाव सम्बन्ध होता है। इसलिए व्यक्ति 'शब्दवाच्य' नहीं माना गया है—

उपाधिभिश्चतुर्भिश्च बोध्यन्ते व्यक्तयोऽखिलाः।
अविनाभावतस्तस्माच्छब्दवाच्या न ताः स्मृताः॥[१२४]
प्रमाणान्तरगम्येऽर्थे न शब्दस्य प्रमाणता।
लाघवात् स्वीकृता तस्मात् संकेतो नास्ति वस्तुषु॥[१२५]

यही नहीं, आशाधरभट्ट ने आगे चलकर मम्मट द्वारा प्रतिपादित 'जातिरेव वा' पक्ष का समर्थन करते हुए कहा है, चूँकि जाति ही एक ऐसा तत्त्व है जो गुण, क्रिया यदृच्छा में भी रहता है, इसलिए केवल जाति में ही संकेतग्रह माना जा सकता है—

सर्वत्र सम्भावज्जातेः सा वा संकेतगोचरः।

टीका 'कादम्बिनी' में प्रायेण मम्मट की पदावली का प्रयोग करते हुए उन्होंने कहा है कि हिम, पय, शंख आदि शुक्ल गुण रूप व्यक्ति भेद से गुड़, तण्डुल, पाक, आदि क्रिया भेद से तथा डित्थ आदि शरीर के वृद्धि और ह्रास द्वारा प्रतिक्षण भिन्न होने से इन सबमें अनेकता उत्पन्न हो जाती है, जिससे सामान्य (जाति) की सत्ता सर्वत्र सिद्ध हो जाती है।

हिमपयश्शङ्खादिषु शुक्लगुणरूपव्यक्तिभेदाद् गुणतण्डुलपाकादिक्रियाभेदाद् डित्थादिशरीरस्योपचयापचयाभ्यां प्रतिक्षणं भिन्नतयाऽनेकत्वाच्च सर्वत्र सामान्यमस्तीति। इससे यह सिद्ध होता है कि आशाधरभट्ट यद्यपि संकेतग्रह का आस्पदा 'व्यक्ति' को ही मानते हैं, पर उसके दुर्बोध्व होने से वे (व्यक्ति की) जाति आदि उपाधियों को संकेतग्रह का हेतु कहते हैं। अनन्तर मम्मट की सरणि पर ही जाति के सर्वत्र विद्यमान होने से उसे ही संकेतगोचर स्वीकार करते हैं।

उन्होंने यहीं पर जाति विशिष्ट व्यक्ति एवं अपोह में संकेतग्रह के नैयायिकों एवं बौद्धों के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए उन्हें गौरव दोषग्रस्त बताया है—

तद्विशिष्टाथवा व्यक्तिरपोहो वा मतान्तरे।[१२६]

---

१२४. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० ६४ उत्तरार्द्ध

१२५. वही, का० ६५ पूर्वार्द्ध

१२६. वही, का० ४६ उत्तरार्द्ध

जातिव्यक्त्या कृतिरर्थमाहुरन्येऽत्र गौरवम् ।[१२७]

यहीं पर आशाधरभट्ट ने जाति, व्यक्ति और आकृति को पदार्थ मानने वाले नैयायिकों के सिद्धान्त का उल्लेख किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि पद अर्थात् शब्द से प्रतीत होने वाले अर्थ तीन प्रकार के होते हैं—जाति, व्यक्ति और आकृति । अतः इन तीनों को ही संकेतग्रह का विषय मानना चाहिए । आशाधरभट्ट ने इसे 'गौरवम' कहकर प्रसिद्ध किया है—

जातिव्यक्त्याकृतिरर्थमाहुरन्येऽत्र गौरवम् ।
शब्दार्थः प्रथमा व्यक्तिरन्या लाक्षणिका मता ॥[१२८]

इसका विवेचन करते हुए वे टीका में कहते हैं कि 'अत्र गौरवादिति शक्यतावच्छेदक नानात्वात् इति भावः' जिसका अभिप्राय यह है कि उक्त रीति से जाति, व्यक्ति और आकृति में संकेतग्रह मानने से एक ही साथ अनेक अर्थों के प्रतीयमान होने से गौरवदोष ही उपस्थित होता है अथवा पूर्व सरणि पर यदि केवल जाति में ही संकेतग्रह मानने से सभी प्रकार के पदार्थों का बोध हो जाता है तो व्यक्ति और आकृति को भी संकेत गोचर स्वीकार करने से 'गौरव' के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा । इसलिए यह मत ग्राह्य नहीं है ।

किसी के मत का उल्लेख करते हुए आशाधरभट्ट कहते हैं कि व्यक्ति दो प्रकार का होता है –एक वह जो शब्द का वाच्य अर्थ होता है, दूसरा वह जो लाक्षणिक अर्थात् लक्षणागम्य होता है । वाच्य रूप व्यक्ति, व्यक्ति विशेष होता है तथा लक्षणा से जिस व्यक्ति का ज्ञान होता है वह सामान्य होता है । इस प्रकार व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानने से जाति और व्यक्ति दोनों का ग्रहण सम्भव है, किन्तु आशाधरभट्ट ने इसे यह कहकर तिरस्कृत कर दिया है कि यह पक्ष चारु नहीं है । वस्तुतः वहाँ नव्यनैयायिको के मात्र व्यक्ति में ही संकेतग्रह करने के पक्ष का समर्थन है, जिसका निराकरण 'आनन्त्य' एवं 'व्यभिचार' आदि दोषों के कारण किया जा चुका है ।

लिङ्ग संख्या और कारकों में संकेतग्रह का विधान मिलता है, जिसके अनुसार लिङ्ग संख्या और कारक तीनों का वाच्य विभक्ति ही होती है । अतः पद में संकेतग्रह होना चाहिए । यह पक्ष स्फोटवादियों का है ।

ग्रन्थकार आशाधरभट्ट का कहना है कि पूर्वोक्त विवेचित अनेक पक्षों में केवल प्रथम अर्थात् व्यक्ति की उपाधि जाति में संकेतग्रह ही दोषरहित होने से सम्मत है, शेष सदोष हैं—

---

१२७. आशाधरभट्ट, कोविदानन्द, अभिधानिरूपण का० ३७ पूर्वार्द्ध

१२८. वही, का० ३७

विभक्तिर्वाच्यता तेषां वस्तुतश्चारुतायुता ।
प्रथमं दर्शितः पक्षः साधीयानेषु सम्मतः ।।[129]

घ. शक्ति अर्थात् अभिधा के भेद-प्रभेद

शक्ति अर्थात् अभिधा तीन प्रकार की होती है—

१. योग
२. रूढ़ि तथा
३. योगरूढ़ि

आशाधरभट्ट ने 'कोविदानन्द' में शक्ति-भेद के सन्दर्भ में लिखा है—

प्रथमा त्रिविधास्तत्र रूढि योगस्तथोमयी ।[131]

त्रिवेणिका में इसी त्रैविध्य को स्वीकारते हुए लिखा है—

सा त्रिविधा योगो रूढिर्योगरूढिश्चेति ।[131]

आशाधरभट्ट ने अपने पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट शक्ति-भेदों को लेते हुए अपने मत का निरूपण किया है—यह उनकी अपनी विशेषता है।

आशाधरभट्ट का कथन है कि पूर्वाचार्यानुमोदित जो शक्ति के दो भेद (१) तिङन्त (२) सुबन्त हैं, इनके प्रथम भेद तिङन्त में प्रकृति प्रत्यय रहता है तथा इसके सुबन्त भेद के सन्दर्भ में यास्क ने अपने 'निरुक्त' में लिखा है—

सर्वमाख्यातजं नाम इति निरुक्तवचनात् ।[132]

अर्थात् वे सभी संज्ञाएँ आख्यातज अर्थात् क्रियाजन्य होती है।

अतः दोनों ही भेद मौलिक रूप से भिन्न-भिन्न न होकर एक ही रूप में परिगणित हो जाते हैं। प्रत्येक शब्द में किसी न किसी प्रकार योग बन ही सकता है। इसलिए ही 'शक्ति' के केवल एक प्रकार के होने का भी सिद्धान्त निराधार नहीं है। तथापि निपातादि अव्ययों में काल्पनिक व्युत्पति प्रदर्शित करने से प्रक्रिया मात्र का गौरव होता है तथा उसका फल कुछ नहीं निकलता। इसलिए मोटे तौर पर आशाधरभट्ट ने 'त्रिवेणिका' में 'रस-प्रदीप' को उद्धृत कर 'योग' और 'रूढि'—दो भेदों को मानने का सिद्धान्त भी उल्लिखित करके सम्यक् उपस्थापन किया है—

भवेतां यदि वृक्षस्य वाजिकर्णो कथचञ्न ।
तदा रूढि परित्यज्य योगमेव समाश्रयेत् ।।[133]

---

१२९. आशाधरभट्ट, कोविदानन्द, अभिधानिरूपणम् का० ३९
१३०. वही, का० ४७ पूर्वार्द्ध
१३१. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका शक्तिप्रकरण, पृ० ६, १९५७, वाराणसी
१३२. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० ७, १९५७, वाराणसी
१३३. वही, पृ० में उद्धृत रसप्रदीप

तात्पर्य यह है कि यदि किसी प्रकार वृक्ष के भी हाथ और कान सम्भव हों तो रूढ़ि को छोड़कर केवल योग को माना जा सकता है, अर्थात् जिस प्रकार वृक्ष के हाथ और कान सम्भव नहीं होंगे उसी प्रकार शब्दों में निहित 'शक्ति' केवल रूढ़ि या केवल योगाश्रित नहीं मानी जा सकती ।

पूर्वोक्त विवरण में ग्रन्थकार आशाधरभट्ट द्वारा 'सुबन्त' और तिङ्गन्त' दो प्रकार के शक्ति के सिद्धान्त—भेद बौद्धों के हैं। इसकी झलक हमें भामह के 'काव्यालङ्कार' में भी मिलती है। वे लिखते हैं—

सुपां तिङ्गां च व्युत्पत्ति वाचावन्क्षन्त्यलङ्कृतिम्

सभी शब्द क्रियापरक होते हैं, निरुक्त यास्क का है, जिसका अभिप्राय है कि सभी शब्द योगिक हैं तथा उनकी मूल प्रकृति में कोई न कोई क्रिया अवश्य है। इस प्रकार ग्रन्थकार आशाधरभट्ट बड़ी ही बुद्धिमानी से बौद्धों का 'सुबन्त-तिङ्गन्त सम्बन्धी तथा निरुक्तकार यास्क का योग व रूढ़ि सम्बन्धी विविध भेदों का वर्णन करके, अपने मत के प्रतिपादन में अपने मतों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि सभी शब्दों में 'योगिक' शक्ति मानने से व्यवस्था नहीं बनती तो 'रुढ़ि शक्ति' को स्वीकार किया जा सकता है ? इसका निषेध करते हुए कहते हैं—

रूढयाकेवलया निर्वाहे व्याकरणशास्त्रमनारम्भणीयं स्यात्, पाचकाद्यर्थं बोधश्च न स्यात् ।[134]

अर्थात् केवल 'रूढ़ि' शक्ति के ही मानने पर पहला दोष यह होगा कि व्याकरण शास्त्र को तिलाञ्जलि देना पड़ेगा अथवा इसे हम दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि यदि भाषा का आरम्भ 'रूढ़' शब्दों से ही हुआ होता तो भाषा के अध्ययन के लिए व्याकरणशास्त्र का उद्भव न हुआ होता तथा पाचक आदि योगिक शब्दों से किसी भी अर्थ का बोध नहीं होता ।

अतः यह मानना चाहिए कि 'शब्द की शक्तियां' योग और रूढ़ि दोनों ही समान रूप से विद्यमान हैं। परिणामतः किसी स्थल पर एक की प्रधानता से कोई दोष नहीं आता। जैसे 'पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि' में योग शक्ति की प्रधानता है, अतः 'सरोरुह' और 'पद्म' दोनों शब्दों के प्रयोग में पुनरुक्ति दोष नहीं होगा। इसी तरह से 'उत्फुल्लस्थलनलिनी' में 'रूढ़ि' की प्रधानता है। अन्यथा 'स्थलनलिनी पुष्प' और कमल एक नहीं हो सकते। इस प्रकार शब्दों के अवयवों को जोड़कर जहाँ अर्थ की प्रतीति होती है—उसे शब्द की योगशक्ति कहते हैं—

तत्रावयवयोगप्रधाना योगशक्तिः ।[135]

---

१३४. आशाधरभट्ट, त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण पृ० ७, १९५७

१३५. वही.

इस प्रकार आशाधरभट्ट ने अपने मत का अर्थात् रूढ़ि, योग एवं योगरूढ़ि—तीनों शक्ति-भेदों का निरूपण करने से पूर्व पृथक्-पृथक् रूप में उनकी परिभाषाएं अपने दोनों ग्रन्थों—कोविदानन्द और त्रिवेणिका में दी हैं।

(१) **रूढ़िशक्ति**—

आशाधरभट्ट ने 'कोविदानन्द' में **अखण्डशब्दे सा रूढिः**[१३६] कहकर रूढ़ि शक्ति को तथा त्रिवेणिका में—**संकेतमात्रप्रसिद्धि प्रधानारूढिः**[१३७] शब्दों से परिभाषित किया है।

अर्थात् जहाँ संकेत की प्रसिद्धि मात्र से 'अर्थ' की प्रतीति होती है, उसे ही 'रूढ़ि' कहेंगे अथवा जिन शब्दों से धातु प्रत्ययादि के आधार पर खण्ड की कल्पना सम्भाव्य नहीं होती, उन्हीं शब्दों में रूढ़ि शक्ति (अभिधा) की प्रतीति होती है।

(२) **योगशक्ति**—

कोविदानन्द और त्रिवेणिका में आशाधरभट्ट एक ही मन्तव्य से 'योगशक्ति' को व्याख्यायित करते हैं। भेद मात्र शब्दों का है। ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द में '**योग खण्डनकल्पिते** कहकर 'योगशक्ति' की परिभाषा दी है। आपने स्वयं कादम्बिनी नामक टीका में **खण्डनकल्पिते** पद की व्याख्या में स्वरूप **प्रकृत्याविभागजनिते** पद का प्रयोग किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि 'जिन शब्दों में व्युत्पत्तिमूलक खण्ड सम्भाव्य हों, उन शब्दों में अभिधेयार्थ की प्रत्यायिका शक्ति को ही योग शक्ति' या 'योगिक शक्ति' की संज्ञा से जाना जाता है।

इसी तथ्य को 'तत्राऽवयवप्रधानायोगशक्तिः' से त्रिवेणिका में व्यक्त किया है अर्थात् जहाँ शब्दों के अवयवों अर्थात् प्रकृति-प्रत्ययादि को जोड़कर अर्थ-प्रतीति की अन्विति हो, वहीं योगशक्ति का स्थल होता है।

(३) **योगरूढ़ि**—

उभयप्रधानायोगरूढ़िम्चेति[१३८] परिभाषा त्रिवेणिका में, तथा कोविदानन्द में '**मिश्रोभयत्वसाकाङ्क्षे**'[१३९] कहकर आशाधरभट्ट ने योगरूढ़िशक्ति को व्याख्यायित किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि जब योग रूढ़ि दोनों शक्तियों के सहयोग से अर्थ-विशेष की प्रतीति होती हो तो वहाँ योगरूढ़ि का अभिधान किया जाता है।

---

१३६. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० ४७, उत्तरार्ध

१३७. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० ७, १९५०

१३८. वही.

१३९. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० ४८ पूर्वार्द्ध

आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द और त्रिवेणिका अपने दोनों ग्रन्थों में शक्ति के तीनों भेदों को 'सूक्ष्मातिसूक्ष्म' उदाहरणों से उदाहृत किया है।

रूढि शक्ति के उदाहरण :—

संकेत की प्रसिद्ध मात्र से जहाँ अर्थ की प्रतीति हो, उसे रूढ़ि शक्ति कहेंगे। आशाधरभट्ट ने इसी तथ्य को अन्य शब्दों से कोविदानन्द में 'अखण्ड शब्दे सा रूढ़ि कहकर व्याख्यायित किया है।

कोविदानन्द में 'शिव स्मरे' का उदाहरण ले इसे व्याख्यायित किया है यहाँ शिव शब्द में रूढ़ि अभिधा है, क्योंकि संकेत मात्र से भगवान् शङ्कर रूप अर्थ की अन्विति हो रही है। इसकी पुष्टि आशाधरभट्ट ने 'कादम्बिनी' नामक टीका में—**शिवमिति। शिवशब्दो ह्यखण्डः प्रकृत्यादि विभागाप्रतीतेः**[140] **कहकर** की है।

त्रिवेणिका में रूढ़ि, अभिधा (शक्ति) के उदाहरण गौ, पिता, गङ्गा, पति तथा पुमान हैं। व्युत्पत्ति के आधार पर इनका अर्थ सही नहीं आता है।—'गो' की व्युत्पत्ति 'गच्छतीति' है, जिसका अर्थ चलती है—होता है, परन्तु 'गो' शब्द का इससे कुछ भी ज्ञान नहीं होता क्यों? क्योंकि निरुक्त का सिद्धान्त है कि जिस प्रकार उपाधि शब्द भी 'प्रतिपदिक हैं किन्तु वे सामान्यतः व्युत्पन्न नहीं हो पाते उसी प्रकार डित्थ, कपित्थ आदि व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द होते हैं। चूंकि सभी एक क्रिया से व्युत्पन्न होते हैं, इसलिए चाहे उपाधि हो, चाहे डित्थ, कपित्थ आदि व्यक्ति वाचक शब्द। सबकी क्रियापरक व्युत्पत्ति दी जा सकती है। चाहे उससे शब्द के अर्थ को समझने में मदद मिले या न। अतः क्रियापरक व्युत्पत्ति के विद्यमान रहते हुए भी इन शब्दों में अर्थप्रत्यायन की शक्ति 'रूढ़ि' ही है।

पूरे 'गो' शब्द से 'गाय' अर्थ का बोध होता है, या 'पिता' शब्द 'व्यक्ति विशेष' का बोध इसलिए नहीं कराता कि इसकी व्युत्पत्ति 'पातीति पिता' है, अन्यथा 'पा' धातु का प्रयोग होने से किसी भी ऐसी वस्तु को 'पिता' कह सकते हैं, जिसमें पालन-पोषण की क्षमता हो, किन्तु ऐसा करते नहीं : अतः पिता शब्द से होने वाला 'व्यक्तिपक बोध' उस शब्द में निहित रूढ़ि शक्ति से ही होता है।

शक्ति के भेदों के आधार पर ही त्रिवेणिका एवं कोविदानन्द— दोनों ग्रन्थों में शब्दों के भी तीन प्रकार किए गए हैं। (१) योग, (२) रूढ़, (३) योगरूढ़। तीनों प्रकार के शब्दों के प्रयोग में 'रूढ़ पर विचार करते हुए आशाधरभट्ट ने संकेत रूढ़ि को और 'प्रयोग रूढ़ि को भिन्न माना है, जिसका अभिप्राय यह है कि

---

१४०. आशाधरभट्ट, कोविदानन्द, अभिधानिरूपण का० ४८ वृत्ति

'किसी पद के किसी अर्थ में रूढ़ होने के कारण उसका संकेतग्रह जिस रूढ़ अर्थ में होता है—उसे संकेतरूढ़ि कहते हैं। शब्द के अनेक अर्थों में से जिस किसी एक अर्थ में वह रूढ़ हो जाता है, उसे संकेतरूढ़ि की संज्ञा दी है।

'प्रयोग रूढ़ि' इससे भिन्न है, जो शब्दों के किसी विशेष अर्थ में किसी अन्य कारण से प्रयोग होते रहने के कारण 'रूढ़ि' हो जाती है, उसे प्रयोगरूढ़ि कहते हैं। जो तीन प्रकार की होती है :—

१. साम्प्रदायिक रूढ़ि
२. कवि रूढ़ि तथा
३. व्यावहारिक रूढ़ि

इस प्रकार 'रूढ़ि' के अभाव में कोई शब्द किसी अर्थ का वाचक नहीं माना जायेगा। 'वस्' धातु प्रथम पुरुष बहुवचन में प्रयुक्त नहीं होती तथा 'गम्' धातु का प्रयोग 'गमन' अर्थ में नहीं होता, यद्यपि इसके लिए कोई विधान नहीं है, अपितु प्रयोग न होना परम्परा मात्र है। यहाँ आशाधरभट्ट ने 'त्रिवेणिका' में नैषध को उद्धृत किया है कि व्याकरण के रूप को भङ्ग करने के लिए लोक ही समर्थ है, जो पदों के प्रयोग में सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है—

अतएव नैधध—भङ्गक्तुंप्रभुर्व्याकरणस्यदर्पं पदप्रयोगाध्वनिलोक एषः[१४१]। क्योंकि **शशः अस्ति यस्य** की व्युत्पत्ति से जिस प्रकार 'शशी' बनता है, उसी प्रकार 'मृगः अस्ति यस्य' की व्युत्पत्ति से 'चन्द्रमा' के लिए मृगी पद का प्रयोग नहीं होता। यह प्रयोग रूढ़ि की ही महिमा है। यहाँ आशाधरभट्ट ने अपनी अन्य रचना 'अद्वैत विवेक' की कारिका का उदाहरण दिया है—

मृगाङ्कत्वेऽपि न मृगी शशाङ्कत्वाच्छशीति त।
चन्द्रमाः कथिसस्तत्र रूढ़ेरन्यत्रकारणम्।।[१४२]

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार 'शश' के अङ्क से युक्त होने के कारण चन्द्रमा को 'शशांक कहा गया है, उसी प्रकार उसके कलङ्क को 'मृग' मानकर उसे 'मृगाङ्क' भी कहा जाता है; परन्तु 'शशाङ्क' होने से शशी श्लाघ्य है; किन्तु मृगाङ्क होते हुए भी 'मृगी' का प्रयोग 'चन्द्रमा' के लिए कथमपि नहीं होता। यहाँ पर प्रयोगरूढ़ि' ही एक मात्र कारण है।

इस रूढ़ि के दर्प के भंजन में प्रसिद्धार्थ पदसन्निधि नामक शक्ति ग्राहक एवं शक्ति नियामक ही समर्थ होते हैं। उदाहरणतः यस्य वेश्मनिखर्जूरम् इस वाक्य में 'रजत' वाचक 'खर्जूर' शब्द सदोष है, क्योंकि प्रयोग में खर्जुर पद 'रजत' के लिए रूढ़ नहीं है, किन्तु—

---

१४१. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० १५, १६, १९५७
१४२. वही, पृ० १६

यस्य गेहे हिरण्यं च खर्जुरं च कृताकृतम् ।

सकथं दीनवदनो या चेदन्यं धनोन्मदम् ॥[१४३]

यहाँ हिरण्यं तथा कृताकृतम् पदों के सन्निधान में खर्जु र शब्द का अर्थ रजत् होता है, अतः इस स्थल पर प्रयोग रूढ़ि का तिरस्कार 'पदसन्निधि' नामक शक्ति-ग्राहक से होता है । उसके सामर्थ्य से उपर्युक्त दोष का निराकरण सुकर हो जाता है ।

कहीं-कहीं तो पदान्तर के सन्निधि मात्र से, शब्द के प्रयोग के बिना ही वह शक्ति अर्थ का बोध करा देती है ।

हे राम । मां पाहि ।

इसमें राम तो सम्बोधन हैं, उसका पाहि के साथ अन्वय कैसे हो सकता है, अतः 'पाहि' के सन्निधि के बल से यहाँ उसमें अन्वित होने की योग्यता से युक्त 'युष्मद्' शब्द का अध्याहार स्वतः हो जाता है, जिससे वाक्य बनता है—

हे राम । (त्वं) मां पाहि ।

आशाधरभट्ट ने 'आचार्य वामन' का उद्धरण देते हुए कहा है कि विशेषण मात्र के प्रयोग से विषय का बोध हो जाता है । इस सन्दर्भ में 'त्रिवेणिका' में ग्रन्थकार ने काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति के कर्ता 'वामन' का निम्न सूत्र प्रस्तुत किया है :—

विशेषणमात्रप्रयोगोविशेष्यप्रतिपत्तो सागराम्बरादिवत् ।[१४४]

ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने उपर्युक्त 'सागराम्बरवत्' इति वामन का सूत्र तथा रघुवंश का एक श्लोकांश भी उद्धृत किया है—

निधानगर्भामिव सागराम्बराम्

यहाँ प्रयुक्त सागराम्बर पद 'पृथ्वी' का विशेषण है, जिसका उपादान नहीं दिया गया है, फिर भी 'सागराम्बरां' विशेषण से उसका ग्रहण हो जाता है ।

(२) योगशक्ति उदाहरण :—

'कोविदानन्द' में योगशक्ति का उदाहरण **गणपति देव बन्दे** दिया है, जिसमें वाक्यगत 'गणपति' शब्द से अभीष्ट अर्थ का संकेत योगिक शक्ति से होता है ।

अन्य ग्रन्थ त्रिवेणिका में उद्धृत 'कृष्णो भवति' इस वाक्य में प्रकृति के साथ सुवन्त और तिङन्त प्रत्ययों के योग से ही अर्थ की प्रतीति होती है, जहाँ संज्ञावाचक

---

१४ . आशाधरभट्ट, त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण,पृ० १७, १९५७

१४४, वामन : काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति ५।१।१७, उद्धृत त्रिवेणिका पृ० ७ पर, शुक्ल संस्करण

एवं सनाद्यन्त धातु वाचक पदों का प्रयोग हुआ है। कुछ तद्धित, एकशेष, समास तथा 'सन्' आदि प्रत्ययान्त धातुएं ही पांच वृत्तियाँ कही जाती हैं, जिनसे अर्थ की प्रतीति होती है।

कृतद्धितसमासैकशेष सनाद्यन्त धातुरूपाः पञ्च वृत्तयः।[१४५]

परार्थाभिधानं वृत्तिरितिलक्षणम्।[१४६]

अर्थात् 'वृत्ति का लक्षण परार्थाभिधान कहा गया है। वाक्य में प्रयुक्त 'अर्थ की प्रतीति कहीं कृत्प्रत्ययों द्वारा तो कहीं तद्धित प्रत्ययों के द्वारा होती है, कहीं पर समास का विग्रह करने पर अर्थ स्पष्ट हो जाता है तो कहीं अनेक पदों में अवशिष्ट एक पद ही सबके अर्थ को बता देता है। इस तरह प्रत्येकपद में प्रमुख धातु का योग उसके अर्थ को बताने में पूर्ण लाभदायक होता है। वृत्तियों के अनुसार 'पच्' धातु में योग शक्ति का उदाहरण पाचक है, जहाँ 'घञ्' प्रत्यय कर्ता में लिया जाता है। अतः 'पच्' धातु के साथ इसका प्रयोग होकर 'पाचकः' पद की निष्पत्ति होती है, जिसका अर्थ 'पकी हुई वस्तु' बनता है। भाव में 'घञ्' प्रत्यय होकर बनने वाले पाक शब्द का अर्थ है—पकने का भाव।

इसी तरह 'करण' में ल्युट् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होने वाले 'पचन' प्रत्यय होकर 'पचनीय' शब्द का अर्थ स्थाली हो जाता है। इसी तरह 'भी' धातु से विविध अर्थों में प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होने वाले शब्दों से भिन्न-भिन्न अर्थ की प्रतीति 'योगशक्ति' के द्वारा ही संभव है। उदाहरणतः 'भी' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय लगाकर भीम पद बनता है, जिसका अर्थ होता है, जिससे लोग डरते हैं। 'दा' धातु से सम्प्रदान में 'अनीयर्' प्रत्यय लगने पर 'दानीय शब्द 'विप्र' के अर्थ का बोध कराता है। ये सभी पूर्वोक्तोदाहरण 'कृदन्त' के हैं।[१४७]

तद्धित वृत्ति में भी अर्थों की प्रतीति योगिक ही होती है। जैसे 'उपगव' में अण् प्रत्यय होकर निष्पन्न 'औपगव' पद का अर्थ 'उपगव' गोत्र में उत्पन्न 'व्यक्ति' होता है। 'धन्' पद से इन प्रत्यय होकर 'धनी' शब्द धनवाला अर्थ प्रकट करता है। इसी प्रकार के शब्द हैं—देवदत्तकः, एकधा, एकशः, एवं सकृत, जिनकी निष्पत्ति 'तद्धित' प्रत्ययों से होती है।

समासवृत्ति के योगाश्रित उदाहरण :—

आशाधरभट्ट के त्रिवेणिका ग्रन्थानुसार उदाहरणों में निम्न प्रमुख हैं :—

१. उपराज्य में 'राज्ञः समीपम्' इस अर्थ में अव्ययीभाव समास हुआ अर्थात् हम समास के आधार पर इसका अर्थ समझते हैं।

---

१४५. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० ८, १९५७, वाराणसी

१४६. वही.

१४७ वही.

२. **राजपुरुष :—**

इसका अर्थ हम षष्ठी तत्पुरुष के आधार पर समझते है।

३. **पञ्चराजम् :—**

इस उदाहरण में 'पञ्चानां राज्ञां समाहारः' विग्रह से 'द्विगु' समास होकर पाँच राजाओं का समूह रूप अर्थ निकलता है।

४. **राजमित्रम् :—**

इस नमस्त पर का अर्थ 'राजा मित्रम् यस्य सः' इस 'बहुव्रीहि' समास की व्युत्पत्ति से होता है।

निपाताश्रित उदाहरण :—

न खलुनखलु वाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्,
नहि-नहि करकलभौऽसौ ।[१४८]

यहाँ उपर्युक्त दो उदाहरण हैं—इन काव्यशास्त्रीय उक्तियों में दो निपातों का (नहि-नहि, खलु-खलु) एक साथ प्रयोग होकर 'सुपसुपा' से समास होता है। इसी प्रकार यद्यपि, तथापि, अथवा, यदि, वा प्रभृति है। यद्यपि ये अव्यय शब्द हैं, फिर भी योगशक्ति के द्वारा ही इनसे अर्थ की प्रतीति होती है। यहाँ 'समास' का फल है—अलग-अलग प्रयोग न होना। 'जगतः पितरौ' में प्रयुक्त 'पितरौ' के माध्यम से लिया जाता है। त्रयोदेवाः में 'देवश्च देवश्च देव देवाः' विदेह किया जाता है। एक शेष समास' के कारण ही एक ही बार प्रयुक्त 'देव' पद से ब्रह्मा, विष्णु और महेश' का ग्रहण हो जाता है। यही स्थिति 'द्वौ पन्थानौ' में भी है। यहाँ एक ही बार प्रयुक्त 'पथ' से दो रास्तों का बोध हो जाता है।

सनाद्यन्त के उदाहरण :—

'चिकीर्षति, पण्डितायते, पुत्रकाम्यति एव प्रासादयति कुट्यां भिक्षुः ।[१४९] प्रभृति सनाद्यन्त के उदाहरण हैं—इनमें अर्थ की प्रतीति 'सन्' आदि प्रत्ययों के योग विभाग से होती है।

१. चिकीर्षति=जाने की इच्छा करता है।

२. पुत्रकाम्यति=पुत्र की कामना करता है।

३. प्रासादयति कुट्यां भिक्षुः=अर्थात् भिखारी झोंपड़ी ही में महल की तरह रहता है।

प्रभृति सभी स्थलों पर अभिधा की योगशक्ति ही कार्य करती है, जिससे अभीष्ट अर्थ की प्रतीति होती है।

---

१४८. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण, पृ० ८ पर उद्धृत अभिज्ञान-शाकुन्तल, १।१०

१४९. वही, पृ० ८, १९५७ संस्करण

(३) योगरूढि :—

कोविदानन्द में '**मिश्रोभयत्वसाकाङ्क्षे** 'एवं' त्रिवेणिका में **उभयप्रधाना-योगरूढ़िश्चेति**' कहकर योगरूढ़ि को आशाधरभट्ट ने व्याख्यायित किया है। इन परिभाषाओं का तात्पर्य है कि जिन स्थलों में अवयव और प्रसिद्धि दोनों द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है, उसे ही 'योगरूढ़ि' कहते हैं।

इसका उदाहरण ग्रन्थकार ने दिया है—**युधिष्ठिर**—जहाँ योग-विभाग 'युधि + स्थिरः' के रूप में होता है, जिसका अर्थ यह है कि वह व्यक्ति 'जो युद्ध से पलायन न करे।' ऐसे अनेक व्यक्ति हो सकते हैं, जो युद्ध में पलायन न करते रहे हों इस व्युत्पत्ति के आधार पर उन सबको युधिष्ठिर कहा जा सकता है, किन्तु कहा नहीं जाता अपितु 'ज्येष्ठ पाण्डव के लिए यह शब्द 'रूढ़ हो गया है, जिसके प्रयोग में व्युत्पत्ति ही सहायक है। यहाँ 'योग' और 'रूढ़' दोनों शक्तियाँ कार्य कर रही हैं।

योगरूढ़ि का दूसरा उदाहरण 'वनेचरः' दिया गया है। यहाँ पर 'वने चरतीति की व्युत्पत्ति से वन में रहने वाला या विचरण करने वाले कोई भी प्राणी चाहे वह पशु हो पक्षी हो या मनुष्य हो, वनेचर का परार्थ हो सकता है, किन्तु यह शब्द केवल किरातों के लिए रूढ़ हो गया है, जो व्युत्पत्तिलभ्य के अर्थ के अनुरूप भी है।

इसी परम्परा में अन्यतम् उदाहरण **पङ्कज** भी है। यह भी इसी प्रकार 'पङ्के जायते' की व्युत्पत्ति से कीड़े, मकोड़े, घास, फूस आदि सबका ग्रहण होता है, परन्तु यह शब्द कमल पुष्प के लिए ही रूढ़ हो गया है, जिसमें व्युत्पत्ति भी सहायक है।

अब महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या शक्ति और संकेत एक ही हैं, या भिन्न-भिन्न ?

इसका उत्तर स्वयं आशाधरभट्ट ने दिया है, जिसका सार यह है कि संकेत सनातन अर्थात् हमेशा-हमेशा के लिए होता है तथा 'शक्ति' शब्द के प्रयोग के स्थान में प्रगट होती है :—

संकेतः सनातनः शक्तिस्तु प्रयोगकाले प्रकटी भवतीति।[१५०]

अभिधा के विवेचन के प्रसङ्ग में आशाधरभट्ट ने एक नया प्रश्न उठाया है कि शक्ति और संकेत भिन्न-भिन्न हैं या अभिन्न ? इस प्रश्न के उठने का आधार यह है कि पद से पदार्थ का सम्बन्ध शक्ति माना गया है तथा पद का पदार्थ में संकेत होता है—ये दोनों बातें कहने का भिन्न प्रकार प्रतीत होती है, क्योंकि दोनों में अभिप्रेत एक ही तत्त्व है—'पद से पदार्थ का सम्बन्ध।' अतः यदि सम्बन्ध की ही संकेत कहें तो दूसरे शब्दों में वहीं शक्ति सिद्ध हो जाती है। फलतः एक ही बात के

---

१५०. आशाधरभट्ट, त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरण पृ०, ९, १९५७ संस्करण

लिए दो भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों को मानने की क्या आवश्यकता है ? ग्रन्थकार ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि वह बात सही है कि उभयत्र पद पदार्थ-सम्बन्ध ही मुख्य तत्त्व हैं, किन्तु संकेत रूप में वह जहाँ नित्य होता है, वहाँ शक्ति के रूप में प्रयुक्त स्थल विशेष में ही काम करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति की बुद्धि में व्याकरणकोष उपमान आदि के द्वारा किसी शब्द का किसी अर्थ विशेष में संकेतग्रह होता है तथा एक बार ही जाने अनन्तर यह निरन्तर बना रहता है, जिसके परिणामस्वरूप जब भी हम उस शब्द का प्रयोग किसी वाक्य में पाते हैं तो हमें उस संकेतित अर्थ की प्रतीति स्वतः हो जाती है। इससे यही ज्ञात होता है कि संकेत से शब्द में एक शक्ति का आधार हो जाता है, जिससे उस शब्द के प्रयोग से उसके संकेतित अर्थ की प्रतीति होने लगती है। शब्द की यह सामर्थ्य ही शक्ति है। इस प्रकार संकेतग्रह 'शक्ति' से अभिन्न नहीं, अपितु उसकी सहायक है।

ङ. अभिधा की सीमा

अभिधा के अर्थ प्रत्यायन की सीमा है। किसी स्थल पर यह निश्चित अर्थ बताकर समाप्त हो जाती है। वह निश्चित अर्थ संकेतित ही हो सकता है, जिस अर्थ में शब्द किसी भी प्रकार से संकेतित नहीं है। उसकी प्रतीति अभिधा के द्वारा नहीं हो सकती, इसलिए ही उसे 'संकेतसहायाः समयसाव्यपेक्षा' इत्यादि विशेषणों से निरूपित किया गया है। यहाँ तक कि एक स्थल पर एक ही संकेतित अर्थ का अभिधान सम्भव है।

अनेकार्थक शब्दों का 'संकेतग्रह' अनेक अर्थों में हुआ करता है, परन्तु संयोगादि के द्वारा वहाँ अभिधा का एक ही अर्थ बताने में नियन्त्रण हो जाता है। उन स्थलों में भी संयोगादि के द्वारा निर्धारित तथा संकेतित अर्थ की प्रतीति वहाँ किसी प्रकरण से से होती है तथा वह अभिधा जन्य नहीं मानी जाती, अपितु उस अर्थ को उस स्थल पर व्यंग्य ही माना जाता है। इसकी पुष्टि निम्न कारिका से होती है :—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वेन नियंत्रते।

इसी तरह जिस स्थल पर मुख्यार्थ का बाध हो जाता है, उस स्थल पर अभिधा की प्रवृत्ति बाधित हो जाती है और वाक्यार्थ का बोध वहाँ नहीं होता। उदाहरणतः **गौरवाहीकः** में 'गो' शब्द का संकेतिक अर्थ इसलिए बाधित हो जाता है कि उसका 'वाहीक' के साथ अभेदान्वय नहीं बनता। इसलिए गौरवाहीक में 'गौ' पद के संकेतित अर्थ 'बैल' की प्रतीति नहीं होती अपितु 'लक्षणा' से 'जाड्य एवं मान्द्य आदि लक्ष्यमाण, गुणों की ही प्रतीति होती है। इसके पीछे '**शब्द बुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः** का सिद्धान्त कार्य करता है, जिसका अभिप्राय यह है कि

'शब्द-ज्ञान' और कर्म की प्रवृत्ति का यदि विराम हो गया तो वहीं पर उस क्रिया की समाप्ति हो जाती है। इसके अनन्तर दूसरी क्रिया का समारम्भ मानना चाहिए।

आशाधरभट्ट ने अपने शब्दशक्तिविषयक प्रथम ग्रन्थ 'कोविदानन्द' में—

सकृदप्रयुक्तः शब्दोऽसौ सकृदेकार्थसाधकः।
वाणवल्लक्ष्यभेदे तु प्रयोगं पुनरर्हति॥[१५१]

कहकर इस न्याय का निरूपण किया है।

१५१. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० १७

चतुर्थ अध्याय

लक्षणा

(क) परिभाषा

शब्द की दूसरी वृत्ति का नाम यद्यपि आशाधरभट्ट ने अपनी कृति 'त्रिवेणिका' में 'भक्ति' दिया है तथापि विवेचन के अवसर पर अपने दोनों ग्रन्थों—कोविदानन्द और त्रिवेणिका में लक्षणा पद का ही प्रयोग किया है, तथा कोविदानन्द के द्वितीय प्रकरण को 'लक्षणानिरूपणम्' की संज्ञा एवं 'त्रिवेणिका' के द्वितीय प्रकरण को 'लक्षणाप्रकरणम्' की संज्ञा से अभिहित किया है एवं प्रकरण के अन्त में भी "........**द्वितीय लक्षणा प्रकरणम् समाप्तम्।**" कहा है, जबकि अन्य कृति कोविदानन्द में 'लक्षणानिरूपणम्' के अन्त में—**इति श्रीपदवाक्यप्रमाणपारावारीण-धुरीण रामजीभट्टात्मजाशाधरभट्ट विरचिते कोविदानन्दे भक्तिनिर्णये द्वितीयः परिच्छेदः**[1] कहकर भक्ति पद का प्रयोग किया है लेकिन कादम्बिनी टीका के लक्षणानिरूपण की समाप्ति पर—

इति श्रीपादवाक्यप्रमाणज्ञरामजिभट्टात्मजाशाधरभट्ट विरचितायां कादम्बिनीसमाख्यायां स्वकृतकोविदानन्द व्याख्यायां लक्षणा परिच्छेदो द्वितीयः।[2]

कहकर लक्षणा और भक्ति के पर्याय होने की ही पुष्टि की है।

लक्षणा के अन्य नामों का उल्लेख इन्होंने 'त्रिवेणिका नामक ग्रन्थ में पहले ही कर दिया था, वे हैं भक्ति और उपचार—

द्वितीया लक्षणा भक्तिरूपचारश्चेति व्यपदिश्यते।[3]

आशाधरभट्ट ने भक्ति पद को त्रिवेणिका के शक्ति प्रकरण में ही व्याख्यायित करते हुए लिखा है—

भज्यते शक्यार्थः अनया इति भक्तिर्लक्षणा।[4]

भक्ति पद 'भज्' आमर्दने धातु से 'करण में 'क्तिन्' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। इसकी दूसरी व्युत्पत्ति '**भज्यते सेव्यतेऽर्थान्तरमनयेति भक्तिः**[5]

---

१. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम, पृ० १३

२. वही,

३. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, वृत्तिप्रकरणम्, पृ० ६, १९५७ वाराणसी

४. वही, पृ० २

५ वही,

दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार 'भक्ति' पद 'भज्' सेवायाम् धातु से 'करण' में क्तिन् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है शब्द की वह वृत्ति जिसके माध्यम से वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ का आश्रयण किया जाता है। इसी व्युत्पत्ति से लक्षणा के द्वारा प्रयोजन के आश्रयण की बात भी बन जाती है, जिससे 'प्रयोजन' के प्रति व्युत्पत्तियों के आधार पर 'मुख्यार्थ का बाध', 'लक्ष्यार्थ का आश्रयण' एवं 'प्रयोजन' नामक तीनों हेतुओं का ग्रहण हो जाता है।

अन्य पर्याय 'उपचार' है। 'उपचार' पद का अर्थ होता है 'अतिशयित व्यापार' अर्थात् बढ़ा-चढ़ा कर कहना। ऐसी लक्षणा प्रायः मिल जाती है। उदाहरणतः 'सिंहोमाणवकः' की उक्ति में 'बालक' को 'सिंह' कहा गया है, जो वह नहीं है, लेकिन 'बालक वीर है', इसलिए उसकी वीरता को व्यक्त करने के लिए उसे बढ़ा-चढ़ाकर अर्थात् अतिशयित व्यापार के द्वारा 'सिंह' कहा जाता है— इसी को 'उपचार' कहते हैं। उपचार प्रायः सादृश्यसम्बन्ध से घटित होता है। मम्मट प्रभृति आचार्यों ने उपचार' को सादृश्य सम्बन्ध मानकर इसे 'गौणी लक्षणा' का अङ्ग माना है; क्योंकि उन सब स्थानों में उपमानोपमेयभाव के सम्बन्ध की 'अतिशय शक्ति' के द्वारा 'अभिप्राय' की अभिव्यक्ति होती है।

कोविदानन्द में यह लक्षणा की परिभाषा करते हुए कहते हैं :—

शक्यार्थबाधे संकोचः प्रसारः प्लुतिरेव वा।
संकेतस्य स्मृता वृत्तिर्लक्षणा योगसम्भवे ॥[६]

अर्थात् शक्यार्थ (मुख्यार्थ) के बाधित हो जाने पर सम्बन्ध-विच्छेद की सहायता से उत्पन्न अर्थप्रत्यायिका वृत्ति को 'लक्षणा' कहा जाता है।

इसी बात को इन्होंने दूसरे शब्दों में 'शक्यसम्बन्ध सहकारिणी वृत्तिर्लक्षणा'[७] कहा है, जिसके अनुसार 'शक्यशक्ति' के द्वारा प्रतिपादित अर्थ वाच्य को कहते हैं। उसके सहयोग से जो 'वृत्ति' अन्यार्थ का प्रतिपादन करती है, उसी को 'लक्षणा' कहते हैं।

यह वृत्ति शब्द का व्यापार होने से यद्यपि शब्दनिष्ठ होती है तथापि मुख्यार्थ का बाध होने पर उससे सम्बन्धित अर्थ को अपना बनाती है। यह सम्बन्ध यद्यपि प्रधानतया मुख्यार्थ में रहता है, तथापि लक्ष्यार्थ का भी आश्रयण करता है। यद्यपि शब्द अर्थात् वाच्य अर्थ का सम्बन्ध वाचक शब्द से भी है; किन्तु लक्षणा में उसका कोई उपयोग नहीं होना। वाचक शब्द लक्षणा के हेतुओं में 'ग्रहीत' इसलिए नहीं होता कि मात्र शब्द लक्षणा नहीं होती, यदि उसके अर्थ का बोध न हो। अन्यथा 'अभिधा' की तरह 'लक्षणा' भी सर्वत्र अनिवार्य रूप से कार्य करने लगती है।

---

६. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम्, का० १।

७. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरणम्, पृ० १८, १९५७ वाराणसी

(ख) लक्षरणा के आधायक तत्व

जिस प्रकार शब्द की प्रथम वृत्ति 'अभिधा' संकेतग्रह (शक्तिग्राहक एवं शक्तिनियामकादि) की सहायता से अर्थ की प्रतीति कराती है, उसी प्रकार शब्द की दूसरी वृत्ति 'लक्षरणा' के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है—उसमें तीन तत्त्वों का होना अनिवार्य है—उन्हें ही 'हेतुत्रय' कहते हैं, जिसके बिना लक्षरणा हो ही नहीं सकती। वे हैं—

१. मुख्यार्थबाध
२. मुख्यार्थ सम्बन्ध
३. रूढ़ि या प्रयोजम

१. मुख्यार्थबाध :—

मुख्यार्थबाध के बिना लक्षरणा का प्रयोग ही सम्भव नहीं। अतः मुख्यार्थ अर्थात् शक्यार्थ में विसम्वाद का उपस्थित होना अनिवार्य है। मुख्यार्थबाध या शब्द के मुख्य अर्थ में बाधा तीन प्रकार से उपस्थित होती है—

१. अन्वय न होने का कारण,
२. वाक्य का तात्पर्य ठीक-ठीक न बैठने के कारण
३. रूढ़ि के कारण

उदाहरणतः, 'गङ्गायां घोषः' में मुख्यार्थ बाध इसलिए है कि सप्तम्यन्त 'गङ्गा' पद के साथ 'घोष' पद का अन्वय नहीं बैठता, क्योंकि 'गङ्गा' पद का गङ्गा-प्रवाह रूप अर्थ 'घोष' का आश्रय नहीं हो सकता। इसलिए गङ्गा पद में मुख्यार्थ बाध होता है।

तात्पर्य की अनुपपत्ति होने वाले मुख्यार्थ बाध का उदाहरण 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' है। यहाँ किसी भी पद के वाक्य में अन्वित होने में कोई विसंवाद नहीं है, अपितु समस्या यह है कि 'क्या दही की रक्षा कौओं से ही करनी है ? बिल्ली आदि से नहीं ?'

यदि दधि के सभी विघातक तत्त्वों से इसकी रक्षा करनी है तो केवल 'काकेभ्यो का प्रयोग अपर्याप्त ही है; क्योंकि वह वक्ता के अभिप्राय को पूर्णरूप से प्रगट करने में समर्थ नही है। इसी तात्पर्य की सिद्धि न होने से यहाँ अर्थ करने में मुख्यार्थ देखा जाता है।

मुख्यार्थबाध का एक तीसरा कारण और भी है, वह है रूढ़ि। जब कोई शब्द किसी ऐसे अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है, जो उसकी व्युत्पत्ति से नहीं निकलता तो वहाँ भी मुख्यार्थ का बोध होता है।

'कर्मणि कुशलः' में कुशल शब्द का प्रयोग 'दक्ष' या 'चतुर' अर्थ में होता है, किन्तु 'कुशान्' लाति इति कुशलः' की व्युत्पत्ति के आधार पर इस शब्द का अर्थ

'कुश ले आने वाला व्यक्ति' होना चाहिए, जो प्रकृत प्रसङ्ग में किसी भी प्रकार नहीं आ सकता। इसीलिए यहाँ मुख्यार्थ-बाध माना जाता है।

२. मुख्यार्थ सम्बन्ध :—

वाच्यार्थ बाध होने एवं 'वाक्यार्थ' का समुचित रूप से व्यवस्थित करने के लिए जिस अर्थ का ग्रहण किया है—वह वाच्यार्थ से किसी-न-किसी प्रकार संबंधित ही होना चाहिए, सर्वथा असम्बन्धित अर्थ, लक्षणा का विषय कथमपि नही हो सकता।

आशाधरभट्ट ने 'सम्बन्ध' का लक्षण करते हुए लिखा है—

सम्बद्धबुद्धिजनकः सम्बन्धः[८]

अर्थात् जो सम्बन्धियों का ज्ञान कराए, उसे ही सम्बन्ध कहते हैं। त्रिवेणिका में सम्बन्ध बुद्धिजनकः पाठ मिलता है। आशाधरभट्ट वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के इस उक्त सम्बन्ध को लक्षणा का प्रयोजक मानते हैं। भट्ट जी के अनुसार जिस प्रकार अभिधा में शक्ति के ग्राहक (संकेतग्रह हेतु व्याकरणोपमानादि) होते हैं उसी प्रकार लक्षणा के विषय में उसका प्रयोजक-सम्बन्ध अनन्त प्रकार का हो सकता है, किन्तु उन्होंने इसके भेदों का वर्गीकरण तीन शीर्षकों में किया है, जब वे कहते हैं—

स त्रिविधः,—संयोग समवायो विशिष्टबुद्धियोगश्चेति।[९]

आशाधरभट्ट ने अपनी कृति कोविदानन्द में संयोगसम्बन्ध की व्याख्या करते हुए लिखा है—

संयोगो युक्तधीहेतुर्द्रव्ययोःक्रियया कृतः।
विशिष्टबुद्धिजनकः स्वस्वामित्वादिकोऽपरः॥[१०]

इसका भाव यह है कि 'संयोग सम्बन्ध' क्रिया द्वारा उत्पन्न वह सम्बन्ध है, जिसके कारण दो द्रव्यों की अभिन्नता का परिचय प्राप्त होता है। इसी तथ्य को ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने कादम्बिनी नामक टीका में निम्न रूप से व्याख्यायित किया है—

संयोग इति। इमौ संपृक्तौ' इति बुद्धेर्हेतुर्गुणः, स द्रव्ययोरेव नान्येषाम् क्रियया कृतो न तु स्वभाविकः।[११]

यहाँ आशाधरभट्ट ने विशिष्ट बुद्धि जनकः स्वस्वामित्वादिको परः कहकर संयोग सम्बन्ध और स्वस्वाभिभाव-सम्बन्ध के पार्थक्य को भी स्पष्ट कर दिया है।

---

८. आशाधरभट्ट, त्रिवेणिका, लक्षणा प्रकरण, पृ० २५, १९५७ वाराणसी
९. वही,
१०. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम्, का० २४
११. वही, का० २४ वृत्ति

त्रिवेणिका में आशाधरभट्ट ने संयोग-सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए लिखा है—

तत्र द्रव्ययोरेवसंयुक्त बुद्धिहेतुःसंयोगो गुणविशेषः[१२]

इसका भाव यह है कि 'संयोग एक विशेष प्रकार का गुण है जो द्रव्यों में रहता है, जो उनके (दो द्रव्यों) से युक्त होने के ज्ञान का हेतु है, क्योंकि गुणों से ही हम जान सकते हैं कि दो द्रव्य परस्पर संयुक्त हैं। 'संयोग-सम्बन्ध का अन्यतम उदाहरण 'आत्मानमलङ्करोति' है। इस उदाहरण में प्रयुक्त 'आत्म' शब्द से प्रतीयमान अर्थ 'अलंकृत होने की योग्यता' न होने से इससे संयुक्त 'शरीर' अर्थ का ग्रहण लक्ष्यार्थ के रूप में होता है। आत्म और शरीर में 'व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध' है जो 'संयोग-सम्बन्ध' का ही एक प्रकार है। इसी परम्परा में 'वटे गावः सुशेरते' दूसरा उदाहरण है—जिसमें प्रयुक्त 'वटे' पद में सप्तमी विभक्ति के अर्थ अधिकरण का 'बालक' के साथ (वट पद का अर्थ) अन्वय नहीं बैठता। इसलिए ही यहाँ मुख्यार्थ-बाध होकर 'वट' शब्द से संयुक्त 'भूतल' अर्थ लक्षित होता है, जहाँ सामीप्य नामक सम्बन्ध है। कुछ लोग तो 'सामीप्य' को सप्तमी विभक्ति का अर्थ ही मानते हैं। इसी प्रकार 'घंटापथः' में पद से संयुक्त हाथियों का ग्रहण लक्ष्यार्थ के रूप में होता है। इसी प्रकार संयोग नामक सम्बन्ध के अनेक उदाहरण दिए गए हैं, जिनमें 'धार्य-धारक भाव' 'भर्तृ-भार्या' 'आधाराधेय भाव, एवं साहचर्य भाव' प्रमुख हैं।

३. समवाय सम्बन्ध :—

मुख्यार्थ-सम्बन्ध का दूसरा भेद समवाय-सम्बन्ध है। आशाधरभट्ट ने इसे अपनी कृति कोविदानन्द की एक ही कारिका में इसका स्वरूप एवं भेद प्रस्तुत किया है :—

स नित्यः समवायाख्याः सहजोऽवयवादिषु ।
गुणः क्रिया च सामान्यं विशेषोऽवयवादयः ॥[१३]

समवाय नामक सम्बन्ध नित्य होता है, जो अवयव और अवयवी में, गुण और गुणी में, क्रिया और क्रियावान् में तथा सामान्य और विशेष में होता है।

इसे प्रकारान्तर से इन्होंने त्रिवेणिका में 'नित्यः सम्बन्धः समवायः' कहकर परिभाषित करते हुए इसके पांच भेदों को विविध परन्तु मौलिक उदाहरणों से निरूपित किया है।

---

१२. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरणम्, पृ० २५, १९५७ वाराणसी
१३. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम् का० २३

पञ्चविधः—अवयवावयविभावो, गुणगणिभावः, क्रियाक्रियावद्भावो, जाति, व्यक्ति भावो, विशेषनित्य द्रव्यभावश्चेति।[14]

अर्थात्—

१. अवयव-अवयवी-सम्बन्ध

२. गुणगुणीभाव-सम्बन्ध

३. क्रिया-क्रियावान्भाव-सम्बन्ध

४. जातिव्यक्तिभाव-सम्बन्ध

५. विशेष-नित्यद्रव्यभाव-सम्बन्ध

आशाधरभट्ट ने उदाहरणों से इन्हें स्पष्ट कर दिया है—'शाखामृगोवनमृगः' यह अवयव-अवयवीभाव का उदाहरण है। यहाँ 'शाखा' पद से 'तरु' का अर्थ लाक्षणिक है। 'वन' शब्द से भी लाक्षणिक अभिप्राय 'स्फुट' है; क्योंकि 'वानर' का संचरण केवल 'शाखा' या वन तक ही सीमित नहीं है, अपितु वृक्ष मात्र पर नियत है, जो कहीं भी हो सकता है। इस सन्दर्भ में अन्य उदाहरण—'वैन्यानि सोमान्वयमन्वयुस्तं न ते मनोरन्वयमन्वमन्यत्' है—यहाँ 'वंशवाची अन्वय शब्द' से उसका एक अवयव लक्षित होता है क्योंकि 'समूचे वंश' की उपस्थिति असम्भव होने से मुख्यार्थ का बाध है। इसी प्रकार 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' अथवा 'निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चित' में प्रयुक्त 'रघु' एवं 'यदु' में भी मुख्यार्थ का बाध होने पर उनसे अवयवावयवी भाव के सम्बन्ध के द्वारा उस वंश में उत्पन्न कुछ विशेष व्यक्तियों का ग्रहण होता है। यहाँ 'अवयवावयवीभावसम्बन्ध' के विषय में सम्भावित शङ्का का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—'सन्तान को भी शरीर का अवयव माना जाता है'—

सन्तानो हि शरीरावयवः इति धर्मशास्त्रे[15]

इसी प्रकार और्व, और पृथ्वी शब्द हैं, जहाँ पुत्र और पुत्री के रूप में स्वीकृत **बडवाग्नि** एवं 'भूमि' का ग्रहण क्रमशः होता है।

गुणगुणीभाव रूप मुख्यार्थ सम्बन्ध का उदाहरण है—'सुरभिषु फलेषु मानसम्' जहाँ सुगन्धि वाचक सुरभि शब्द से उसके वाच्यार्थ सुगन्धि का आश्रयभूत फल की लक्षणा होती है, जिनके बीच में 'गुणगुणीभावसम्बन्ध' है, किन्तु 'शिशिरेऽपि पयसि' उदाहरण में लक्षणा नहीं है, क्योंकि शिशिर जो है अर्थात् 'शीतलता से युक्त पदार्थ ही इसका अर्थ होता है।'

क्रियाक्रियावद्भावसम्बन्ध का उदाहरण–यश्यमृगोधावति है। यहाँ धावति इस क्रिया पद से क्रिया विशिष्ट मृग लक्षित है। इसी प्रकार भेर्यः श्रूयन्ते

---

१४. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरणम्, पृ० २६, २९५७ वाराणसी

१५. वही, पृ० २७, १९५७ वाराणसी

यहाँ भेरी शब्द से उसके गर्जन् क्रिया में लक्षरणा होती है।

जाति व्यक्ति का उदाहरण 'क्षत्रजातिरुदियाय भुजाभ्याम्' है। इसमें क्षत्रजाति शब्द से तादाश्रयभूत व्यक्तियों का ग्रहण होता है, जिसमें जाति-व्यक्ति भूतभाव सम्बन्ध है। न जातु ब्राह्मणं हन्यात् इसमें व्यक्तिपरक ब्राह्मण से उसमें समवेत जाति की लक्षणा होती है, अन्यथा सभी अवध्य हो जायेंगे।

'सामान्यविशेष भाव' सम्बन्ध में होने वाली 'लक्षणा' भी इसी प्रकार की है। सामान्य विशेष सम्बन्ध से सामान्य से विशेष का, तो कहीं विशेष का सामान्य से ग्रहण होता है। सामान्य तथा विशेष को अधोलिखित शब्दों से जाना जाता है—बहु व्यापकं सामान्यम् अल्पव्यापकं विशेषः।[१८]

तीसरे प्रकार के सम्बन्ध 'विशिष्टबुद्धिजनक' का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार आशाधरभट्ट बताते हैं कि जिससे किसी वस्तु या विषय के बारे में विशिष्ट बुद्धि उत्पादित हो—उसे ही विशिष्टबुद्धियोगसम्बन्ध कहते हैं। यह अनेक प्रकार का होता है।

यद्वशादयमनेन विशिष्टबुद्धिरुत्पद्यते स विशिष्ट बुद्धिजनकः स नाना विधः।[१६]

प्रथमतः 'जन्य, जनक भाव विशिष्टबुद्धियोग्य सम्बन्ध' को उद्धृत करते हुए कहते हैं—

विधिहेतुरहेतुरागसाम्

यहाँ प्रयुक्त 'आगस' शब्द से तत्जन्य दुर्यश स्पष्ट होता है। इनमें से विशेषणविशेष्य भाव सम्बन्ध, वर्ण्यवर्णकभाव, उपमानोपमयभाव आदि सम्बन्ध आते हैं, जिनका विवेचन आशाधरभट्ट ने त्रिवेणिका में शास्त्र के अनुसार किया है, जहाँ अवयवावयवीभाव सामान्य-विशेषण भाव रूप सम्बन्ध के द्वैविध्य अर्थात् दो प्रकार के होने में भी कोई दोष नहीं है।

इन तीनों प्रकार के सम्बन्धों के साक्षात् घटने की अनिवार्यता लक्षणा में नहीं है, क्योंकि परम्परा से भी सम्बन्धित अर्थ में 'लक्षणा' का प्रयोग देखा जाता है। जैसे—भ्रमर के लिए प्रयुक्त द्विरेफ शब्द

अन्वय लक्षणा में तो 'सम्बन्ध' साक्षात् भी होता है, परम्परया भी, किन्तु व्यतिरेक लक्षणा में यह सम्बन्ध परम्परया ही उपलब्ध होता है। 'नयेन जेतुं जगती सुयोधनः' यहाँ सुयोधन पद से दुर्योधन अर्थ में लक्षणा होती है, तदनन्तर तद-वाचक राजा में।

---

१६. आशाधरभट्ट, त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरण, पृ० २८, १९५७ वाराणसी

गौणी लक्षणा में भी 'परम्परा सम्बन्ध' ही कार्य करता है। उपमानोपमेय धर्मों के साथ 'अभेद' का आरोप होने पर दूसरी 'लक्षणा' की प्रवृत्ति होती है। कोविदानन्द में भी इसी सरणि पर आशाधरभट्ट का मन्तव्य है कि—

व्यतिरेकोऽपि सम्बन्धो विपरीतमतिप्रदः।
सादृश्यमपि सम्बन्धस्तथा तद्वाच्यवाच्यता ॥[17]

अर्थात् व्यतिरेक सम्बन्ध दो समान अर्थों की वैपरीत्य बुद्धि पर आधारित होते हैं। सादृश्य सम्बन्ध भी लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता है। यह दोनों अर्थों (वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में समानता) पर आधारित होता है, जबकि कहीं-कहीं पर वाच्य वाचक भाव से भी लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है।

ग्रन्थाकार ने उक्त सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए कोविदानन्द की एक कारिका में कहा है—

सम्बन्धबुद्धिजनकः सम्बन्धो विविधो मतः।
शब्दप्रमाणगा वृत्तिर्लक्षणा तन्निबन्धना ॥

तात्पर्य यह है कि मुख्यार्थ सम्बन्ध वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का मध्यस्थ सम्बन्ध-बुद्धि को उत्पन्न करने वाला होता है। यह अनेक प्रकार का होता है। इस संबंध पर ही लक्षणा व्यापार प्रवृत्त होता है यह सम्बन्ध ही लक्षणा नहीं है, बल्कि यह लक्षणा के हेतुओं में से एक हेतु है।

३. रूढ़ि या प्रयोजन :—

लक्षणा का तीसरा हेतु है—प्रयोजन या रूढ़ि। लक्षणा या तो किसी 'रूढ़ि' के कारण होती है, जिसका निरूपण मुख्यार्थबाध के अवसर पर किया जा चुका है अथवा किसी प्रयोजन विशेष को बताने के लिए। रूढ़ि के कारण होने वाली लक्षणा एक प्रकार से व्याख्यानात्मक होती है—इस शब्द का प्रयोग इसमें कैसे हो गया है, परन्तु किसी प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर ऐसे वाक्य का प्रयोग करना ही मुख्यार्थ का बाध होकर उस प्रयोजन की प्रतीति हो, साक्षात् नहीं—इससे एक तो यह प्रयोजन सर्वजनगम्य नहीं होता, दूसरा उसकी प्रतीति होने पर 'चारुता' का आधान हो जाता है। अतः साहित्य में 'प्रयोजनवती लक्षणा' का ही विशेष महत्त्व है।

ग. लक्षणा का बीज एवं दोषोद्धार

लक्षणा के बीज के विषय में भी पर्याप्त विवाद है। वैयाकरण अन्वयानुपपति को लक्षणा का बीज कहते हैं।

आशाधरभट्ट ने इस प्रश्न को छोड़ दिया है। इसका विवेचन इन्होंने कोविदानन्द और त्रिवेणिका, दोनों में से कहीं भी नहीं किया है। उनके समूचे विवेचन में 'तात्पर्यानुपपत्ति' की चर्चा नहीं है, अपितु 'अन्वयानुपपत्ति' ही मुख्यार्थ-

---

१७. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम्, का० २५

बाध में सर्वत्र प्रदर्शित हुई है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वह मुख्य रूप से 'अन्वयानुपपत्ति' को ही 'लक्षणा' का बीज मानते हैं।

इसका एक कारण यह हो सकता है कि रूढ़ि-लक्षणा के लक्षणों में 'तात्पर्यानुपपत्ति के लिए अवसर नही होता।

लक्षणा का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए इन्होंने त्रिवेणिका में बताया है कि किसी भी अभिधा के द्वारा अर्थ के प्रतिपादन में आपत्तिजनक प्रयोग करने पड़ते हैं, किन्तु लक्षणा के द्वारा उनका सम्मार्जन किया जा सकता है। इसके लिए इन्होंने जो पद्य उद्धृत किया है, उसमें कहा गया है—

'विष्ठा हटाने वाला', कार्यों में मर जाने वाला, पैदल चलने वाला अनुचर, पर पुरुष से रमण करने वाली 'विट् स्त्री'— ये कार्य गोपनीय होने के बावजूद तुच्छ हैं—

विष्ठोत्सारणकर्त्ता मत्ताकार्येषु पादचार्यनुगा।
कृतयाभना च विटस्त्री कार्ये गुह्येऽपि तुच्छमुल्यानि ॥[१८]

इस प्रकार के दोषों का उद्धार ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने एक अन्य प्रकार से किया है—

मलसम्मार्जनकर्त्तात्यक्तात्मदेहश्चपादचार्यनुगः।
कृतगमना च विटस्त्री कार्ये गह्येऽपि तुच्छमूल्यानि ॥[१९]

अर्थात् मल का सम्मार्जन कर्ता, आत्म त्याग करने वाला, पादचारी अनुचर, कृतगमना विटस्त्री—ये यद्यपि गुह्य कार्य करते हैं तथापि इनका महत्त्व तुच्छ होता है।

घ. लक्षणा के भेद-प्रभेद

आशाधरभट्ट ने केवल लक्षणा के भेदों का विस्तार से निरूपण किया है, प्रत्युत उसे सुबोध भी बना दिया है। आचार्यों की कृतियों में उपलभ्यमान लक्षणा के भेद-प्रभेद के प्रायः सभी प्रकारों का उन्होंने विवेचन किया है, जिसका विवरण इस प्रकार है—

कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका दोनों ग्रन्थों के आधार पर शब्द की दूसरी वृत्ति अर्थात् लक्षणा के मूलतः तीन भेद होते हैं—

त्रैविध्यमेतच्छक्तेर्वालक्षणा वृत्तिरिष्यते।
वृत्तिः संकेतयोः केचिन्मन्यंत उभयोरपि ॥[२०]

---

१८. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरणम्, पृ० ३२, ३३, १९५७ वाराणसी

१९. वही.

२०. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम्, का० २

इस प्रकार का 'लक्षणा वृत्ति' के त्रैविध्य का संकेत हमें त्रिवेणिका में भी प्राप्त होता है—"सा च त्रिविधां—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा च।"[२१]

अस्तु,

१. जहल्लणा

२. अजहल्लक्षा और

३. जहदजहल्लक्षणा आदि लक्षणा के मौलिक तीन भेद हैं।

आचार्य मम्मट आदि जिसको लक्षण-लक्षणा कहते हैं, उसी के लिये आशाधरभट्ट ने अपने ग्रन्थों में 'जहल्लक्षणा' के अभिधान का प्रयोग किया है: जहाँ मुख्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है, इसके ठीक विपरीत अजहल्लक्षणा का परित्याग कर दिया जाता है, इसके ठीक विपरीत अजहल्लक्षणा है। जहाँ मुख्यार्थ का परित्याग न करते हुए उसे लक्ष्यार्थ में अनस्यूत रखा जाता है, उसे ही 'जहदजहल्लणा' कहते हैं।"[२२]

इसी मन्तव्य को कोविदानन्द में प्रकारान्तर से निरूपित करते हुए इन्होंने

प्लुतिस्तु जहतीनाम प्रस्तारो जहती च सा।
सङ्कोच उभयी ज्ञेया सम्बन्धादप्यनेकधा॥[२३]

कहा है। तात्पर्य यह है कि मुख्यार्थ सम्बन्ध के आधार पर सम्भाव्य बहुविध लक्षणा, वाच्यार्थ के सर्वथा प्लवन अर्थात् त्याग पर **जहल्लक्षणा** उसके विरोध में **अजहल्लक्षणा** एवं मुख्यार्थ के अंशतः त्याग एवं ग्रहण में **जहदजहल्लक्षणा** का क्षेत्र होता है।

ये तीनों प्रकार की लक्षणाएं 'निरूढ़ा' और 'फलवती' नामक भेदों से दो-दो प्रकार की होती है। निरूढ़ा लक्षणा उसे कहते हैं जो अभिधा के समान 'कोश' आदि ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं। इसी को दूसरे लोगों ने 'रूढ़िलक्षणा' कहा है। इसको आशाधरभट्ट अनादि लक्षणा' भी कहते हैं तथा उसकी प्रवृत्ति का कारण मुख्यार्थ का बाध कहा है—

त्रिविधाऽपि पुनर्द्विविधा—निरूढ़ाफलवती च शक्तिवत्कोशादौ प्रसिद्धा निरूढ़ा। इयं च मुख्यार्थबाधे इति शक्तितो विशेषः एषानादिलक्षणेत्याहुः।[२४]

दूसरा प्रभेद 'फलवती' लक्षणा का है, जिसकी प्रवृत्ति किसी विशेष व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने के लिए होती है। इसका दूसरा नाम 'प्रयोजनवती लक्षणा' दिया गया है। आशाधरभट्ट इसको 'आधुनिक लक्षणा' भी कहते हैं—

२१. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरणम् पृ० १८, १९५७ वाराणसी
२२. वही.
२३. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम्, का० ३
२४. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरणम्, पृ० १८, १९५७ वाराणसी

फलवती तु व्यङ्ग्यार्थप्रतीतये प्रवर्तिता साऽधुनिफलक्षणत्याहुः अस्याः फलं तु व्यंग्यार्थ प्रतीतिः ।[२५]

इन्होंने 'फलवती' अर्थात् 'प्रयोजनवती 'लक्षणा' को 'आधुनिक लक्षणा' सम्भवतः इसलिए ही कहा है कि—ऐसी लक्षणाओं के लिए निरन्तर अवकाश बना रहता है। यह 'फलवती लक्षणा' जिस प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए की जाती है—वही 'फल' होता है, जो कहीं 'गूढ़' तो कही 'अगूढ़' रहता है। गूढ़ प्रयोजन वह है जिसको केवल सहृदय ही समझ सकते हैं तथा अगूड़ प्रयोजन सर्वजनसंवेद्य होता है।

गूढसहृदयमात्रवेद्यम् । अगूढं तु सर्वजनवेद्यम्[२६]

आशाधरभट्ट ने निरूढ़ा और फलवती लक्षणा के सन्दर्भ में अपनी कृति कोविदानन्द में भी प्रकारान्तर से अपना मन्तव्य व्यक्त किया है।

त्रिविधापि पुनर्द्विधा निरुढ़ा च फलान्विता[२७]

निरूढ़ा और फलवती लक्षणा की व्याख्या में इन्होंने लिखा है—

निरुढ़ा भक्तिरफला गूढागूढफलाऽपरा ।[२८]

इस प्रकार लक्षणा के जिन नौ भेदों का वर्णन हुआ है, वे ये हैं :—

१. जहल्लक्षणा
२. अजहल्लक्षणा
३. जहदजहल्लक्षणा
४. जहद्निरूढ़ा लक्षणा
५. अजहद् निरूड़ा लक्षणा
६. जहदजहद निरूढ़ा लक्षणा
७. जहद् प्रयोजनवती लक्षणा
८. अजहद प्रयोजनवती लक्षणा
९. जहद्जहद् प्रयोजनती लक्षणा

इसकी पुष्टि इन्होंने अपने ग्रन्थ कोविदानन्द की 'कादम्बिनी टीका' में स्वयं की है।

निरूढेति, अफला व्यंग्यार्थरहिताः पराफलवती गूढव्यंग्या अगूढव्यंग्याचेति एवं व्यधिकरणपदविषयालक्षणा नवविधा। अन्यापि समानाधिकरणविषया इत्यार्थाल्लभ्यते ।[२९]

---

२५. आशाधरभट्ट, त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरण, पृ० १८, १९५७ वाराणसी
२६. वही.
२७. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम्, का० ७, पूर्वार्द्ध
२८. वही, का० १० पूर्वार्द्ध
२९. वही, का० १० वृत्ति

अर्थात् ये उक्त सभी भेद पुन: दो-दो प्रकार के होते हैं—

१. व्यधिकरणपदविषयक

२. समानाधिकरणपदविषयक

जहाँ पर तात्पर्य का ग्राहक पद व्यधिकरण होता है—वहाँ व्यधिकरण विषयक लक्षणाएं होती हैं, परन्तु जहाँ ग्राहक पद समनाधिकरण रूप से व्यवस्थित होता है—उसे समानाधिकरण विषयक लक्षणा कहते हैं। लक्षणा में मुख्यार्थ का बाध किसी तात्पर्य विशेष से होता है। उसी को लक्षणा का ग्राहक कहते हैं। ग्रन्थकार के शब्दों में—

पुनरंपिलक्षणा द्विविधा—व्यधिकरणविषया समानाधिकरण विषया चेति। यत्र व्यधिकरणपदं तात्पर्यग्राहकं सा व्यधिकरणं विषयां। यत्र च समानाधिकरण पदं तात्पर्यग्राहकम् सा समानाधिकरणविषया। मुख्यार्थबाधकं तात्पर्यग्राहकं तदेव लक्षणा ग्राहकमित्युच्यते।[30]

उक्त सारी लक्षणाएँ गौणी एवं शुद्धा भेद से पुन: दो-दो प्रकार की होती हैं। सादृश्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा को 'गौणी' एवं सादृश्य सम्बन्ध से होने वाली 'लक्षणा' को शुद्धा की संज्ञा दी गई है।

सादृश्य सम्बन्धेसतिगौणीं तदभिन्नसम्बन्धे च शुद्धा।[31]

लक्षणा के शुद्धा और गौणी भेद को कोविदानन्द में निम्न रूप से निरूपित किया गया है--

कार्यकारणभावाद्‌ भेदौ शुद्धां विभो स्मृतो।
सादृश्येसति गौणी च शक्यलक्ष्यगुणाश्रयात्॥[32]

सादृश्य से भिन्न कार्यकारणभाव आदि सम्बन्धों के द्वारा लक्ष्यार्थ की प्रतीति ही 'शुद्धा' लक्षणा का स्थल है, जबकि सादृश्य सम्बन्ध होने पर 'गौणी लक्षणा। यह शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ में गुणसाम्य होने की ही महिमा है। इन भेदों के अतिरिक्त आशाधरभट्ट ने 'लक्षणा' के दो अन्य भेदों को कोविदानन्द में निरूपित किया है। वे हैं :—

१. लक्षित लक्षणा और

२. विपरीत लक्षणा

'लक्षितलक्षणा' के संदर्भ में आशाधरभट्ट की उद्‌भावना निम्न प्रकार है—

---

३०. आशाधरभट्ट : लक्षणाप्रकरणम्, पृ० १६, १९५७ वाराणसी

३१. वही.

३२. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम्, का० १२.

आधाराधेयभावेन प्रासादो रुद्र इष्यते।
सद्वाच्यवाचकत्वेन भवेल्लक्षितलक्षणा ॥[३३]

यहाँ प्रासादोरुद्र इष्यते उदाहरण से 'लक्षित लक्षणा' को व्याख्यायित किया है। तात्पर्य यह है कि लाक्षणिक पद का हेतु आधाराधेयभाव सम्बन्ध होता है। प्रकारान्तर ने वाच्य-वाचक सम्बन्ध के कारण भी लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, जो लक्षित लक्षणा का विषय है। इसी प्रकार आशाधरभट्ट ने—

विरुद्धा व्यतिरेके च लक्षणोक्तामनीषिभिः ॥ (२१वीं पूर्वार्द्ध)

कहकर विपरीत लक्षणा को व्याख्यायित किया है, जिसका तात्पर्य है कि वैपरीत्य सम्बन्ध के द्वारा लक्ष्यार्थ की प्रतीति का स्थल विपरीत लक्षण है।

'प्रयोजनवती लक्षणा' के दो प्रभेदों की चर्चा कोविदानन्द और त्रिवेणिका में समान रूप से उपलब्ध होती है। इसकी चर्चा निरूढ़ाभक्तिरफला गूढ़ागूढ़फलाऽपरा कहकर प्रयोजनवती (फलवती) लक्षणा के गूढ़ एवं अगूढ़ प्रयोजनों के आधार पर 'गूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा' एवं अगूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा नामक दो भेदों का निरूपण किया गया है।

इसी सरणि में आशाधरभट्ट ने समानाधिकरणविषया लक्षणा के दो प्रभेदों का उल्लेख किया है। वे हैं :- (१) सारोपा लक्षणा और (२) साध्यवसाना-लक्षणा। सारोपा एवं साध्यवसानालक्षणा की व्याख्या निम्न कारिका में इस प्रकार से है—

सारोपा सा मता यत्र विषयी विषयान्वितः।
ज्ञेया साध्यवसाना सा विषयी यत्र केवलः ॥[३५]

अर्थात् सारोपा लक्षणा का स्थल वह है, जहाँ विषय एवं विषयी अर्थात् लक्षक एवं वाचक दोनों शब्दों का प्रयोग हो। इसके विपरीत जहाँ लक्षक शब्द (विषयी) का प्रयोगाभाव होता है, अर्थात् जहाँ वाचक शब्द का ही प्रयोग होता है, वहाँ 'साध्यवसानालक्षणा' समझनी चाहिए।

आशाधरभट्ट ने 'सारोपा और साध्यवसाना दोनों लक्षणाओं का विशेष विवेचन अपनी कोविदानन्द नामक कृति में किया है—

रूपकादिषु सारोपां यत्र शब्दावुभावपि।
रूपकातिशयोक्त्यादौ पराऽऽरोप्यपदश्रुतेः ॥[३६]

---

३३. आशाधरभट्ट, कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम् का० १८
३४. वही, का० १० पूर्वार्द्ध
३५. वही, का ०११
३६. वही, का० २६

'रूपकादि अलङ्कारों में सारोपा लक्षणा का नियमन हो सकता है, जिसका हेतु विषय और विषयी—दोनों के वाचक शब्दों का प्रयोग ही है। रूपकादि अलङ्कारों के प्रसङ्ग में मात्र विषयी वाचक पदों के प्रयोग से साध्यवसाना लक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। यहाँ कारिका में प्रयुक्त 'रूपकादिषु' एवं 'रूपकातिशयोक्त्यादौ' पत्र सापेक्ष है। इसकी व्याख्या में आशाधरभट्ट ने स्वयं ही कोविदानन्द की कादम्बिनी नामक टीका में लिखा है—

रूपकेति—आदिशब्दान्निदर्शनादयो गृह्यन्ते। रूपकेति—आदि-शब्दाद-प्रस्तुतप्रशंसादयोगृह्यन्ते।[३७]

सारोपा और साध्यवसाना लक्षणाओं के 'फल' के सन्दर्भ में आशाधरभट्ट की उद्भावना यह है—

सादृश्यश्लथताभावः सारोपायाः फलं मतम्।
सादृश्यातिशयोऽन्यस्या विषयस्तुतिहेतवे॥[३८]

अर्थात् विषय एवं विषयी के अभेद-प्रतीति के कारण सादृश्य प्रतीति में शैथिल्याभाव रूप ज्ञान 'सारोपा लक्षणा' का फल है, जबकि साध्यवसाना लक्षणा में विषय के उत्कर्ष की प्रतीति के लिए सादृश्यातिशय का ज्ञान होना ही इसका फल है। इस प्रकार कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका नामक दोनों ग्रन्थों में आशाधरभट्ट ने लक्षणा के भेदों का निरूपण किया है, जिनके उदाहरणों का विवेचन उसी क्रम से किया जा रहा है—

उदाहरण—

१. जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा एवं जहदजहल्लक्षणा :—

आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द के 'लक्षणानिरूपणम्' नामक द्वितीय परिच्छेद की चौथी कारिका में ही जहत्, एवं जहदजहद् नामक लक्षणा के तीनों मूल भेदों को सोदाहरण निरूपित किया है—

ऊँकारलिङ्गं रेवायां शोणैरच्यं दिनोदये।
यतः प्रफुल्लाः पद्मिण्यस्तत्रेत्यादौ यथाक्रमम्॥[३९]

जिस 'रेवा' नदी के कारण उसमें स्थित कमलिनियां खिली हुई हैं, उसी रेवा में स्थित भगवान् शिव ऊँकारलिङ्ग की अर्चना दिवासमय में रक्तकमलों से करनी चाहिए।

---

३७. आशाधरभट्ट, कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम्, का० २९ वृत्ति
३८. वही, का० ३०
३९. वही, का० ४

उक्त पद्य में प्रयुक्त तीन वाक्यांश—

रेवायां ऊँकारलिङ्गम्,
दिनोदये शोणैः अर्च्यम्,
दिनोदये पद्मिन्यः प्रफुल्लाः (सन्ति)

क्रमशः जहत्, अजहत् नामक लक्षणा के तीनों मूल भेदों के उदाहरण के रूप में दिए गए हैं।

'ऊँकारलिङ्गं रेवायाम्' वाक्यांश जहल्लक्षणा का उदाहरण इसलिए है कि यहाँ वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, 'ऊंकारेश्वर' का लिङ्ग रेवा नामक नदी में है, परन्तु रेवा पद से (रेवा) नदी के जल प्रवाह का ग्रहण होता है, जो लिङ्ग का आधार नही हो सकता। इसलिए यहाँ मुख्यार्थ का बाध है। मुख्यार्थबाध होने पर जल प्रवाह में संयोग द्वारा लक्ष्यार्थ रूप नदी तट की प्रतीति 'रेवा' पद से होती है। अतएव 'रेवा' शब्द में जहल्लक्षणा है, क्योंकि 'रेवा' पद ने अपना जलप्रवाह रूप स्वाभाविक अर्थ छोड़ दिया है। इसी बात को इन्होंने कोविदानन्द की कादम्बिनी नामक टीका में इस प्रकार कहा है—

रेवामिति। अत्र रेवा शब्देन तत्तीरेलक्षणा, स्थापितस्य ज्योतिर्लिगस्य प्रवाहेऽवस्थानासम्भवादत्र मुख्यार्थ बाधः। प्रवाहतीरयोः संयोग सम्बन्धः। रेवा शब्दे जहती नाम लक्षणा। जहत्वं शब्द धर्मो लक्षणायामारोप्यतेन्तर्भावितण्यर्थो वा जहाति। धातुनामनेकार्थत्वात्।[40]

अजहल्लक्षणा का उदाहरण है—**शोणैरर्च्यं दिनोदये**। यहाँ प्रयुक्त 'अर्च्यम्' एक क्रिया पद है, जो किसी द्रव्य के द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है, मात्र गुण के द्वारा नहीं। 'शोणैरर्च्यं दिनोदये' में 'शोण' पद गुणवाचक विशेषण है। अतः शोण अर्थात् गुणवान् पद्मिनी पुष्प का ग्रहण, लक्ष्यार्थ के रूप में होता है। शोणगुणवान् पुष्प अर्थात् रक्तपुष्प रूपी लक्ष्यार्थ में 'शोण' पद का वाच्यार्थ भी सम्मिलित है। अतएव यह अजहल्लक्षणा का उदाहरण है।

'यतः प्रफुल्लाः पद्मिन्यः' जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण है। इस वाक्यांश में यह कहा गया है कि जिस रेवा के कारण पद्मिनी अर्थात् कमलिनी के पौधे खिले हुए हैं। यहाँ 'पद्मिन्यः' के पद का प्रयोग पौधे के लिए प्रयुक्त हुआ है किन्तु पौधे का एक अङ्ग 'पुष्प' ही प्रफुल्लित अर्थात् विकसित है न कि सभी अङ्ग। अतः मुख्यार्थ का बाध होने पर यह लक्षणा का उदाहरण है। 'पद्मिनी' शब्द का लक्ष्यार्थ उसका पुष्पात्मक अवयव है, जो विकसित है। ऐसा करने से अर्थ की बाधा दूर हो जाती है, किन्तु लक्ष्यार्थ पद्मिनी के पुष्प में वाच्यार्थ पद्मिनी के पौधे का 'पुष्पित

४०. आशाधरभट्ट, कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम् का० ४ वृत्ति

अंश' तो ग्रहीत है, शेष डंठन, पत्र आदि का स्वतः त्याग हो जाता है। अतः वाच्यार्थ के कुछ अंश के लक्ष्यार्थ में ग्रहीत होने से तथा कुछ के ग्रहीत न होने से यह जहदजहद् संज्ञक लक्षरणा का उदाहरण बन जाता है।

आशाधर ने अपनी अन्य कृति त्रिवेरिणका में व्यधिकरणविषया फलवती जहल्लक्षरणा के उदाहरण के रूप में 'गङ्गायां घोषः' को प्रस्तुत किया है। यहाँ मुख्यार्थ का बाध 'गङ्गा' पद से जल प्रवाह रूप स्वाभाविक अर्थ के स्थान पर 'तट' रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति होने में है।

गङ्गायां 'घोषः' में गङ्गा के अतिरिक्त 'घोष' पद है, जिसका प्रयोजन 'घोष' में शैत्य, पावनत्व की प्रतीति है। यहाँ तात्पर्यग्राहक 'घोष' एवं 'गङ्गा पदों में **व्यधिकरणविषया लक्षरणा** हैं तथा शीतत्व पावनत्वातिशय की प्रतीति रूप प्रयोजन होने से फलवती लक्षरणा है तथा 'गङ्गा' पद के लक्ष्यार्थ में उसके मुख्यार्थ प्रवाह रूप अर्थ का सर्वथा परित्याग हो जाने से जहल्लक्षरणा है। 'गङ्गा-प्रवाह और गङ्गा-तट' में सामीप्य सम्बन्ध होने से यह 'शुद्धलक्षरणा' है। इसी प्रकार किरातार्जुनीयम् के प्रयोग 'द्वैतवने युधिष्ठिरं समाययौ' में सरोवरवाची 'द्वैतवन' शब्द से उसके तीर में लक्षरणा होती है। युधिष्ठिर समागम ही यहाँ तात्पर्यग्राहक है, जिसका सरोवरवाची द्वैतवन' के साथ समानाधिकरण नहीं बनने से यह लक्षरणा व्यधिकरणविषया है। इससे एकान्त में दोनों के मिलन रूपी प्रयोजन की प्रतीति होती है। अतः यह फलवती है तथा तीर रूपी लक्ष्यार्थ के द्वारा सरोवर रूपी वाच्यार्थ का सर्वथा परित्याग करने से यह 'जहल्लक्षरणा' का उदाहरण है। महाभारत में 'द्वैतवनेसरः' इस उक्ति में कुछ लोग 'निरूढ़ा लक्षरणा' मानते हैं।

निरूढ़ा लक्षरणा के विषय में आशाधरभट्ट कोविदानन्द में कहते हैं कि यह शक्ति के समान ही होती हैं इसलिए इससे प्रतीत होने वाला लक्ष्यार्थ वाच्य के रूप में ही ग्रहण होता है। इसी को स्पष्ट करते हुए इन्होंने यह कहा है :—

त्रिविधाऽपि पुनर्द्विधा निरूढा च फलान्विता।
स्तुवन्ति वाग्भिरर्च्चन्ति पारिणभिर्नील लोहितम् ॥[41]

यहाँ 'स्तुवन्ति वाग्भिः' में 'वाक्' शब्द से वागिन्द्रय से उत्पन्न स्तुति प्रभृति बचन रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। ऐसे प्रयोग चूँकि परम्परया प्रयोग में हैं अतएव बिना प्रयोजन के भी इनकी सद्भावना होती है। अतः यहाँ निरूढ़ा लक्षरणा है।

निरूढ़ा लक्षरणा का एक अन्य उदाहरण **अर्चन्ती पारिणभिः नीललोहितम्** भी है। इसमें प्रयुक्त 'पारिण' शब्द अंगुली पर्यन्त बाहु का बोधक है, जबकि 'अर्चना'

---

४१. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द; लक्षरणा निरूपरणम् का० ७

केवल हस्त रूप अग्रभाग से ही सम्पन्न की जाती है—यह ही लक्ष्यार्थ है। यह निरूढ़ा लक्षणा इसलिए भी सटीक है, क्योंकि 'पाणि' शब्द हस्तावयव के लिए प्रयोग परम्परा में शक्ति के अभाव में भी बहुशः प्रचलित हैं। इस प्रकार **स्तुवन्ति वाग्भिः** में शरीर के अवयव भूत '**वाक्**' का त्याग करने से 'जहल्लक्षणा तथा **अर्चन्ती पाणिभिः नीललोहितम्** उदाहरण में 'पाणि' शब्द में अजहल्लक्षणा है।

प्रयोजनवती अन्यान्य लक्षणाओं की व्याख्या निम्न रूप से की गई है :—

प्रसादाः सन्ति रेवायां यष्टयः प्रविशन्ति यत्।
प्रदोषे जनसम्बाधे शम्भावम्भः क्षिपन्ति च ॥[४२]

अर्थात् **प्रसादाः सन्ति रेवायाम्** में प्रवाहवाची 'रेबा' पद से लक्ष्यार्थ तट की प्रतीति होती हैं, जिसका प्रयोजन पूजा के सौन्दर्य एवं स्थल-गौरव तथा 'अवश्य सेव्यत्वातिशय' आदि की भी प्रतीति होती है। दूसरा उदाहरण 'प्रदोषे जल सम्बाधे यष्टयः प्रविशन्ति यत् है। यहाँ प्रयुक्त 'यष्टि' पद बहुत्व रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता है तथा 'शम्भौः अम्भः क्षिपन्ति च' उदाहरण में 'शम्भु' पद से शरीर का एक भाग अर्थात् 'शिव-लिङ्ग' रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति प्रयोजनवती जहदजहल्लक्षणा द्वारा ही होती है। यहाँ पूजातिशय ही प्रयोजन है।

'त्रिवेणिका' में आशाधरभट्ट ने 'निरूढ़ा लक्षणा' के सन्दर्भ में 'छत्रिणो यान्ति' उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसमें छत्र धारण करने वाले 'क्षत्रियः' पद से उनके साथ जो बिना छतरी के लोग हैं—उनका भी ग्रहण हो जाता है। यहाँ लक्षणा का तात्पर्य ग्राहक 'बहुत्व' है, क्योंकि इस उदाहरण में 'क्षत्रिय' पद से यही बताना है कि बहुत से लोग छाता लिए हुए जा रहे हैं। इसका प्रयोजन है 'जाने वालों में मुख्यतया छाता धारण करने वालों की है—यह बताना है। जहल्लक्षणा का उदाहरण है। इसी तरह 'काकेभ्योदधिरक्ष्यताम्' इसमें 'काक' शब्द की दधि के विनाशक मात्र में लक्षणा होती है, जिसका प्रयोजन काक की दुष्टता बताना है। इस प्रकार यह 'व्यधिकरणविषयाफलवतीजहल्लक्षणा का उदाहरण है। इसके अन्य उदाहरण हैं—राजागच्छति, धनुर्भभृतः संयतिलब्धकीर्तयः' तथा 'ब्राह्मण ग्रामाः।'

जहदजहल्लक्षणा को ही 'भागत्यागलक्षणा कहा गया है—

इयं (जहदजहल्लक्षण्येव) भागत्यागलक्षणेत्याहुः[४३]

फलवती जहल्लक्षणा का उदाहरण—'पशुननक्ति' है। यहाँ पशु शब्द से उस नेत्र अर्थ में लक्षणा होती है। इसका प्रयोजन 'सकलतादात्म्य प्रतीति' ही है। इसी प्रकार 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादि में भी 'फलवती जहदजहल्लक्षणा' ही है।

---

४२. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द; लक्षणा निरूपणम् का० ८
४३. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकारणम्, पृ० १२, १९२५ वाराणसी

'कर्णावतंसः' शब्द में कर्णाभरणवाची 'अवतंस' से भूषण सामान्य अर्थ में लक्षणा होती है, जो 'अवतंस' के वर्ण में 'स्थित रूप 'प्रयोजन को बताती है। अतः 'कर्णावतंसः' 'फलवतीजहदजहल्लक्षणा' का ही उदाहरण है। इसी प्रकार 'वंश करील नीलैः' एवं **हिमांशुवंशस्य करीरमेव माम्** में भी फलवती जहदजहल्लक्षणा ही है। 'करिकलभः' में हाथी के बालकवाची 'कलभ' शब्द से बालकसामान्य अर्थ में लक्षणा होती है, जिसका प्रयोजन प्रौढ़ता की प्रतीति कराना है। यहाँ आशाधरभट्ट ने 'वामन' की कृति 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' का उद्धरण दिया है कि 'एकार्थ पदम-प्रयोज्यम्' अर्थात् एकार्थक पद का प्रयोग साथ-साथ नहीं करना चाहिए। इसीलिए 'करिकलभः' और 'कर्णावतंसः' में मुख्यार्थ का बाध होता है और लक्षणा की आवश्यकता होती है। अन्य लोग 'करिकलभः' में लक्षणा नहीं मानते क्योंकि कोश में 'कलभः पकरपोतः स्यात् से 'करि' शब्द का अभिधान प्रयोगरूढ़ि को प्रगट करने के लिए हैं। इसीलिए शङ्करस्वामी के 'भ्रमरकलभौ कर्णयुगलम्' प्रयोग में लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं है। आशाधरभट्ट के विचार से कि वास्तविक रूप से प्रयोग रूढ़ि का निर्धारण लोक से ही होता हैं। उसके लिए 'कोश' में इसका निर्देश होना आवश्यक नहीं है—

प्रयोगरूढ़िर्लोकसिद्धदेति कोशादौतन्निर्देशोनावश्यकः

इसी प्रकार 'सकीचकेः' से वेणुमात्र में लक्षणा होती है, जो 'भागत्याग' अर्थात् 'जहृदजहल्लक्षणा' का उदाहरण है। इसमें 'चारु ध्वनि' उत्पन्न होने की प्रतीति ही प्रयोजन है। अतः यह फलवती लक्षणा है। अन्यथा 'वेणु का ही प्रयोग हो सकता था। इसीलिए ग्रन्थकार ने यहाँ काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिकार वामन को उद्धृत किया है—

विशिष्टवाचकानां पदानां विशेषणविशेष्यान्तर। समवधाने सति विशेष्य-विशेषणान्यतरमात्रपरता ग्राह्या इति। अर्थात् विशिष्ट वाचक पदों से विशेषण और विशेष्य दोनों में से किसी का निर्धारण हो जाय तो केवल विशेषण या केवल विशेष्य के रूप में भी उसको स्वीकार कर लेना चाहिए। 'पुंसकोकिलः' एवं 'पुङ्गव' इत्यादि स्थलों में विशेषण मात्र में लक्षणा है। इसी सरणि पर त्रिवेणिका में उद्धृत निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

चूताङ्कुरः स्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज।
मनास्विनीमानविवक्षं तदेव जातं वचनंस्मरस्य २२'[४४]

प्रकृत श्लोक के **पुस्कोकिल यन्मधुरं चुकूज** उदाहरण में प्रयुक्त 'पुंस्कोकिल एवं पुङ्गवः' स्थलों में विशेषणमात्र में लक्षणा है। इसी प्रकार **वंशाकुरश्चारुरस्ति**

---

४४. कालिदास; कुमारसम्भव, तृतीय सर्ग, श्लोक सं० ३२

में विशेष्य मात्र में लक्षणा है।

फलवती लक्षणा के जिन दो भेदों—'अंगूढ़फला' तथा गूढ़फला' का उल्लेख ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने पहले किया था, उसके विषय में वे कहते हैं—**यद्यपि अगूढ़फलानावश्यं वक्तव्या तथापिप्राचीनानुसारेणोच्यते ।** अर्थात् यद्यपि 'अगूढ़फला' अनावश्यक लक्षणा है, क्योंकि लक्षणा का साहित्य में जो प्रयोग होता है, उसके बोद्धा 'सहृदय' ही होते हैं। सहृदय सामाजिक ऐसे अर्थ या प्रयोग को बहुत अधिक पसन्द नहीं करते जिनके अर्थ की प्रतीति (सहज) अनायास ही हो जाती हो। फिर भी मम्मट आदि आचार्यों ने 'गूढ़व्यंग्या' और अगूढ़व्यंग्या के नाम से प्रयोजनवती लक्षणाओं का प्रतिपादन किया है। उन्हीं के अनुरोध से त्रिवेणिका में उनका विवेचन किया गया है—

गूढद्वयमिदं पीडयिष्यति किं तदेवाग्रे कथयिष्यति

इस प्रयोग में 'गूढ़द्वय' के द्वारा 'कथन' के अर्थ का बोध करने से लक्षणा करनी पड़ती है जिसका प्रयोजन—बोध कराना है। इसकी प्रतीति सर्व-साधारण को अनायास ही हो जाती है। इसी प्रकार 'वसन्तस्तरुनर्तयति' यहाँ वसन्त, शब्द से 'वसन्तकालीन वायु' अर्थ में लक्षणा होती है, जिसका प्रयोजन वृक्ष के धीरे-धीरे हिलने से, सौन्दर्य की प्रतीति है, जो सबको सरलतया हो जाती है। इसलिए यह 'अगूढ़फला' का ही उदाहरण है। अगूढ़फला का एक और उदाहरण ग्रन्थकार ने 'फलितारम्भा जनानाह्वयन्ति' दिया है। यहाँ 'रम्भा' के द्वारा लोगों का आह्वान होना ही 'मुख्यार्थबाध' है, जिसकी लक्षणा 'रम्भा' के शिरोभाग के झुकने के अर्थ में है। इसका प्रयोजन फल की स्वादुता की प्रतीति है, जो सबको होती है।

काव्यप्रकाश में जहदजहल्लक्षणा का निरूपण नही किया गया है, क्योंकि वहाँ 'लक्षण-लक्षणा' के रूप में इसका भी अन्तर्भाव मान लिया गया है। इस बात की पुष्टि आशाधरभट्ट ने अपनी कृति त्रिवेणिका में स्पष्टतः कर दी है—

काव्यप्रकाशे भागत्यागलक्षणानास्ति जहल्लक्षणान्तरभावात् ।[४५]

समानाधिकरणविषया लक्षणा के दो भेद होते हैं—सारोपा और साध्यवसाना। ये जव सादृश्येतर सम्बन्ध से घटित होते हैं तो 'शुद्धा लक्षणा' का निर्माण करते हैं। इसी सरणि पर आशाधरभट्ट कोविदानन्द में कहते हैं :—

---

४५. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरणम्, पृ० २२, १९५७ वाराणसी

निरूढ़ा शुद्धसारोपा शिवं शम्भु भजेदिति ।
शिवं भजेदिति परा कार्य कारण भावतः ।।[४६]

प्रस्तुत कारिका में 'शिवं शम्भु भजेत्' वाक्य में वाचक 'शम्भु' पद और लक्षक 'शिव' पद के संयुक्त प्रयोग से सारोपा लक्षणा है। यहाँ कार्यकारणभाव सम्बन्ध के आधार पर ही शुद्धा सारोपा लक्षणा का स्थल है। इसी उदाहरण में यदि मात्र 'शिवं भजेत्' कहा जाय तो वाचक पदाभाव में 'शिवं भजेत्' पद्यांश में साध्यवसाना-शुद्धा-निरूढ़ा लक्षणा होगी।

इसी प्रकार इन्होंने कोविदानन्द में एक कारिका लिखी है—

'स्त्रीरत्नगिरिजा सेषा रत्नं संसारवारिधेः ।
निरूढ़ागौणसारोपाऽन्या च सादृश्य योगतः ।।[४७]

अर्थात् स्त्रीरत्नगिरिजा' वाक्य में प्रयुक्त 'स्त्रीरत्न' पद से स्त्रियों में श्रेष्ठ रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति 'गिरिजा' वाचक पद से प्रयोग होने के कारण सारोपा लक्षणा से होती है। यहाँ 'गौणी लक्षणा' भी है। क्योंकि 'स्त्री' और 'रत्न' दोनों पदों में गुण का सादृश्य है। यही उदाहरण प्रयोग प्राचुर्य के कारण 'निरूढ़ा लक्षणा' को भी समर्थित करता है। प्रकारान्तर से ऐषा (स्त्री) रत्नं संसारवारिधेः' वाक्य में 'रत्न पद' से 'स्त्रीरत्न अर्थ' की प्रतीति होती है। यहां विषय वाचक स्त्री पद के प्रयोगाभाव के कारण ही 'साध्यवसाना गौणी-निरूढ़ालक्षणा' कही जाएगी।

एक अन्य कारिका में भट्ट जी ने—

मुक्तिः शिवस्य पूजैव हे मुक्ते मा जहीहि माम् ।
फलिनी शुद्ध सारोपाऽन्या च बीजफलंवतः ।।[४८]

कहा है। 'मुक्तिः शिवस्य पूजैव' इस वाक्य में शिव की अर्चना का 'फल' मुक्ति है। अतः कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध' के कारण 'मुक्ति' पद पूजा रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता है। यहाँ मुख्य साधना की सद्भावना ही प्रयोजन है। अतएव यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा के कारण ही फलवती लक्षणा कार्य-कारण भाव सम्बन्ध के कारणशुद्ध, विषय और विषयी उभयवाची पदों के प्रयोग से ही यहाँ 'सारोपा लक्षणा' की प्रतीति होती है, जबकि 'मुक्ते मा जहीहि माम्' वाक्य में विषयवाची पद के प्रयोगाभाव के कारण ही प्रयोजनवती शुद्धा-साध्यवसाना लक्षणा के द्वारा लक्ष्यार्थ विशेष की प्रतीति होती है।

---

४६. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम्, का० १३
४७. वही, का० १४
४८. वही, का० १५

गौणी-सारोपा लक्षणा एवं साध्यवसाना-प्रयोजनवती-गौणी लक्षणाओं के उदाहरणों के लिए भट्ट जी ने निम्न प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं :—

शिवपूजा मम प्राणाः हे प्राणाः विरताः स्थ मा ।
फलिनी गौणसारोपा परा च सदृशन्त्वतः ॥[४६]

'शिवपूजा मम प्राणाः' वाक्यांश में 'प्राण' पद से शिवपूजा रूप अर्थ की प्रतीति होती है । यहाँ प्राण और शिवपूजा—दोनों में सादृश्य रूप लक्ष्यार्थ से सर्वातिशायिनी शिवप्रीति या भक्ति की प्रतीति होती हैं । यह गौणी लक्षणा का स्थल है क्योंकि शिव-अर्चना और प्राण में विद्यमान आदरणीयता रूप गुण सादृश्य लक्ष्यार्थ में सहायक है । शिवपूजा और प्राण रूप में क्रमशः विषय और विषयी उभय प्रयोग के आधार पर गौणी-सारोपा लक्षणा की सङ्गति बैठती है । इसी तरह हे प्राणाः विरताः मा स्थ' वाक्य में 'साध्यवसानाप्रयोजनवती-गौणी लक्षणा' मानी जायगी । क्योंकि यहाँ शिव पूजा के लिए 'प्राणाः' पद का प्रयोग तो है, किन्तु विषयरूप शिवपूजा वाची पद का सर्वथा अभाव है ।

इसी प्रकार इस तथ्य का प्रकारान्तर से भट्ट ने अपनी कृति त्रिवेणिका में भी निरूपण सम्यक् रीति से किया है । उन्होंने सारोपा और साध्यवसाना लक्षणाओं को निरूपित करने के सन्दर्भ में सादृश्येतर सम्बन्ध से घटित होने पर निर्मित 'शुद्धा लक्षणा' के उदाहरणस्वरूप—आयुर्घृतम् तथा 'आयुरेवेदम' प्रभृति वाक्यांशों को उदाहृत किया है । इन स्थलों पर आशाधरभट्ट का मन्तव्य है कि 'आयु' और घृत' में समानाधिकरण इसलिए नहीं बन सकता कि वे दोनों ही नामार्थ हैं । दो नामार्थों में समानाधिकरण नहीं होता । इसमें मुख्यार्थ का बाध होने पर 'आयु' शब्द की आयुकारक में लक्षणा होती है, जिसमें कार्य-कारण भाव सम्बन्ध कार्य करता है । यह लक्षणा फलवती है क्योंकि इसका प्रयोजन अन्य सभी 'अपयूकारक-पदार्थों में 'घृत' का वैशिष्ट्य वताता है । यहाँ जब आयु और घृत रूपी विषय और विषयी का साथ-साथ प्रयोग करते हैं तो यह सारोपा-लक्षणा हो जाती है और जब विषयी में विषय का अन्तर्भाव करके 'आयुरेवेदम्' ऐसा प्रयोग करते हैं तो यह 'साध्यवसाना-लक्षणा' का उदाहरण बन जाता है—ये दोनों ही 'जहत्लक्षणा' के उदाहरण हैं, क्योंकि यहाँ 'आयु' शब्द के 'वाच्यार्थ' का सर्वथा तिरस्कार कर दिया जाता है । इसी प्रकार उसमें रहने के संबंध से या उसके लिए विहित होने से भी उन शब्दों से अभिहित होकर लक्षणा का विधान होता है जिसके उदाहरण हैं—'कलिङ्गः साहसिकः' तथा इन्द्रार्थः स्थूणा इन्द्रः' । यहाँ कलिङ्ग पद की कलिङ्ग देशवाची अर्थ में लक्षणा होती है, जिसमें सम्बन्ध देश और उसमें रहना है । इसी तरह 'स्थूणा' के लिए इन्द्र पद का प्रयोग मुख्यार्थ का बाध है, जिसमें सादृश्य

---

४६. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द; लक्षणा निरूपणम् का० १६

सम्बन्ध से 'इन्द्र के लिए' इस अर्थ में लक्षणा होती है। 'राजकीयोपुरुषो राजा' में राजकीय पुरुष के लिए 'राजा' का अभिधान करने पर मुख्यार्थ का बाध होता है और स्व-स्वामिभावसम्बन्ध से 'राजा' पर की राजकीय पुरुष अर्थ में लक्षणा होती है।

सादृश्य-सम्बन्ध से होने वाली गौणी अजहत् लक्षणा के उदाहरण त्रिवेणिका में इस प्रकार दिए गए हैं—

मुखं चन्द्रः, चन्द्रो एवायम्। गौर्वाहीकः, गौरेवायम्। अग्निर्माणवकः, अग्निरेवायम्। पण्डितोयमपरः सूर्यः, सूर्य एवायम्। सिंहो देवदत्तः सिंह एवायम्।

इन सब में लक्षणा, सादृश्य सम्बन्ध से होती है, जिसमें 'मुखं चन्द्रः' का अर्थ है—'चन्द्र तुल्यं मुखं'। गौर्वाहीकः का लक्ष्यार्थ है—बैल के समान वाहीक और 'अग्निर्माणवकः' का लक्ष्यार्थ है—अग्नि के समान बालक। ये सब स्थल समानाधिकरण लक्षणा के हैं : क्योंकि इन सब में समानाधिकरण न होते हुए भी समानाधिकरण का प्रयोग किया गया है। जैसे 'गौर्वाहीकः में गौ' और 'वाहीक' पदों के अधिकरण यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि इन्हें समान विभक्ति एवं वचन के द्वारा एक कहा गया है। दोनों का 'एक कहना' ही यहीं मुख्यार्थ का बाध है। अतः सादृश्य-सम्बन्ध से गो सदृश्य अर्थ में 'गो' पद की लक्षणा होती है। इस लक्षणा का प्रयोजन 'वाहीक' को मूर्ख बताता है। 'गौ' और 'वाहीक' दोनों पदों के साक्षात् प्रयोग होने पर यह सारोपा लक्षणा का उदाहरण बनता है तथा 'गौरेयम्' में केवल विषयी का प्रयोग होने पर 'साध्यवसाना लक्षणा' मानी जाती है। दोनों ही अवस्थाओं में 'अजहल्लक्षणा' होती है, क्योंकि 'गो' पद की गो सादृश्य में लक्षणा करने पर लक्ष्यार्थ में गो के वाच्यार्थ का भी समावेश हो जाता है, उसका तिरस्कार नहीं होता।

अवयवायवी-भाव-सम्बन्ध से होने वाली 'जहदजहल्लक्षणा' का उदाहरण :—'अग्रमानुषु अग्रहस्तः, हस्ताग्रम्, अग्रपादः अग्रसेनेत्यादौ।' इन उदाहरणों में लक्षणा का प्रयोजन अवयव विशेष को महत्त्व देना है। इसी प्रसङ्ग में आशाधरभट्ट ने निरूढ़ा लक्षणा का उदाहरण दिया है—'रवौ नीलं बुवे पीतम्' इसमें 'रवि और 'बुध' शब्द के मुख्यार्थ को बोध होने पर उनमें क्रमशः 'रवि' और 'बुध' संज्ञक दिनों का ग्रहण होता है, जिसमें 'रवि' और 'बुध' के वाच्यार्थ का सर्वथा तिरस्कार कर दिया जाता है। अतः यह जहल्लक्षणा का उदाहरण है। ऐसा प्रयोग किसी प्रयोजन में नहीं किया जाता, अपितु इस तरह से कहने की प्रथा ही प्रचलित हो गई है। इसीलिए 'रवौ नीलम् बुधेपीतम्' यह निरूढ़ा लक्षणा' का उदाहरण सटी कही है।

यही फलवती लक्षणा का उदाहरण 'मातृविद्धो गणेश्वरः' है, जहाँ मातृ शब्द की तृतीया में एवं गणेश की चतुर्थी तिथि' के अर्थ में लक्षणा होती है। यद्यपि यह प्राचीन प्रयोग के आधार पर निरूढ़ा जहत्लक्षणा का उदाहरण है, तथापि कुछ

लोग इसे 'फलवती' इसलिए मानते हैं कि इस तरह की उक्ति का प्रयोजन प्राणप्रद है। 'मातृ' और 'गणेश' शब्दों में जो प्राणप्रद तत्व है—वह तिथियों से सम्बन्धित होने पर ही सिद्ध होते हैं। 'यमो न गमने शस्तः' यह भी निरूढ़ा लक्षणा का ही उदाहरण है, क्योंकि द्वितीयत्व बोधक 'यम' शब्द की 'द्वितीय नक्षत्र भरणी' में 'लक्षणा' होती है। तभी इसका अर्थ होता है कि 'भरणी नक्षत्र यात्रा के लिए प्रशस्त नहीं है।

इसी प्रकार 'हस्तहस्तः करिकुम्भः प्रयोगों में 'हस्त' एवं 'कुम्भ' शब्दों की लक्षणा क्रमशः 'हाथी की सूंढ़ एवं 'शिर' में होती है। यहाँ सम्बन्ध-सादृश्य है। परम्परा योग के कारण निरूढ़ा लक्षणा है तथा 'हस्त' एवं 'कुम्भ' शब्दों के वाक्यार्थों का सर्वथा तिरस्कार करने के कारण यह जहल्लक्षणा का उदाहरण है। इसी प्रकार 'वाणैरश्वैश्चहायनैः' इस वाक्य में 'बाण' शब्द से पांच संख्या में लक्षणा होती है। यहाँ भी सादृश्य-सम्बन्ध है, क्योंकि 'काम' के 'पांच बाण' प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'अश्व' शब्द की लक्षणा 'सात संख्या' के अर्थ में होती है, क्योंकि सूर्य के सात ही घोड़े होते हैं।

'वाणैरश्वैश्चहायनैः' इस वाक्य में कुछ आचार्य 'बाण' और 'अश्व' शब्दों में क्रमशः 'पंच' और 'सप्त' संख्याओं में लक्षणा करके 'वर्ष' अर्थ में पुनः लक्षणा करते है जो विचारणीय है।

निरूढ़ा अजहल्लक्षणा' का उदाहरण है—'श्वेतोधावति' यहाँ गुणवाची 'श्वेत' शब्द से उसके आश्रय रूप श्वेत अश्व रूप के अर्थ के करने में लक्षणा है। इस प्रकार अर्थ होता है—'श्वेतः अश्वः धावति' यह प्रयोग परम्परा से चला आ रहा है। इसलिए इस लक्षणा का कोई तात्कालिक प्रयोजन नहीं है। अतः यहाँ 'निरूढ़ा-लक्षणा' है। इसमें 'अश्व' के साथ श्वेत का भी ग्रहण होकर 'श्वेत गुणवान् अश्वः धावति'— ऐसा लक्ष्यार्थ बनता है।

मम्मट प्रभृति आचार्यों ने जिसे 'उपादानलक्षणा' कहा है, आशाधरभट्ट उसे ही 'अजहल्लक्षणा' शब्द से अभिहित करते है। यह लक्षणा 'समानाधिकरण विषया है, क्योंकि 'श्वेत' और 'अश्व' में समानाधिकरण सम्बन्ध है। दोनों का अधिकारण अर्थात् आश्रय एक ही 'अश्व' है। इस सन्दर्भ में आशाधरभट्ट ने अमरकोश का उद्धरण देते हुए बताया है—'शुक्लादि' शब्द जब गुण वाचक होते है तो उनमें पुल्लिङ्ग का प्रयोग होता है—

गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिंगास्तु तद्वति।
इत्यमरकोशोक्तेः''[५०]

५०. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरणम्, पृ० २४, १९५७ वाराणसी।

जब गुणवाचक शब्द 'मतुपर्थक' प्रत्यय होते हैं तो उन्हीं से गुणी का बोध होने लगता है—

गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्यते ।[५१]

कुछ लोग 'श्वेतो वर्णो अस्यास्तीति श्वेतः' में मतुप्' करके उसका लोप कर देते हैं और श्वेत शब्द व्युत्पन्न करते है । उनका कहना है कि यहाँ अस्ति के अर्थ में 'मतुप्' का प्रयोग हुआ है । ऐसी स्थिति में लक्षणा के लिए कोई अवकाश नहीं रहता है । 'मतुप्' प्रत्यय में 'लुक्' के विधान के लिए ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने 'गुणवचनेभ्योमतुपोलुगिष्यते' नामक सूत्र अपने समर्थन में उद्धृत किया है— ऐसी स्थिति में वह शब्द-शक्ति से ही अपने अभिप्रेत अर्थ का बोध कराता है । अतः लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं।

निरूढ़ा लक्षणा का दूसरा उदाहरण आशाधरभट्ट ने 'मञ्चाः क्रोशन्ति' दिया है । यहाँ 'मञ्च' पद की 'मञ्चस्थ-पुरुष' इस अर्थ में लक्षणा होती है । यह भी निरूढ़ा लक्षणा है, क्योंकि इसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं, अपितु लम्बे-चौड़े अभिप्राय को संक्षेप में कहने की लोक की प्रवृत्ति का परिणाम आज भी देखा जाता है—'रिक्शा' और स्कूटर' के लिए 'आ रहा है,' 'जा रहा है,' ठहरो, जाओ आदि क्रियाओं का प्रयोग बहुशः किया जाता है, जो उसमें अपने आप सम्भव नहीं है ।

इसी तरह से 'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादि 'स्थलों पर भी लक्षणा का प्रयोग किया गया है । यहाँ क्रमशः 'कुन्ताः शब्द से 'कुन्तधारिणः पुरुषाः' तथा यष्टयः से 'यष्टि धारिणः पुरुषा' लक्षित होते है । ये सब समाना-धिकरणविषया लक्षणा के ही उदाहरण बनते हैं ।

'द्रोणोव्रीहिः' भी लाक्षणिक प्रयोग ही है, जहाँ द्रोण और व्रीहि पदों में समानाधिकरण न होने से मुख्यार्थ का बाध होकर, 'द्रोणपरिच्छिन्न' अर्थ में लक्षणा होती है । 'द्रोण' धान या अनाज नापने के लिए एक प्रकार की 'टोकरी' को कहते हैं । यहाँ पर आशाधरभट्ट ने 'द्रोण' के परिमाण को वैयाकरणों के मत से लक्षणा के विषय होने का निदेध किया है तथा उसे अभिधा, का ही विषय माना है जो विभक्ति के अर्थ के रूप में ग्रहीत होता है । ग्रन्थकार का मत है कि 'सामान्य रूप से परिमाण शक्यार्थ हो सकता है', पर द्रोण रूप विशेष परिणाम तो लक्षणा से ही निकलता है :—

वस्तुतस्तु सामान्याकारेण परिमाणं शक्यार्थः; द्रोणरूप विशेषाकारेण लक्ष्यार्थ एव[५२] ।

---

५१. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणा प्रकरणम् पृ० २४

५२. वही.

इस प्रकार से त्रिवेणिकाकार आशाधरभट्ट ने वैयाकरणों के सिद्धान्त का खण्डन किया है।

द्रोणो व्रीहि भी पूर्ववत् 'निरूढ़ा लक्षणा' का उदाहरण है जो 'व्यधिकरण-विषया लक्षणा' की कोटि में आता है, क्योंकि 'द्रोण' और 'तदुपरिच्छिन्न व्रीहि'—दोनों का आश्रय एक नहीं है। '**सुरद्विषचान्द्रमुखी सुधैव**'[५३]—कालिदास की इस उक्ति में 'असुर' सामान्यवाचक '**सुरद्विष**' शब्द की लक्षणा 'राहुरूप' अर्थ में होती है, जो **निर्विशेष न सामान्यं विशेषा न तदुक्तित:** न्याय से सामान्य विशेष का ग्रहण-मूल लक्षणा से मानी गयी है।

निरूढ़ा जहल्लक्षणा का अन्य उदाहण है—'**गृहं समार्ष्टि**'। यहाँ 'गृह' पद से उसके एक देश में लक्षणा होती है जो परम्परा प्राप्त प्रयोग के आधार पर होने के कारण निरूढ़ा है एवं गृह के एक भाग के ग्रहण में एवं व्यापार भाग के परित्याग के कारण जहदजहदुभयात्मकलक्षणा का उदाहरण है। 'कुसुमितद्रुमम्' भी इसी प्रकार निरूढाजहदजहलक्षणा का उदाहरण है; क्योंकि 'कुसुम' द्रुम के किसी एक भाग में ही खिलते हैं। सोऽयं देवदत्तः भी **निरूढाजहद्‌जहल्लक्षणा** का उदाहण है, जहाँ पूर्व काल एवं उत्तरकाल 'तद् एवं 'इदं' शब्दों का परित्याग करके 'देवदत' मात्र में लक्षणा होती है। इसी प्रकार 'शिवोऽहं', सोऽहं, 'तत्वमसि इत्यादि वाक्यों में भी उक्त प्रकार से **जहदजहल्लक्षणा** ही होती है।

गौणी लक्षणा के विषय में आशाधरभट्ट ने कुछ विशेष बातें कही हैं। उनका कहना है कि 'परम्परा सम्बन्ध' से होने वाली गौणी लक्षणा में भी उपमान और उपमेय के धर्मों में अभेद का आरोप होने के अनन्तर, लक्षणा की प्रवृत्ति द्वितीय बार होती है। राजेन्द्र 'राजेन्दुः', नृसविता', 'नृसोमः' 'भुपालसिंहः', आदि स्थलों पर जहाँ उपमित समास होता है—ये सब 'व्यक्तोपमा समास' के उदाहरण हैं। समास में भिन्न प्रकार की ही शक्ति होती हैं।[५३] जैसे—पंकज शब्द की समास-शक्ति से ही 'शब्द्' एवं एवाकार अर्थ' का निर्वाह हो जाता है। ऐसा प्राचीन लोगों का मत है। यहाँ प्राचीन लोगों से तात्पर्य वैयाकरणों से ही अभीष्ट है।

यद्यपि 'सिद्धान्तकौमुदी' में 'इहपूर्वपदं' तद् सदृशे लाक्षणिकम्' ऐसा कहा गया है तथापि उससे लाक्षणिक सदृश अर्थ समझना चाहिए। उस अर्थ के आश्रयण से ही समास शक्ति की विवक्षा ही वहाँ अनुसंधेय है, अन्यथा वैयाकरणों के ही अपने सिद्धान्त का विरोध होने लगेगा। उदाहरणतः कालिदास के प्रयोग **उद्बाहुरिव वामनः** इत्यादि स्थलों में 'इव' शब्द सादृश्यवाचक' है। इस शब्द के 'सादृश्यवाचक' होने से तथा एक पर, एक-दूसरे के आरोप न होने से लक्षणा नहीं हो सकती। 'मुखचन्द्रः' इत्यादि समस्तरूपक के स्थलों में जहाँ मुख के ऊपर

---

५३. कालिदास : रघुवंशमहाकाव्य, द्वितीय सर्ग, श्लोक, ३९ उत्तरार्द्ध।

चन्द्रमा का आरोप होता है, वहाँ भी लक्षणा नहीं होती क्योंकि समास से उत्पन्न समुदाय शक्त से ही 'मुखचन्द्रः इसका अर्थ निकलने से मुख्यार्थ के बाध का अवसर नहीं होता। अतएव प्राचीन वैयाकरणों ने 'व्यस्त' उदाहरणों को ही प्रदर्शित किया है।

कोविदानन्द में निम्न

स्त्रीरत्नं गिरिजा सैषा रत्नं संसारवारिधेः।
निरूढ़ा गौण सारोपान्या च सादृश्य योगतः ॥[५४]

कारिका में भी 'स्त्रीरत्न गिरिजा' वाक्यांश व्यक्त उदाहरण के रूप में ही दिया गया हैं। इसी प्रकार अन्य वृत्तियों के लक्षणा में अभाव को समझना चाहिए। इन सब उपर्युक्त स्थलों में उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध और सादृश्य वही रहता है। इस सन्दर्भ में आशाधरभट्ट ने त्रिवेणिका में ही 'विद्यानाथ' की एक उक्ति को उदाहृत किया है—

अन्योन्यधर्मशालित्वं स्पस्टं सादृश्यमुच्यते।
तन्मूलमुपमादीनां हारादीनां हिरण्यवत् ॥[५५]

इस उक्ति में कहा गया है कि 'एक का दूसरे के धर्म से युक्त होना ही स्पष्ट रूप से सादृश्य कहा जाता है। वही सभी प्रकार की उपमाओं का मूल है। जिस प्रकार हारादि सभी प्रकार के आभूषणों का मूल 'हिरण्य' होता है। यहाँ पर स्पष्ट पद से देवदत्त और यज्ञदत्त में पशुत्व से रहित मनुष्यत्व एवं ब्राह्मणत्व आदि धर्मों से सादृश्य का ग्रहण होता है, क्योंकि स्पष्टता का परम्परा से यही अर्थ रूढ़ है। अन्य के धर्म की अन्य के धर्म से अभिन्नता का भिन्न शब्दों में प्रतिपादन ही सादृश्य है, जिसे दो अन्य पदार्थों का, समान धर्मों से युक्त होना ही सादृश्य कहा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न किया जा सकता है कि एक धर्म की प्राप्ति अन्यत्र असम्भव होने से एक-दूसरे के अभेद की बात कैसे सङ्गत होती है? उसका उत्तर आशाधर-भट्ट ने 'तापेन राजते सूरः शूरश्चापेनराजते।' कहकर दिया है। इस उदाहरण में 'सूर' और 'शूर' की शोभाओं में भेद होने पर भी सजातीय होने से अभेद का निरूपण किया गया है। रूपक आदि में अभेद का आरोप होने से अभिन्नता की प्रतीति हैं, इसी को वस्तुप्रति-वस्तु भाव भी कहते हैं। 'त्वमेककीर्तिमान् राजन्' इत्यादि स्थलों में कीर्तिमान एवं कान्तिमान के विजातीय होने पर भी दोनों में 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब' होने से अभेद के प्रतीति की योग्यता है। इसीलिए उपर्युक्त सादृश्य के लक्षण में अभिन्न पद से अभेद प्रतीति की योग्यता का होना ही विवक्षित है।

"सारोपा' के गुणमात्र में 'लक्षणा होकर ही 'गुणी' का ग्रहण तो शक्ति अर्थात् अभिधा से हो जाता है। 'साध्यवसाना लक्षणा' में गुण और गुणी दोनों

---

५४. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द लक्षणा निरूपणम् का० १४
५५. विद्यानन्द : एकावली

का ग्रहण 'लक्षणा' के द्वारा होता है, क्योंकि यहाँ विषय का गोपन कर दिया गया होता है, जो नहीं है। अपनी इच्छा से ही उसे समझना आरोप है अर्थात् दोनों को भिन्न-भिन्न जानकर भी अभिन्न कहना आरोप कहलाता है। जैसे गोर्वाहीक। जान-बूझकर विषयी के द्वारा विषय का ग्रहण करने के लिए केवल उसी का उपादान करना—'अध्यवसान' कहलाता है। भट्ट जी का कहना है कि श्रीधर स्वामी ने लक्षणा से 'गौणी' को भिन्न करते हुए एक स्वतन्त्र वृत्ति ही माना है—

श्रीधरस्वामिना गौणी वृत्तिभिन्नै इत्युक्तम्।

(ङ) अभिधा एवं लक्षणा में रूढ़ि का स्थान

शब्द-शक्ति विवेचन के प्रसङ्ग में शब्दों की रूढ़िता का निरूपण व्याकरण, दर्शन तथा साहित्य सर्वत्र उपलब्ध होता है। यह रूढ़िता 'शब्द' के साथ ही सम्बन्धित है, क्योंकि शब्द ही रूढ़ होते हैं। आशाधरभट्ट ने अभिधा और लक्षणा दोनों के भेदों का विवेचन करते हुए 'रूढ़ि' नामक भेद का निरूपण किया है।

भट्ट जी अभिधा के तीन भेदों का विवेचन करते हुए कहते है कि वह (अभिधा) योग, रूढ़ि, और योगरूढ़ि नामक तीन प्रकार की होती है। योग और रूढ़ि का विवेचन आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द और त्रिवेणिका दोनों में किया है। वे कोविदानन्द में कहते हैं कि जहां शब्द का खण्डन करके अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ योग-शक्ति है। इसके विपरीत जहाँ अर्थ की प्रतीति शब्द से अखण्ड रूप में होती हो, उसे 'रूढ़ि' कहते हैं।

अखण्डशब्दे सारूढिर्योगः खण्डन कल्पिते[५६]

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ पर शब्द से अर्थ की प्रतीति प्रकृति प्रत्यय का विभाग कर व्याकरण के आधार पर होती है, उसे 'योगशक्ति' कहते हैं, जहाँ पर प्रकृति-प्रत्यय-विभाग सम्भव न हो, अपितु शब्द से उसके संकेतित अर्थ की प्रतीति उसके अखण्ड रूप से होती है, उसे 'रूढ़ि' कहते हैं।

त्रिवेणिका में तो रूढ़ि का विवेचन अन्य प्रकार से किया गया है—

संकेतप्रसिद्धिप्राधान्यारूढिः[५७]

अर्थात् अभिधा का वह प्रकार जहाँ शब्द से अर्थ की प्रतीति प्रसिद्धि के आधार पर होती है अर्थात् शब्द उक्त अर्थ में निरन्तर प्रयुक्त होने से सुतरां प्रसिद्ध होता है—उसे रूढ़ि कहते हैं। जैसे—डित्थ, कपित्थ आदि शब्द हैं। जो किसी व्यक्ति के नाम है तथा उसको प्रसिद्धि के आधार पर ही प्रकट करते है, व्युत्पत्ति के आधार पर नहीं, आशाधरभट्ट का कहना है कि निरुक्त के सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि

---

५६. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपणम्, का० ४७ उत्तरार्द्ध।

५७. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरणम्, पृ० ५, १९२५, वाराणसी।

सभी शब्द आख्यातज अर्थात् किया जन्य हैं अतः उनकी व्युत्पत्ति सम्भव है। तथापि ऐसे बहुत से शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति की जा सकती है, पर वे अपने व्युत्पतिलभ्य अर्थ को प्रगट नहीं करते अपितु प्रयोग के आधार पर एक निश्चित अर्थ की प्रतीति कराते हैं। उदाहरण के स्वरूप गौ गङ्गा दोनों की एक ही व्युत्पत्ति 'गच्छतीति गौ, गच्छतीति गङ्गा' है तथा पिता, पति और पुमान् तीनों की व्युत्पत्ति 'पातीति' एक ही है, पर ये तीनों शब्द अलग-अलग अर्थों में रूढ़ हैं। इस प्रकार वे शब्द जिनकी व्युत्पत्ति संभव या संभव नहीं है—अखण्ड रूप से बिना किसी व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ का बोध कराते हैं, वे रूढ़ कहे जाते हैं। वे अपने अर्थ में (व्यवहार) प्रयोग के आधार पर संकेतित होते हैं।

जहाँ तक लक्षणा का प्रश्न है, अन्य आचार्यों की भाँति आशाधरभट्ट ने भी लक्षणा के निरूढ़ा और फलवती दो मौलिक भेद किए हैं। तथा बताया है कि शक्ति अर्थात् अभिधा के समान जो लक्षणा कोश आदि के अनुसार प्रसिद्ध अर्थ पर आधारित होती है, उसे 'निरूढ़ा' कहते हैं—

शक्तिवत कोशादौ प्रसिद्धानिरूढ़ा[५८]

इसे अनादि लक्षणा भी कहा है। तथा अभिधा से इसके भेद का विवेचन करते हुए लिखा है कि 'इयं मुख्यार्थ बाधे प्रवर्ततेति शक्यतो विशेषः'—जिसका अभिप्राय यह है कि 'रूढ़ि अभिधा' से 'रूढ़ि लक्षणा' के भेद का आधार मुख्यार्थ का वाध है, जहाँ पर शब्द के मुख्य अर्थात् अभिधेय का (अभिधा प्रतिपादित अर्थ) बाध होकर अर्थान्तर की प्रतीति हो वहीं लक्षणा होती है।

कोविदानन्द की कादम्बिनी टीका में इसका विवेचन करते हुए आशाधरभट्ट ने कहा है कि रूढ़ि, अभिधा एवं निरूढ़ा लक्षणा के भेद का आधार क्या है? प्रश्न यह है कि जिस निरूढ़ा लक्षणा को 'अनादि सिद्ध' की संज्ञा दी गई है, उसका और अभिधा के भेद का आधार क्या है? क्योंकि जिस अर्थ की प्रतीति लक्षणा से होती है, वह कोश आदि से ज्ञात ही होता है। अतः संकेतित होने से यह प्रतीति अभिधा द्वारा ही क्यों नहीं मानी जाती?

ननु तस्याः शक्तिः किं वैलक्षण्यं मतं कोशादिष्वपि निरूढशक्तिनिवेशो दृश्यत इति।[५९]

इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि **कृतप्रतिष्ठम्** इत्यादि वैदिक प्रयोगों में कोष के अनुसार हृष् शब्द का अर्थ 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' के अनुसार 'मन' होता

---

५८. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकारणम्, पृ० १२, १९२५ वाराणसी।
५९. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, बक्षणानिरूपणम्, का० ७ वृत्ति।

है जो शरीर का एक अवयव है, किन्तु वह किसी का आधार नहीं बन सकता। वह आधार इसलिए नहीं बन सकता है क्योंकि उसमें आधार बनने की योग्यता नहीं हैं। इस प्रकार 'मन' के अर्थ में 'हृद्' शब्द के मुख्य अर्थ का, प्रस्तुत वैदिक वाक्य के अर्थ के प्रसङ्ग में बाध होने से यहाँ लक्षणा होती है। इस लक्षणा का चूँकि कोई प्रयोजन नहीं होता इसलिए वह फलवती नहीं कहीं जा सकती है।

यहाँ पर शब्द का जो मुख्य अर्थ है वह प्रसिद्ध नहीं है। वहाँ 'शक्ति' ही है। अर्थात् किसी ऐसे शब्द का प्रयोग, जो कोश आदि के आधार पर किसी अर्थ विशेष में रूढ़ है, इस प्रकार किया जाय कि उस रूढ़ अर्थ के साथ उसकी सङ्गति न बनती हो, उस सङ्गति को बनाने के लिए अर्थान्तर की कल्पना करनी पड़ती हो तो उसे 'निरूढ़ा लक्षणा कहते हैं—

चेत् उच्यते—स्वान्तं हृन्मानसं मनः इत्यादौ शरीरावयवरूप मुख्यार्थ-बाधात् हृत्प्रतिष्ठम्' इति श्रुत्युक्ताधाराधेयभावादि सम्बन्धाश्च वैलक्षण्यमिति द्रष्टव्यम्। यस्य तु स्वान्तादिशब्दस्य मुख्योऽर्थो न प्रसिद्धस्तत्र तु शक्तिरेवेति दिक्।[६०]

त्रिवेणिका में 'काव्यप्रदीप' का उल्लेख करते हुए इन्होंने कहा है कि निरूढ़ा लक्षणा, वस्तुतः अभिधा के समान ही होती है, अतः उससे प्रतीत होने वाला जो लक्ष्यार्थ है, उसे वाच्य की तरह ग्रहण कर लिया जाता है—

निरूढ़लक्षणायाः शक्तितुल्यत्वाद्वाच्यमित्युक्तम्। काव्यप्रदीपेयन्नामा यत्र चैत्यादिविषयोऽपि स ताहशः।[६१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आशाधरभट्ट ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने रूढ़ि, शक्ति एवं निरूढ़ा नामक लक्षणा के भेदों का निरूपण किया है, जो बहुत ही सूक्ष्म है।

च. लक्षणा की सीमा

मुकुलभट्ट प्रभृति लक्षणावादी आचार्यों ने वाच्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ किसी भी अर्थ की प्रतीति लक्षणा से मानी है, क्योंकि अर्थ की प्रतीति के दो ही आधार बनते हैं, पहला विशुद्ध शब्द दूसरा अर्थ की सहायता से शब्द। जहाँ विशुद्ध शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है, वहाँ अभिधा काम करती है, किन्तु शब्द से अर्थान्तर की जहाँ भी प्रतीति होती है, वहाँ शब्द के साथ अर्थ का योग अनिवार्य होता है। यही व्यापार की लक्ष्यमाणता है—

---

६०. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरणम्, पृ० २०, १९५७।

६१. वही, पृ० १३, १९२५ वाराणसी

अर्थाविसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमिष्यते ।[६२]

इस प्रकार मात्र वाच्यार्थ की प्रतीति जहाँ अभिधा का विषय है, अथवा संकेत की सहायता से विशुद्ध रूप से शब्द के द्वारा अर्थ की प्रतीति ही अभिधा की सीमा है, वहाँ वाच्यार्थ के योग से शब्द के द्वारा वाच्यव्यतिरिक्त अर्थ की प्रतीति लक्षणा की सीमा है ।

आनन्दवर्धन ने अर्थानन्तर की प्रतीति को भी दो प्रकार से अभिव्यक्त किया है, शब्द के द्वारा अपने वाच्यार्थ के अतिरिक्त तथा वाच्यार्थ के द्वारा स्वयं उसके अतिरिक्त । अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ में निहित हो जाने पर संयोग-विप्रयोग आदि के द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ के बिना बाधित किए ही होती है, वह विशुद्ध रूप से व्यंग्यार्थ होता है, किन्तु वाच्यार्थ जब अर्थान्तर की प्रतीति कराता है तो बिना बाधित हुए नहीं करा सकता । यही लक्षणा का स्थल है ।

महिमभट्ट आदि अनुमितिवादी आचार्यों ने शब्द से निर्बाध होने वाली अर्थ की प्रतीति केवल अभिधा से मानी है । इसलिए वे शब्द की मात्र एक ही शक्ति 'अभिधा' को मानते हैं । उनके मतानुसार अर्थान्तर की प्रतीति शब्द से न होकर उसके वाच्यार्थ से ही हीती है, वह वाच्यार्थ ही अर्थान्तर का हेतु होता है, चाहे वह बाधित होकर हो, चाहे निर्बाध । अतः अर्थान्तर न लक्ष्य होता है, न व्यंग्य अपितु अनुमेय । वाच्य तो वह इसलिए नहीं होता कि उसकी प्रतीति अभिधा से नहीं होती । ऐसी स्थिति में उनके लिए लक्षणा या व्यञ्जना कोई भी शब्दशक्ति की सीमा में नहीं आती ,

आचार्य मम्मट ने लक्षणा के द्वारा निखिल अर्थान्तर की प्रतीति के मत का निराकरण किया है । इस सम्बन्ध में इन्होंने उसकी दो सीमाओं का संकेत दिया है, जिनमें पहली सीमा है—वाच्यार्थ । जहाँ वाच्यार्थ नहीं होगा, वहाँ लक्षणा नहीं हो सकती तथा वाच्यार्थ से सम्बन्धित ही किसी अर्थ में लक्षणा होती है । वाच्यार्थ से सर्वथा असम्बद्ध अर्थ में लक्षणा नहीं हो सकती । उसकी दूसरी सीमा है—रूढ़ि या प्रयोजन । इनमें से किसी एक के अभाव में भी लक्षणा के लिए कोई अवकाश नहीं है । इसीलिए उन्होंने उसे 'अभिधापुच्छभूता' कहा है ।

आशाधरभट्ट इस सम्बन्ध में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के संबंध को ही लक्षणा की सीमा मानने वाले तार्किकों के मत का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

शक्यलक्ष्यार्थ संबंधं लक्षणां तार्किकाः विदुः

---

६२. मुकुलभट्ट : अभिधावृत्तिमातृका, का० १ उत्तरार्द्ध ।

अर्थात् सम्बन्ध को ही यदि भक्ति की सीमा मान लिया जाय तो उसे शब्द वृत्ति नहीं कहा जा सकता। इसीलिए उसे कुछ लोग वाच्यार्थ से अन्वयार्थ के संबंध का सहायक मानते हैं।

आशाधरभट्ट का अपना पक्ष यह है कि 'भक्ति' अर्थात् लक्षणा का आश्रय वाच्यार्थ ही हैं किन्तु शब्द द्वारा अर्थात् शब्द के द्वारा अर्थ पर आश्रित वृत्ति ही लक्षणा है—

सम्बन्ध एव भक्तिश्चेच्छब्दवृत्तिर्न सा भवेत्[६३]

इसका अभिप्राय यह है कि आशाधरभट्ट भी लक्षणा की सीमा 'अभिधा का योग' ही मानते हैं। अधिभा से सर्वथा स्वतन्त्र होकर लक्षणा किसी भी अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकती।

---

६३. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, लक्षणानिरूपणम्, का० ६, पूर्वार्द्ध।

पञ्चम अध्याय

व्यञ्जना

(क) व्यञ्जनावृत्ति का उद्भव एवं विकास

भारतीय वाङ्मय में शब्द से अर्थ के प्रत्यायन के प्रसङ्ग में अभिधा और लक्षणा नामक दो व्यापारों का ज्ञान एवं उनकी मान्यता प्रायः सभी विधाओं में समान रूप से रही हैं।

किसी भी शब्द से या तो उसके द्वारा संकेतित अर्थ की प्रतीति होती है, जिसे अभिधेय या वाच्य कहते हैं अथवा संकेतित अर्थ के बाधित होने पर उससे संबंधित किसी अन्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा के द्वारा करायी जाती है, जिसे लक्ष्य कहते है। शब्द से प्रतीत होने वाले समस्त अर्थ इन्हीं दो के भीतर समाहित हो जाते हैं, किन्तु संस्कृत साहित्यशास्त्र के अप्रतिम आचार्य आनन्दवर्धन ने इन दोनों प्रकार के अर्थों से व्यतिरिक्त एक ऐसे अर्थ की भी सम्भावना प्रगट की जो उसको व्यक्त करने वाले शब्द से संकेतित न होने के कारण न तो 'अभिधेय' अर्थात् 'वाच्य' कोटि में रखे जा सकते हैं, न ही उसकी प्रतीति संकेतित अर्थ के बाधित होने से उससे संबंधित किसी अन्य अर्थ अर्थात् लक्ष्यार्थ के रूप में ही होती है, अपितु उसकी प्रतीति मात्र प्रकरण पर्यालोचन से उसी शब्द के द्वारा होती है। उस अर्थ को व्यंग्य अर्थात् 'प्रतीयमान्' ही कहा जा सकता है, 'वाच्य' या 'लक्ष्य' नहीं। प्रतीयमान उस अर्थ की प्रतीति के लिए अभिधा या लक्षणा नामक पूर्व प्रसिद्ध वृत्तियों से संभावित न होने से, एक तीसरी वृत्ति व्यञ्जना का मानना अनिवार्य हो जाता है।

प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति उन स्थलों पर स्पष्टतः होती है, जहाँ वाच्यार्थ तो विधि रूप है, पर व्यंग्यार्थ निषेधरूप अथवा वाच्यार्थ निषेधरूप है और व्यंग्यार्थ विधि रूप अथवा वाच्यार्थ विधि या निषेध रूप तो व्यंग्यार्थ अनुभयरूप अर्थात् न विधि, न निषेध। इसी प्रकार देश, काल एवं व्यक्ति भेद से प्रतीयमान अर्थ एक ही वाक्य के भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते।

आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ की तुलना नायिका के 'लावण्य' से की है जो वाच्य एवं लक्ष्य अर्थ से उसी प्रकार सर्वथा भिन्न होता है, जिस प्रकार नायिका का सौन्दर्य उसके मुख, नासिका, कपोल, चक्षु आदि प्रसिद्ध अंगों से सर्वथा पृथक् एक अन्य ही वस्तु होता है—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥[1]

आनन्दवर्धन को व्यञ्जना नामक व्यापार की प्रेरणा वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त से मिली है। उनका कहना है कि भर्तृहरि ने स्फोट-सिद्धान्त के प्रसङ्ग में यह बताया है कि शब्द दो प्रकार का होता है—श्रोतृ-ग्राह्य और बुद्धिग्राह्य। घट-पटादि जिन शब्दों का हम अहर्निश प्रयोग करते हैं—ये श्रोतृ-ग्राह्य शब्द है पर इनके उच्चारण मात्र से हमें अर्थ की प्रतीति नहीं होती यदि स्फोट रूप शब्द से पहले गृहीत न हों। नित्य प्रयुज्यमान श्रोतृग्राह्य शब्द की संज्ञा ध्वनि है तथा बुद्धिग्राह्य शब्द को 'स्फोट' कहते हैं। 'स्फोट' ध्वनि से ही व्यंजित होता है। दोनों में व्यंग्य-व्यञ्जक भाव है।[2]

द्वा कुपादान शब्देषु शब्दौ शब्द विदो विदुः ।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ॥"

प्रतीयमान, इस अर्थ के अभिधा, लक्षणा अथवा अनुमान के द्वारा ग्राह्य होने का निषेध आनन्दवर्धन ने अपनी विश्रुत कृति 'ध्वन्यालोक' में पदे-पदे किया है। उनका कहना है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति वैसे तो लौकिक अभिव्यक्तियों में सर्वत्र होती है, तथापि इसका उत्कर्ष महाकवियों की वाणी में ही पाया जाता है।

रामायण से लेकर वर्तमान काल तक के कवियों की कृतियों' में 'प्रतीयमान अर्थ के उल्लास का निरूपण उन्होंने उदाहरण देकर किए हैं। काव्य में प्रतीयमान अर्थ वस्तु, अलङ्कार और रस तीनों रूपों में उपलब्ध होता हैं—जिसे ये ध्वनि की संज्ञा देते हैं तथा सामान्य रूप से प्रतीयमान अर्थ को ही वे महाकवियों की अभिव्यक्तियों में पाई जाने वाली मुख्य 'भूषा' कहते हैं—

मुख्या महाकवि गिरामलं कृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषालज्जेव योषिताम् ॥

जिस प्रकार नारी की मुख्य 'भूषा' अर्थात् अलङ्कार उसमें सहज रूप से पाई जाने वाली 'लज्जा' है उसी प्रकार कवियों की वाणी अर्थात् काव्य की मुख भूषा है—प्रतीयमानता। इसी प्रतीयमानता को उन्होंने ध्वनि के नाम से काव्य की आत्मा कहा है—**काव्यस्यात्मा ध्वनिः।**

आनन्दवर्धन के काल से ही उनके द्वारा उद्भावित व्यञ्जना नामक नयी वृत्ति के विरुद्ध हर ओर से आक्रमण हुए। मुकुलभट्ट प्रभृति मीमांसकों ने 'व्यञ्जना' का अन्तर्भाव लक्षणा में ही साधित करने का प्रयास अपनी कृति **अभिधावृत्तिमातृका** में किया है। कुमारिल भट्टानुयायी मीमांसकों ने तात्पर्य वृत्ति

---

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, का० ।
२. भर्तृहरि : वाक्यपदीय, का० १।४

में ही व्यञ्जना को अन्तर्भूत माना तो **दीर्घ-दीर्घतर अभिधाव्यापारवादी** मीमांसकों ने अभिधा में ही 'व्यञ्जना' की भी गतार्थता प्रदर्शित की। सहृदयदर्पण नामक ग्रन्थ के उपलब्ध उद्धरणों से ज्ञात होता है कि भट्टनायक भी अभिधा में ही 'व्यञ्जना' की गतार्थता स्वीकार करते थे। महिमभट्ट ने तार्किकों का पक्ष लेकर अपनी विलक्षण कृति व्यक्तिविवेक में यह सिद्ध ही कर दिया है कि 'व्यञ्जना' अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन के द्वारा उद्भावित नयी वृत्ति 'व्यञ्जना' का कहीं अभिधा में, कहीं लक्षणा में, कहीं तात्पर्यवृत्ति में तो कहीं अनुमान में, अन्तर्भाव प्रदर्शित किया गया है, जिनका खण्डन अभिनवगुप्त ने अपनो टीका 'लोचन' में किया है। अभिनवगुप्त ने व्यञ्जना को स्वीकार करते हुए काव्य के लिए इसी वृत्ति को सर्वातिशायिनी बताया है।

व्यञ्जना की सिद्धि के प्रसंग में साहित्यशास्त्र के धुरंधर आचार्य मम्मट की भूमिका सर्वातिशायिनी है, क्योंकि इन्होंने अपनी महनीय कृति 'काव्यप्रकाश' का प्रायः एक पूर्ण पंचम उल्लास व्यञ्जना की सिद्धि में ही नियोजित किया है। मम्मट ने व्यञ्जना के विपरीत सारी सम्भावनाओं का पूर्व पक्ष के रूप में निरूपण कर उनका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करते हुए निराकरण किया है। तबसे व्यञ्जना को पूर्ण प्रतिष्ठापित सिद्धान्त के रूप में न केवल काव्यशास्त्र में, अपितु व्याकरण प्रभृति अन्य शास्त्रों में भी स्वीकार कर लिया गया है। आचार्य विश्वनाथ एवं पं० राज जगन्नाथ प्रभृति आचार्यों की कृतियों में उसका प्रायः पिष्ट-पेषण ही हुआ।

मम्मट के बाद इस प्रसङ्ग में कुछ मौलिक उद्भावनाएं यदि किसी ने की हैं तो वे आशाधरभट्ट ही है कि जिन्होंने अपनी दोनों कृतियों—**कोविदानन्द** एवं **त्रिवेणिका** में इसका निरूपण स्वतन्त्र रूप से एक-एक प्रकरण में किया है।

(ख) व्यञ्जना का लक्षण

आशाधरभट्ट ने शक्ति एवं भक्ति के नाम से अभिधा एवं लक्षणा का विवेचन करने के अनन्तर व्यक्ति के नाम से व्यञ्जना नामक 'वृत्ति' का विवेचन शब्दशक्तिविषयक अपनी दोनों कृतियों—**कोविदानन्द** एवं **त्रिवेणिका** के तृतीय प्रकरणों में किया है।

व्यञ्जना की परिभाषा करते हुए कोविदानन्द में कहा है।

संकेतशक्य सम्बन्ध विभिन्न सहकारिणी।
वाच्यलक्ष्यातिरिक्तार्थधी हेतुर्वृतिरञ्जना ॥[3]

३. आशाधरभट्ट, कोविदानन्द, व्यंजनानिरूपण। का०।

व्यञ्जना एक वृत्ति है, जो न तो अभिधा की तरह संकेत की सहायता से, न ही लक्षणा की तरह शक्य सम्बन्ध की सहायता से, अपितु इन दोनों से सर्वथा भिन्न, प्रकरण-पर्यालोचन के द्वारा वाच्य एवं लक्ष्य से सर्वथा भिन्न व्यंग्य अर्थ की प्रतीति कराती है। इसका अभिप्राय यह है कि शक्ति प्रतिपाद्य वाच्य एवं भक्ति प्रतिपाद्य लक्ष्य से व्यतिरिक्त व्यंग्य अर्थ के बोध का कारण जो वृत्ति है, उसी का नाम व्यञ्जना है। इसी बात को कादम्बिनी टीका में स्पष्ट करते हुए कहा है—

संकेतशक्यसम्बन्धाभ्यामधिलक्षणसहकारिभ्यां विभिन्ना अतिरिक्ताः वक्ष्यमाणरूपाः सहकारिणो यस्याः सा। किञ्च, वाच्यलक्ष्याभ्यां शक्तिभक्ति प्रतिपाद्याभ्यामितिरिक्तस्य व्तंग्यार्थस्य हेतुः बोधकारणम् अञ्जना, व्यञ्जना।[४]

अपनी दूसरी कृति त्रिवेणिका में भी इन्होंने व्यञ्जना का लक्षण करते हुए संक्षेप में उसी बात को दुहराया है।

शक्यलक्ष्यार्थतिरिक्तार्थं बोधिकावृतिर्व्यञ्जना।[५]

आशाधरभट्ट के द्वारा कृत व्यञ्जना वृत्ति के दोनों लक्षणों का अनुशीलन करने से व्यञ्जना के स्वरूप के विषय में दो बातें स्पष्ट रूप से सामने आती हैं—

१. व्यञ्जना एक स्वतन्त्र वृत्ति है, क्योंकि यह जिस अर्थ का प्रत्यायन करती करती है, वह अभिधा के प्रतिपाद्य वाच्य तथा लक्षणा के प्रतिपाद्य लक्ष्य से सर्वथा भिन्न, व्यंग्य होता है।

२. इसके अर्थप्रत्यायन का सहायक तत्त्व न तो संकेतग्रह होता है न ही मुख्यार्थसम्बन्ध। अपितु इन दोनों से व्यतिरिक्त प्रकरण-पर्यालोचन एवं विदग्धबुद्धि ही होता है।

अब तक किए गए व्यञ्जना के लक्षणों पर आचार्यों द्वारा अभिधा एवं लक्षणा के विरत हो जाने पर अर्थान्तर की प्रतीति कराने वाले व्यापार पर ही बल दिया गया था। आशाधरभट्ट ने उक्त प्रकार से व्यञ्जना की व्यतिरिक्तता या स्वतन्त्र शक्तिता उसके लक्षण में समावेश कर जो विवेचन किया है, वह मात्र पिष्ट-पोषण न होकर व्यञ्जनावृत्ति के स्वतन्त्र स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसकी मान्यता के औचित्य को प्रगट करता है, क्योंकि दो वस्तुओं या विषयों में भेद होने का आधार फलभेद और कारण भेद ही माना गया है—

अयमेव हि भेदोपभेदहेतुर्वा यत् विरुद्ध धर्माध्यायः कारण भेदश्च।[६]

---

४. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द : व्यञ्जना निरूपणम् का० १ वृत्ति।

५. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, व्यञ्जनाप्रकरण, पृ० ३३, १९५७

६. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, व्यञ्जनानिरूपण, का० १ वृत्ति।

(ग) व्यञ्जना के आधायक तत्व

व्यञ्जना के आधायक तत्वों से मेरा अभिप्राय उन तत्वों से है, जिनके योग से व्यञ्जनावृत्ति काम करती है। अभिधा और लक्षणा के प्रसंग में भी यह बात स्पष्ट है कि कोई भी वृत्ति अर्थ के प्रत्यायन में तभी समर्थ होती है, जब उसके सहकारी अर्थात् सहायक तत्व विद्यमान होते हैं। संकेत के बिना जिस प्रकार अभिधा पंगु है तथा मुख्यार्थ बाध आदि न होने पर जिस प्रकार लक्षणा अर्थ को प्रतीति नहीं करा पाती, ठीक उसी प्रकार व्यञ्जना भी कुछ ऐसे तत्वों पर निर्भर करती है, जिनकी सहायता के बिना वह व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने में समर्थ नहीं होती, उन्हीं सहकारी तत्वों को यहाँ **आधायक तत्व** कहा गया है।

मम्मट प्रभृति आचार्यों ने व्यञ्जना के सहकारी के रूप में प्रकरण-पर्यालोचन की बात पदे-पदे कही है, किन्तु वह इतना अस्पष्ट है कि उसका तत्व के रूप में निरूपण नहीं किया जा सकता।

शाब्दी व्यञ्जना के प्रसङ्ग में अनेकार्थक शब्द तथा आर्थी व्यञ्जना के प्रसंग में वक्तृबोधव्य आदि का वैशिष्ट्य अवश्य ही अर्थान्तर की प्रतीति का साधन होता है। आशाधरभट्ट ने इन्हीं सब को जुटाकर व्यञ्जना के आधायक तत्वों का, उसी सरणि पर निरूपण किया है, जिस प्रकार अभिधा और लक्षणा के प्रसंग में किया जाता रहा है।

शब्द शक्ति विषयक अपनी प्रथम कृति **कोविदानन्द** में व्यञ्जना का निरूपण करते हुए इन्होंने कहा है कि व्यञ्जना के आश्रय, शब्द और अर्थ दोनों हैं। उनका कहना है कि वायव्यादि अस्त्र के रूप में अभिमन्त्रित बाण जिस प्रकार वर्म-छेदन, लक्ष्यभेदन एवं **प्राणहरण** में प्रवृत्त होता है, उसीप्रकार व्यञ्जनावृत्ति भी। व्यञ्जना, यद्यपि शब्दगत ही होती है, तथापि वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य नामक तीनों प्रकारों के अर्थों का आश्रयण कर भी प्रवृत्त होती है—

अस्त्रमंत्रितबाणस्य वृतिवद् विविधार्थकृत्।
एषा शब्दगतैवार्थानाश्रित्यापि प्रवर्तते॥[७]

व्यञ्जना-व्यापार के मुख्य कारण, शब्द तथा अर्थ दोनों होते हैं तथा वक्तृ-बोधव्य आदि वैशिष्ट्य उसके सहकारी कारण होते हैं। इस प्रकार व्यञ्जनावृत्ति के आधायक तत्वों में वर्ण, पद, पदांश तथा वाक्य के रूप में शब्द एवं व्यंग्य रूप अर्थप्रधान हैं—

वर्ण पदं तदशं च वाक्यबन्धं च संश्रिता।
प्राधान्याद् व्यञ्जावृत्तिः शब्दधर्मोऽर्थगापि सा।[८]

---

७. वही, का० २

८. वही, का० ४

व्यञ्जना के गौण आधायक तत्त्व है—देश, काल, प्रकरण, वक्ता, वाक्य, अभिधेय, शब्द-सान्निध्य तथा काकु। कारिका निम्न है :—

देशकालप्रकरणवक्तृवाक्याभिधेयकाः ।
सान्निध्यकाकुबोधव्या व्यंजनासहकारिणः ॥[६]

इस प्रकार व्यञ्जना के मुख्य आधायक तत्त्व तीन है—शब्द, अर्थ एवं शब्दार्थोभय। इन्हीं को आधार बनाकर शब्दशक्तिमूला, अर्थशक्तिमूला एवं उभय-शक्तिमूला नामक व्यञ्जना के तीन भेद होते हैं।

व्यञ्जना के प्रसंग में शब्द के भी पांच रूप—वर्ण, पद, पदांश, वाक्य और प्रबन्ध इसके सहायक होते हैं। 'अर्थ' नामक तत्त्व के तीन प्रकार होते हैं—वाच्यार्थ, **लक्ष्यार्थ** एवं **व्यंग्यार्थ**।

व्यञ्जना के गौण आधायक तत्त्व नौ होते हैं—देश, वल, प्रकरण, वक्तृ, वाक्य, अभिधेयक, सान्निध्य, काकु, और बोधव्य।

ग्रन्थकार ने इन्हें स्वरचित पद्यों से उदाहृत भी किया है। पहले तीन पद्यों से शब्द शक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल तथा उभयशक्तिमूल नामक मुख्य आधायक तत्त्वों को उदाहृत किया हैं। अनन्तर गौण तत्त्वों को।

१. शब्द शक्ति मूल का उदाहरण है—

पंचाननो विजयते हिमवद् भूविहारकृत् ।

हिमालय की पुत्री पार्वती के साथ कैलास पर विहार करने वाले भगवान् शिव सबसे बढ़कर हैं। इस पद्यांश में शिव की वन्दना की गई है। अतः प्राकरणिक होने के कारण यही अर्थ व वाच्य है : किन्तु 'पञ्चानन' और '**हिमवत् भू विहारकृत शब्दों** के श्लिष्ट होने से श्लेष द्वारा यह अर्थ व्यंग्य होता है कि हिमालय की तराई में स्वतन्त्र विचरण करता हुआ सिंह विराजमान हैं। यहाँ पर 'सिंह परक' अर्थ अप्रकृत होने के कारण व्यंग्य है तथा शिव और सिंह में उपमानोपमेयभाव व्यंग्य ही है, जो मात्र शाब्दिक है।

२. अर्थशक्तिमूल आधायक तत्व का उदाहरण है—

शिवप्रासादशिखरे सानन्दान् पश्यपक्षिणः ।

देखो, शिवालय के शिखर पर पक्षी कितने आनन्द से विराजमान हैं। इससे पक्षियों में डर का अभाव व्यंजित होता है, तथा उससे भी जनसंचाररहित यह स्थल है। इस अर्थ की प्रतीति होती है। यह प्रतीति अर्थ विशेष के द्वारा ही होती है।

३. उभयगत आधायक तत्त्व का उदाहरण है—

भातिभूति कृतच्छायः प्रभुः सर्व प्रियङ्करः ।

---

६. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द : व्यञ्जना निरूपणम् का० ५

अङ्गों में भस्म रमाए सभी का कल्याण करने वाले भगवान् शिव कितने अच्छे लग रहे हैं। इस पद्यांश में 'भूतिकृतच्छाय: में शब्द तथा 'सर्वप्रयङ्कर' में अर्थ से भगवान् शिव की सर्वसिद्धि कारिकता तथा **जनकल्याणकारिका**' का बोध होता है। यदि यहाँ पूर्वत्र शब्द का परिवर्तन सत्य नहीं होने के कारण शब्द ही व्यंग्यार्थ का आधायक है तो उतरत्र मात्र वाच्यार्थं। इस प्रकार यह शब्दार्थोभयात्मक मुख्य आधायक तत्त्व का उदाहरण है। व्यञ्जना के प्रधान आधायक तत्वों के सोदाहरण निरूपण के पश्चाद् पूर्वोक्त नौ गौण आधायक तत्त्वों का सोदाहरण निरूपण किया जा रहा है। जो देश, काल प्रकरण, वक्ता, अभिधेय, सान्निध्य, काकु और बोधव्य हैं।

१. देश :—

देश नामक व्यञ्जना के प्रथम गौण आधायक तत्व का उदाहरण—

रेवावारीशलिंगानि पुष्पिताः यत्र पादपाः।

धन्यः सह देश...................... ॥[१०]

है, जिसका भाव यह हैं कि रेवा नदी का जलप्रवाह, भगवान शिव का ज्योतिर्लिङ्ग एवं (पुष्पित पौधे) पुष्पनान् पौधे—ये तीनों जिस देश विशेष में है, वह देश धन्य है। यह अभिधेयार्थ या वाच्यार्थ है।। यहाँ व्यंग्यार्थ यह है कि रेवा नामक नदी के तट पर सहज रूप से पुष्पवान् पौधों के उपलभ्यमान होने से, एवं जलप्रवाह के सन्निकट ही शिवमूर्ति के स्थित होने से 'शिव' की आराधना सुलभ है। उक्त व्यंग्यार्थ की प्रतीति का आधायक पद्यांश में प्रतिपादित 'देशविशेष' की धन्यता है। इसीलिए यह देशवैशिष्ट्य का उदाहरण है। साथ ही वक्ता की शिव-भक्ति भी व्यञ्जित होती है।

रेवेति। देशस्य धन्यत्वाभिधानात् पूजोपयोगिवस्तुगणनेन पूजाभिलाषित्वं व्यज्यते शिवभक्तिश्चेति।[११]

(२) काल :—

काल का उदाहरण है—'माधात् विभ्यतुमाधोऽयं यत्र रात्रिः शिवप्रिया[१२]। अर्थात् पापात् (माधात) मा विभ्यतु यतः अयं मासः माघः (प्रवर्तते) यत्र शिवस्य प्रिया रात्रिः शिवरात्रि आयाति। आप पाप से भयभीत न हों, क्योंकि यह माघ का महीना है, जिसमें शिवरात्रि नामक 'पर्व' पड़ता है। यह पद्यांश का वाच्यार्थ है। इसमें माघ मास की शिवरात्रि नामक पर्व के उल्लेख से विशिष्ट काल के बोध के द्वारा यह अर्थ व्यञ्जित होता है कि शिवरात्रि-व्रत का माहात्म्य बहुत अधिक है तथा वक्ता शिव के प्रति अत्यधिक अनुरक्त है।

---

१०. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द : व्यञ्जना निरूपणम् का० ६

११. वही, का० ६, वृत्ति।

१२. वैही, का १० पूर्वादर्ध

ग्रन्थकार के ही शब्दों में—'अधातापाद मा विम्यतु इत्युक्ते व्रतममहिमातिशयो व्यज्यते, तेन च व्रते भक्तिः ततश्च शिवे भक्तिरिति कालस्य वैशिष्ट्यादिसाधारण्यादित्यर्थः ।

३. प्रकरण :—

कभी-कभी प्रकरण अर्थात् प्रसङ्ग या लोक-प्रथा विशेष से भी व्यंग्यार्थ की निष्पति होती है । आशाधरभट्ट ने व्यञ्जना के गौण आधायक तत्वों में अन्यतम तत्व 'प्रकरण' को 'शीघ्रमाहर वन्यानि पुष्पादीनि निशामुखे'[१३] पद्यांश से उदाहृत किया है । इसका अर्थ है—सायंकाल ही जङ्गली पुष्प आदि लाकर जल्दी रख लो । यह बात भगवान् शिव के पूजन के प्रसङ्ग में कही गई है, जो प्रसङ्ग वक्ता और श्रोता दोनों को ज्ञात है । यहाँ प्रयुक्त 'वन्यानि' पद से ही व्यञ्जित होता है कि शिव की पूजा के लिए सामग्री जुटाई जा रही है; क्योंकि शिव को जङ्गली फल-फूल ही विशेष प्रिय हैं । इस बात के समर्थन में ग्रन्थकार ने एक पद्य भी 'शिवगीता' नामक प्रकरण से उद्धृत किया है—

वन्येषु यादृशी प्रीतिवर्तते परिमेशितुः ।
उतमेष्वपि नास्त्वेव ग्रामजेषु तु तादृशी ॥
इति शिवगीतोक्तेरिति भावः ।[१४]

नन्दिकेश्वरसंहिता नामक ग्रन्थ के शिवधर्म नामक प्रकरण से भी उक्त प्रकरण या मान्यता की पुष्टि होती है—

पुष्पैररण्यसम्भूतैः पत्रैर्वा गिरि सम्भवैः ।
अपर्युषित् निश्छिद्रैः प्रोक्षितैर्जन्तुवर्जितैः ।
आत्मारामोद्भवैर्वापि भक्तया सम्पूजयेच्छिवम् ॥[१५]

४. वक्तृवैशिष्य :—

वक्तृवैशिष्ट्य के कारण भी व्यञ्जना प्रवृत्त होती है । इसका उदाहरण 'वाटिकायां जनान् दूरान् कुरुतेत्याह शाम्भवः है । इसका भावार्थ यह है कि शिव के किसी भक्त ने कहा है कि 'वाटिका में एकत्रित लोगों को हटा दो ।' यहाँ प्रकरण से ही यह ज्ञात होता है कि शिव की पूजा आदि सम्पादित करनी है, किन्तु शिवभक्त वक्ता के वैशिष्ट्य से यह अभिप्राय अभिव्यञ्जित होता है कि शिव की पूजा एकान्त में ही की जाती है, सामूहिक रूप से नहीं, क्योंकि शिव एकान्तप्रिय हैं ।

---

१३. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द : व्यञ्जना निरूपणम् का० ११ पूर्वार्द्ध
१४. वही, का० ११ की वृत्ति में उद्धृत शिवगीता का उद्धरण
१५. नन्दिकेश्वरसंहिता का शिवधर्मप्रकरण का एक पद्य

५. वाक्य-वैशिष्ट्य

वाक्य-वैशिष्ट्य नामक व्यञ्जना के पञ्चम आधायक तत्त्व को आशाधरभट्ट ने **शिवं पूजयताजस्रं जुषध्वं सुखमीपिसतम्**[१६] पद्यांश से उदाहृत किया है। इस उदाहरण में दो वाक्य हैं।

१. शिवं पूज्यत् और

२. अजस्रं जुषध्वं सुखमीप्सितम्।

इन वाक्यों का अभिधेयार्थ यह है कि 'शिवजी की पूजा करो और अभिप्सित सुख को निर्बाध प्राप्त करो।' यहाँ शिव की पूजा से अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है, अतः दोनों में कारण-कार्य-सम्बन्ध हैं, जिसकी प्रतीति पद्यांश में प्रयुक्त विशेष प्रकार के वाक्य से ही होती है।

६. अभिधेय :—

इसका उदाहरण **शैवानां चेत् पुनर्जन्म सा हानि गिरिजापतेः** है जिसका अभिधेयार्थ यह है कि यदि शिवभक्तों का भी पुनर्जन्म होता है तो यह स्वयं भगवान् शिव की हानि है।' इस अभिधेयार्थ से ही यह अभिव्यञ्जित होता है कि शिवभक्तों को निश्चित रूप से 'मोक्ष' प्राप्त होता है अर्थात् भगवान् शिव सांसारिक बन्धनों से अपने भक्तों को मोक्ष प्रदान करने वाले हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते। इसीलिए मोक्ष-प्रदाता शिव की उपासना एकाग्र मन से करनी चाहिए।

७. सान्निध्य :—

कभी-कभी सान्निध्य विशेष के द्वारा विशेष व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। आशाधरभट्ट ने इसका उदाहरण '**एकाकिना मया काशीं गन्तुं शक्या कथं द्विजाः**' दिया है। जिसका वाच्यार्थ यही है कि हे ब्राह्मण लोगो। मैं साथ जाने वाले अन्य शिवभक्तो के सान्निध्य का अपलाप नहीं कर सकता। अर्थात् अकेले काशी को कदापि नहीं जा सकता।

८. काकु :—

व्यञ्जना के 'काकु' नामक आधायक तत्व को आशाधरभट्ट ने '**संसार कूपपतनं शम्भभक्तस्य किं भवेत्** से उदाहृत किया है। यहाँ वाच्यार्थ है कि क्या शिवभक्त भी संसार रूपी कुएं में गिर सकता है? अर्थात् नहीं गिर सकता। यहाँ अर्थात् से निकलने वाला अर्थ ही व्यंग्य है, जिसकी प्रतीति किम् रूप 'काकु' से होती है। ग्रन्थकार ने इसकी पुष्टि करते हुए लिखा है—

---

१६. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, व्यञ्जनानिरूपण, का० १३, पूर्वार्द्ध

अत्र किं शब्दे काकुर्बोध्या[१७]

६. बोधव्य-वैशिष्ट्य :—

बोधव्य अर्थात् श्रोता वैशिष्ट्य के कारण भी कभी-कभी व्यञ्जनावृत्ति होती है। इस सन्दर्भ में आशाधरभट्ट ने **मुमुक्षो भज भूतेशं संसारे मा मनः कुरु**[१८] उदाहरण दिया है, जिसका भावार्थ यह है कि हे मोक्ष चाहने वाले। लोकपति भगवान् शिव की उपासना करो।' तथा राग-द्वेष से युक्त इस भौतिक संसार में मन को न लगाओ।

यहाँ मुमुक्षो। सम्बोधन से यह व्यंग्य निकलता है कि उक्त उक्ति सबके लिए नहीं, अपितु उसी के लिए है जो मुक्त होना चाहता है; क्योंकि पद्यांश का बोधव्य हैं, जो मुमुक्ष है।

(घ) व्यञ्जना के भेद-प्रभेद

व्यञ्जना के भेद-प्रभेदों का विवेचन आशाधरभट्ट ने शब्दशक्ति-विषयक अपनी दूसरी कृनि त्रिवेणिका में ही विस्तार पूर्वक किया है। कोविदानन्द में इनका मात्र संकेत हुआ है। ग्रन्थकार ने व्यञ्जना के मूलतः तीन भेद किए हैं :—

१. वाच्यमूला व्यञ्जना

२. लक्ष्यमूला व्यञ्जना और

३. व्यंग्यमूला व्यञ्जना

इस त्रिविध व्यञ्जनाओं का संकेत देते हुए भट्ट जी ने कोविदानन्द में लिखा है :—

वाच्यमूला व्यञ्जनैषा लक्ष्यगा प्राक् प्रदर्शिताः।
उदाहृतेषु दूरार्थभाने व्यङ्ग्यगताप्यसौ ॥[१९]

ग्रन्थकार ने त्रिवेणिका में शब्द की तीसरी वृत्ति व्यञ्जना के भेद-प्रभेदों को एक नवीन ढंग से प्रतिपादित किया है। वे विभाग हैं :—

१. शाब्दी व्यञ्जना या अभिधामूला व्यञ्जना

२. आर्थी व्यञ्जना या लक्षणामूला व्यञ्जना

३. व्यञ्जनामूला व्यञ्जना

(क) शाब्दी व्यञ्जना :—

ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने शाब्दी व्यञ्जना की व्याख्या करते हुए प्रकृता-प्रकृत श्लेषे शक्तिमूला व्यञ्जनेति प्रा चः। कहा है जिसका भाव है कि जहाँ प्रकृत

---

१७. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द : व्यञ्जना निरूपणम् का० १६ वृत्ति

१८. वही, का० १७, पूर्वार्द्ध

१९. वही, का० १८

और अप्रकृत अर्थों के मध्य श्लेष होता है, वहीं शक्तिमूला व्यञ्जना का स्थल होता है। इसे ग्रन्थकार ने स्वरचित एक पद्य से उदाहृत किया है :—

सा यथा—

आशाधरहृदुत्पन्ना विमला बुद्धिशुद्धिवा।
कोविदानन्दसहजानुग्राह्यैषा त्रिवेणिका ।।[20]

इस पद्य का प्रकृत अर्थ यह है कि ग्रन्थकार आशाधरभट्ट के हृदय से (मन से) लिखी हुई अमल 'कोविदानन्द' नामक शब्दशक्तिविषयक प्रथम ग्रन्थ रूप पुत्र की सहोदरा रूप 'त्रिवेणिका' नामक यह द्वितीय (शब्दशक्तिविषयक) भगिनी रूप कृति ग्राह्य है।

इसी उपर्युक्त पद्य का एक अप्रकृत अर्थ यह भी है कि आशाधरभट्ट अर्थात् हिमालय के हृदय प्रदेश से उत्पन्न निर्मल बुद्धि वाली एवं कोविदा अर्थात् विद्वानों को सरलतया आनन्दित करने वाली यह त्रिवेणिका अर्थात् गङ्गा, यमुना और सरस्वती रूप जल प्रवाह का उत्कृष्ट सङ्गम सर्वथा उपासना योग्य है।

इस प्रकार इस एक ही पद्य में आशाधरभट्ट, कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका नामक तीन श्लेषात्मक पदों के सुकृत प्रयोग से ही क्रमशः ग्रन्थपरक, कन्यापरक और तीर्थपरक तीन अर्थों की प्रतीति हो जाती है। अतः यह पद्य शाब्दी व्यञ्जना का ही निदर्शन सिद्ध होता है। आशाधरभट्ट ने यहाँ '**शब्दावयवाश्रयापि सा दृश्यते**' कहकर उक्त शाब्दी व्यञ्जना को '**शब्दावयवाश्रया**' भी कहा है। साथ ही इस नये विशेषण की सम्यक् परीक्षा हेतु एक नया पद्य भी प्रस्तुत किया है।

दानी पानी तथा ज्ञानी, ध्यानीमानी निधान्यपि
राजामयूरचित्रोऽयं येन राजन्वती क्षितिः।[21]

पद्य का भाव यह है कि राजा मयूरचित्र बहुत दान देने वाला, पद्यमयी सुज्ञ, नित्य ध्यान करने वाला और अत्यन्त स्वाभिमानी एवं निधिसम्पन्न है तथा ऐसे राजा से यह पृथ्वी राजन्वती (धन्य) हो रही है।

यहाँ राजा मयूर चित्र के दानी, पानी, ज्ञानी, ध्यानी, मानी और निधानी पद विशेषण की तरह प्रयुक्त हुये हैं। इन प्रयोगों की पुष्टि में ग्रन्थकार ने कात्यायन का वार्तिक उद्धृत किया है—

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगऽतिशायने।
सम्बन्धेऽस्ति विवक्षयां भवन्ति मतुबादयः ।।[22]

---

२०. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, व्यञ्जनाप्रकरण, पृ० ३३, १९५७
२१. वही, पृ० ३३. १९५७
२२. वही, पृ० ३४ पर उद्धृत कात्यायक वार्त्तिक

अर्थात् उक्त पद्य में प्रयुक्त दानी, पानी, मानी, ज्ञानी, ध्यानी एवं निधानी पद 'मतुप्' प्रत्यय वाले प्रयोग हैं, जिनसे 'भूमनिन्दाप्रशंसासु' आदि कात्यायन के वार्तिक के विधान के अनुसार भूम् अर्थात् अधिकता एवं निन्दा आदि अर्थों की प्रतीति व्यञ्जना नामक शब्द की तीसरी वृत्ति से ही होती है, क्योंकि वार्तिक के अनुसार भूम (अधिकता) निन्दा, प्रशंसा, नित्य साहचर्य, आधिक्य तथा सम्बन्ध आदि की विवक्षा में 'मतुप्' आदि प्रत्यय होते हैं। यहाँ ग्रन्थकार आशाधरभट्ट ने शाब्दी व्यञ्जना को 'शब्दावयवाश्रया इसीलिए ही कहा है कि यहाँ दानी. पानी, प्रभृति मतुप् प्रत्यय वाले पदों के अभाव में राजा मयूर की स्तुति रूप व्यंग्य अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं होगी।

(ख) **आर्थी व्यञ्जना**— त्रिवेणिका में भी इस आर्थी व्यञ्जना की निदर्शना प्रस्तुत की गई है :—

कलत्रवानह वाले। कनीयासंभजस्व मे।

यह उदाहरण 'लक्षणाश्रया' अर्थात् लक्षणामूला व्यञ्जना का भी उदाहरण है। यहाँ पर 'कलत्र' शब्द से पत्नी का अर्थ ग्रहण करने से मुख्यार्थ में बाध इसलिए होता है कि उनके लघु भ्राता लक्ष्मण भी तो विवाहित ही थे। अतः कलत्रवान् शब्द से लक्ष्मण भी ग्रहीत होते हैं फिर 'कलीयांस भजस्व में' की उक्ति व्यर्थ पड़ती है। इसलिए 'कलत्रवान्' शब्द की लक्षणा 'पत्नी के साक्षाद् उपस्थित' होने के (सन्दर्भ) अर्थ में होती है, जिसको आशाधरभट्ट ने 'तत्साविधेयलक्षणा' कहा है—

कलत्रशब्देन तत्साविध्ये लक्षणा अन्यथा लक्ष्मणस्याऽपि तथात्वापत्तेः[२३]

इससे वाक्यार्थ का विरोध समाप्त हो जाता है, क्योंकि लक्ष्मण की पत्नी (उर्मिला) उनके साथ नहीं है। 'कलत्रवानहं वाले कनीयांस भजस्व में' इस पद्यांश में आशाधरभट्ट ने निम्नलिखित अर्थों के व्यंग्य होने की संभावना व्यक्त की है— व्यंग्य यह है कि भोग से तृप्त होने के कारण मैं तुम्हारे लिए अभिगम्य नहीं हूं अर्थात् तुम भले मेरे 'सहवास' की कामना करो लेकिन मुझमें तुम्हारे सहवास की कामना का होना अस्वाभाविक है।

२. इससे भी आगे एक व्यंग्य यह भी निकलता है कि चूँकि मैं अपनी पत्नी के सहवास से तृप्त हूं और तुम 'कामातुरा' हो अतः मुझसे तुम्हारा पूर्ण संतोष नहीं हो सकता।

३. इससे एक और व्यंग्य निकलता है कि अपनी पत्नी के सान्निध्य से राम के द्वारा उसका निषेध इस अभिप्राय का व्यञ्जक है कि सीता

---

२३. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका; व्यञ्जना प्रकरण पृ० ३४, १९५७

'**स्वाधीनपतिका** कोटि की नायिका है।

५. आशाधरभट्ट ने बड़ी ही सूक्ष्मता से इस प्रकृतोदाहरण में विषमालङ्कार की व्यञ्जना भी प्रदर्शित की है। 'कलत्रवानहं क्व, वालात्वं क्व।' अर्थात् कहाँ मैं पत्नी से युक्त और कहाँ तुम वाला।

'वाले' पद में भी मुख्यार्थ का बाध इसलिए है कि 'वाला' शब्द का प्रयोग षोडष वर्ष तक की नारी के लिए उपयुक्त माना गया है। इस सन्दर्भ में आशाधर भट्ट ने **रतिरहस्य** से उद्धरण दिया है—

वालास्यात् षोडशाब्दाः तदुपरि तरुणी त्रिशतो यावदूर्ध्वम् इति रति रहस्योक्तः।[२४] शूर्पणखा निश्चित रूप से मात्र सोलह वर्ष की नहीं है, फिर भी उसके लिए 'वाले' सम्बोधन का प्रयोग 'भूरिकामा' अर्थात् अत्यन्त कामिनी रूप लक्ष्यार्थ में पर्यवसित होता है, जिससे उक्त व्यंग्य निकलता है कि पत्नीयुक्त मुझसे तुम्हारी उग्र कामवासना को संतोष नहीं मिल सकता।

६. **कनीयांस** पद लक्ष्मण का विशेषण है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि वह पत्नी रहित है। छोटे हैं। अतः तुम 'वाला' के अनुरूप हो, इस प्रकार यहाँ समालांकार व्यंग्य है।

७. राम और लक्ष्मण में वैषम्य होने से विषमालंकार भी व्यंग्य है। यहाँ सीता के समक्ष उपस्थिति से राम का पत्नी से युक्त होना स्वतः सिद्ध है। फिर भी 'कलत्रवान्' शब्द फा प्रयोग मुख्यार्थ का बाध उपस्थित करता है, जिसको दूर करने के लिए 'कलत्र' शब्द की **लावण्यादि गुण कलत्र** में लक्षणा होती है, जिसका व्यंग्य है कि ऐसी परम सुन्दरी सर्वगुणसम्पन्ना पत्नी के रहते हुए तुम जैसी से क्या प्रयोजन?

उक्त उदाहरण में सभी व्यंग्य लक्षणा पर आश्रित नहीं है, अपितु 'कलत्रवान्' एवं 'वाले' पदों से ही लक्षणा द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, जो वस्तु एवं अलङ्कार उभयरूप हैं—अतएव यह लक्षणामूला व्यञ्जना का उदाहरण है। लक्षणामूला व्यञ्जना के स्थलों में रस की व्यञ्जना, कथमपि सम्भव नहीं, क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की प्रतीति क्रम पूर्वक होती है, जबकि रस 'अलक्ष्यक्रम' व्यंग्य की कोटि में आता है।

(ग) व्यञ्जनामूला व्यञ्जना :—

आशाधरभट्ट ने 'त्रिवेणिका' में व्यञ्जनामूला व्यञ्जना को स्वरचित पद्य से व्याख्यायित किया है :—

---

२४. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका : व्यञ्जना प्रकरणम् पृ० ३४ (१९५७) पर उद्धृत रतिरहस्य

क्षीरत्यजं नीरपिवं च हंसं व्यासं विरक्तं च शुकं ग्रहस्थम् ।
वदामिवाणी मम् चेद्यथार्थतदासुधीभिमम्र धीर्न निन्द्या ।।[२५]

यहाँ सुधी शब्द से उन्हीं व्यक्तियों का ग्रहण होता है, जो परीक्षा करने में कुशल हैं, क्योंकि सुधी जन परीक्षा किये बिना किसी की निन्दा या स्तुति नहीं करते । इसके सम्बन्ध में यह उक्ति दी गई है—

जब तक हंसों का क्षीर' से परिचय न होगा तब तक उनमें वर्तमान नीर-क्षीर विवेक की पटुता की परीक्षा कैसे हो सकती है ? हंस जैसे ज्ञानी लोगों के लिये विषय सुख, जो ऊपर से देखने रमणीय परन्तु गर्हित होता है, अर्थात् सर्वथा हेय ही होता है । अतः सूक्ष्म एवं विकाररहित होने से एवं सर्वकाल रमणीय होने से 'ब्रह्मसुख' ही ग्राह्य होता है । परलोक की मान्यता तो इससे भिन्न ही है । व्यास को 'विरक्त कहा गया है जबकि शुकदेव को उनका पुत्र माना गया है तथा शुकदेव को 'गृहस्थ' कहा गया है जबकि वे उत्पन्न होते ही घर छोड़कर निकल गए थे, किन्तु जो विद्वान् हैं तथा जिन्होंने महाभारत एवं पुराणों का अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि व्यास की कोई पत्नी न थी अपितु 'शुकी' नामक अप्सरा के दर्शन से क्षुब्ध-शुक्रपात' से ही शुक्र नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई किन्तु फिर भी ब्रह्म विद्या के प्रवर्तक होने से उनका विरक्त होन सर्वविदित है । अतः महाभारत की प्रसिद्ध कथा का तिरस्कार कर पत्नी के द्वारा 'पुत्र' की उत्पत्ति की बात कहना सर्वथा विपरीत बात है । इसी तरह शुक्र के पांच सन्तातों का वर्णन हरिवंश एवं भागवत पुराण में मिलता है । इससे उनका गृहस्थ होना सिद्ध होता है । हरिवंश और भागवत पुराणों में वर्णन मिलता है 'क्रित्वी' नामक शुककन्या से पांच सन्तानें हुई थी—

तत्र हरिवंशे स्वरूपेण भागवते च स कृत्व्यां शुक्रकन्यायाम् ।

यहाँ यह सब आख्यान इसलिए हुआ है कि 'सुधी' शब्द का प्रयोग कवि ने जान-बूझकर उन अर्थों के निरूपण के लिए किया है, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है । इस प्रकार पूरे पद का जो व्यंग्य निकलता है, इसका सम्बन्ध आशाधरभट्ट अपने से स्थापित करते हैं । उक्त पद उनकी स्वयं की रचना है और वे इस रचना के माध्यम से यह कहना चाहते हैं कि इस त्रिवेणिका नामक ग्रन्थ में तथा अन्य कृति कोविदानन्द में बहुत सी ऐसी बातें कही गई है जो प्रसिद्ध अर्थात् परम्परा से विरीत पड़ती हैं, उनकी सम्यक् परीक्षा करने पर ग्रन्थकार आशाधरभट्ट का निरूपण स्तुत्य ही होगा, निन्द्य नहीं, इसकी प्रार्थना अभिव्यञ्जित होती है ।

आशाधरभट्ट के द्वारा किया गया व्यञ्जनावृत्ति के भेद-प्रभेदों का निरूपण

---

२५. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका : व्यञ्जना प्रकरण पृ० ३५

उन्हीं के द्वारा किए गए अभिधा एवं लक्षणा के भेद-प्रभेदों की तुलना में लगण्य सा है। ऐसा प्रतीत होता है कि मम्मट एवं विश्वनाथ के द्वारा ध्वनि के कम से कम इक्यावन (५१) भेदों के विस्तारपूर्वक विवेचन से उस विषय में किसी नई उद्भावना की सम्भावना उन्हें प्रतीत नहीं हुई। इसलिए उन्होंने केवल अभिधामूला, लक्षणा-मूला तथा व्यञ्जनामूला नामक तीन भेदों का ही विवेचन किया है, जो पूर्वाचार्यों का पिष्ट-पोषण मात्र ही है। व्यञ्जना प्रकरण में आचार्य की मौलिकता का आभास हमें व्यञ्जना के अभिधा, लक्षणा, अनुमान आदि में अन्तर्भाव के विवेचन में होता है, जहाँ उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण बातें कहीं हैं।

(ङ) व्यञ्जना के अन्य तत्त्वों में अन्तर्भाव का निरसन

१. अभिधा में व्यञ्जना के अन्तर्भाव का प्रश्न :—

यह पहले ही कहा जा चुका है कि आनन्दवर्धन ने 'व्यञ्जना' नामक जिस नई वृत्ति की उद्भावना की वह आरम्भ में विद्वानों के किसी भी वर्ग को स्वीकार्य नहीं हुई। चाहे वह क्षेत्र काव्य का हो, चाहे काव्येतर अन्य शास्त्र का। मीमांसकों का एक वर्ग—जिन्हें 'अन्विताभिधानवादी' कहते हैं तथा जिन्हें कुमारिल भट्ट के पट्ट शिष्य 'प्रभाकर मिश्र' का अनुयायी माना जाता है—ये सभी आचार्य व्यञ्जना को अभिधा में ही अन्तर्भूत मानते हैं। उनका कहना है कि अभिधा, आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि से प्रकरण पर्यालोचन के द्वारा ही पदों का परस्पर अन्वय होने पर, उसी अर्थ को प्रत्यायन कराती है, जो हर तरह से समुचित होता है। उनका तर्क है कि 'अभिधा-व्यापार शक्तिमान् व्यक्ति के द्वारा अनुसंधानित उस बाण के समान है जिसमें 'वर्म-क्षेदन, मर्म-भेदन एवं प्राण हरण—तीनों की क्षमताएं विद्यमान रहती हैं। वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द या वाक्य 'वाच्यार्थ' की प्रतीति कराते हुए व्यंग्यार्थ की प्रतीति सुतरां करा देता है। उदाहरणतः :—

पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति, मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे
उन्नतपयोधरां पश्यन्यदि वससि तद् वस्।

इस गाथा में नायिका उस राहगीर से कहती है जो वहाँ ठहरना चाहता है कि 'पथरीले इस गांव में बिछाने के लिए चटाई, बिछौनादि नहीं मिलेगा, परन्तु पायोधर अर्थात् मेघ उमड़ रहे हैं—इसको देखकर 'यदि ठहरना चाहो तो ठहर लो।' यहाँ पर 'पयोधर' पद में प्रयुक्त 'श्लेष' के माध्यम से सहृदय पाठक 'गाथा' के वाच्यार्थ और व्यञ्ग्यार्थ दोनों को भलीभाँति समझते हैं तथा 'काव्य की चारुता भी दोनों—वयङ्ग्यार्थ और व्यञ्ग्यार्थों की सहप्रतीति में है। अतः दोनों ही अर्थ अभिधेय हैं। द्वितीय अर्थ की प्रतीति के लिये अभिधा के अतिरिक्त किसी अन्य

शक्ति की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि ध्वनिवादी जिस अर्थ को व्यङ्ग्य कहता है, यदि केवल उसी की प्रतीति हो अर्थात् नायिका के स्तनों के उपभोग, वाले अर्थ की ही प्रतीति हो तो वह नायिका द्वारा स्वयं कहे जाने से अनुचित एवं अश्लील मानी जायेगी। अतः 'शृङ्गारपरक' अर्थ के साथ-साथ मेघ-परक अर्थ की प्रतीति भी आवश्यक है। तभी नायिका के कथन में शालीनता का निर्वाह सम्भव है। इस प्रकार जहाँ-जहाँ भी व्सङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ-वहाँ ग्रभिधा का ही दीर्घ-दीर्घतर व्यापार है ; उसके लिये व्यञ्जना' नामक नई वृत्ति का मानना विडम्बना मात्र है।

आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रकाश में दीर्घ-दीर्घतर अभिधावादियों के पक्ष का उपस्थापन पर्याप्त विस्तारपूर्वक किया है। तथा सम्यक विवेचन कर उसका खण्डन बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया है। इनका कहना है कि दीर्घ-दीर्घतर अभिधा व्यापार यदि इतना सबल है कि शब्द से होने वाली तमाम प्रतीतियों को वह अपना विषय बना सकता है, तो **ब्राह्मण पुत्रस्तेजातः**', 'ब्राह्मण ! कन्या ते गर्भिणी' आदि वाक्यों को सुनते ही क्रमशः हर्ष और विषाद की जो अनुभूति होती है—वह भी अभिधा का विषय क्यों नहीं बन जाता ? आचार्य मम्मट कहते हैं :—

यदि शब्दश्रुतेरन्तरं यावानर्थोलभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः ततः कथं ब्राह्मण पुत्रास्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षशोकादीनामप्ति न वाच्यतत्वम्।[२६]

यदि कोई यह कहे कि 'शब्दार्थ तो अनन्यलभ्य होता है, जो अर्थ या अभिप्राय शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से ग्रहीत हो जाय, तो उसके लिए न तो शब्द का प्रयोग ही उचित है और न ही उसे शब्दार्थ कहना चाहिए। 'हर्ष' और शोक' इसी प्रकार के हैं, जिनकी अभिव्यक्ति मुखरागादि से शब्द प्रयोग के बिना भी सुतरां हो जाती है। इसीलिए उन्हें शब्द का विषय अर्थात् 'शब्दार्थ' नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार इस पर दूसरा तर्क देते है कि—**कस्माच्च लक्षणा लक्षणीयेप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीति सिद्धेः।**[२७]

अर्थात् **दीर्घ-दीर्घतर अभिघा व्यापार** से ही काव्य के अतिरिक्त अन्य सभी अर्थों का ग्रहण हो जाय, तो लक्षणा को भी मानने की क्या आवश्यकता है ? **दीर्घ-दीर्घतर व्यापार** से ही लक्ष्यार्क्ष की भी प्रतीति हो जाएगी। इसका भी समाधान यह दिया जा सकता है कि 'लक्षणा की प्रवृत्ति अभिधा का बाध होने से होती है। यदि अभिधा बाधित न हो, तो लक्षणा की आवश्यकता नहीं।

---

२६. मम्मट : काव्यप्रकाश, पंचमोल्लास, सूत्र ६९ वृत्ति
२७. वही, पृ० २२९ झलकीकर संस्करण)

शब्दबुद्धि कर्मणां विरम्यव्यापाराभावः

इस न्यास से वह वहीं बाधित हो जाती है। अतः अभीष्ट अर्थ की प्रतीति के लिये किसी-न किसी व्यापार की आवश्यकता अवश्य है और वही है—लक्षणा-परन्तु व्यञ्जना के स्थल में किसी का बाध सहीं होता। अतः अभिधा के दीधा-दीर्घतर व्यापार को कौन रोक सकता है? इसलिए लक्ष्यार्थ की प्रतीति दीर्घ-दीर्घतर अभिधाव्यापार' से न होने का कोई कारण लक्षित नहीं होता। अतएव इन अरुचियों को मन में रखकर ही आचार्य मम्मट ने दीर्घ-दीर्घतर अभिधा व्यापार का खण्डन करते हुए एक तीसरा तर्क दिया है, जो यह है कि यदि दीर्घ-दीर्घतर अभिधा व्यापार इसी रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो हर स्थल में अन्ततोगत्वा एक ही अर्थ की अन्तिम रूप से प्रतीति होनी चाहिए। एक शब्द के अनेक अर्थ की युगपत् प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः 'श्रुति, लिङ्ग, वाक्य प्रकरण, स्थान, समाख्यानाम् पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्' मीमांसा सूत्र की क्या आवश्यकता है? इस सूत्र की रचना ही व्यर्थ हो जायेगी—

"किमिति च श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्' इत्यन्विताभिधनवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम्।"[२८]

इस उपर्युक्त मीमांसा सूत्र में इस बात को बताया गया है कि 'जहाँ पर एक से अधिक अर्थ सम्भावित हों वहाँ अर्थ का निर्धारण 'सूत्र' में वर्णित आधारों के उल्टे क्रम से होना चाहिए अर्थात् 'समाख्या' से बलवान् स्थान, स्थान से बलवान प्रकरण, प्रकरण से बलवान् वाक्य, वाक्य से बलवान् लिङ्ग और इसी प्रकार श्रुति-प्रतिपादित अर्थ बलवत्तम होता है।

आचार्य मम्मट की ही भाँति आशाधरभट्ट ने भी अभिधा में 'व्यञ्जना वृत्ति की गतार्थता के मीमांसकों आदि के (अन्विताभिधानवादीप्रभृति) मत का सटीक खण्डन किया है। आशाधरभट्ट ने बड़ी सी सूक्ष्म रीति से अभिधा एवं लक्षणा और व्यञ्जना की पृथक्-पृथक् सत्ता को अपने ग्रन्थ 'कोविदानन्द' में विस्तार से विवेचन किया है। वे प्रथमतः मीमांसकों की ओर से अभिधा में ही व्यञ्जना की गतार्थता की बात कहते हैं—

"दीर्घ-दीर्घाभिधा व्यङ्ग्यानर्थान् बोधयितुं क्षमा।
यत्परन्यायमाश्रित्य व्यङ्ग्यार्थस्यापि वाच्यता॥"[२९]

ऐसा मानने वाले आचार्यों का तर्क है कि जिस प्रकार शक्तिशाली पुरुष द्वारा

---

२८. मम्मट: काव्यप्रकाश, पञ्चमोल्लास सूत्र ६९ वृत्ति पृ० २२९ झलकीकर संस्करण।

२९. आशाधरभट्ट: कोविदानन्द, व्यञ्जनानिरूपण, का० २६

छोड़ा गया बाण वर्म-च्छेदन एवं प्राण-हरण आदि दीर्घ और दीर्घतर व्यापार वाला होता है, उसी प्रकार अभिधा के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार से ही वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो सकने से व्यञ्जना को **अभिधातिरिक्तवृत्ति** मानने की क्या आवश्यकता ? ये विद्वान् **यत्परः शब्दः स शब्दार्थः** को स्वीकारते हुए व्यङ्ग्यार्थ को भी अभिधाव्यापाराश्रित वाच्य ही मानते हैं।

आशाधरभट्ट ने इसका मुखर उपस्थापन यह कहकर किया है।

सकृदुच्चरितन्यायाद्वाच्यार्थे विरताभिधा।
व्यङ्ग्योपपादनेऽशक्ता दीर्घ-दीर्घा न सा ततः॥[30]

आशाधरभट्ट ने 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति, शब्द बुद्धि कर्मणां-विरम्य व्यापाराभावादिति' से स्पष्ट किया है कि चूंकि एक बार उच्चरित शब्द एक ही अर्थ को प्रकट कराता है तथा तुरन्त विरत हो जाता है। फलतः अभिधा के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ के प्रत्यायन का तो प्रश्न ही नहीं पैदा होता। जब अभिधा वाच्यार्थ की प्रतीति के तुरन्त बाद स्वयं समाप्त हो जाती है तो दीर्घ या दीर्घतरादि की कल्पना कैसे सम्भव होगी ?

विद्वान् ग्रन्थकार ने अपनी मान्यता को कितनी तार्किक शैली में प्रतिपादित किया है—

शक्तिः पूर्वा परा व्यक्तिः शक्तिर्बोधस्य कारणम्।
चमत्कारस्य च व्यक्तिः शक्तिः शब्दाश्रया परा॥[31]

व्यक्तिर्नानाश्रया शक्तिरेकार्था व्यक्तिरन्यथा।
शास्त्रगम्या भवेच्छक्तिः प्रज्ञागम्या परा मता॥[32]

सर्वाधिकारिका शक्तिः व्यक्तिः सुध्यधिकारिका।
एवं परीक्षितेऽत्यन्तं व्यक्तिः शक्तेर्विलक्षणा॥[33]

इन्होंने तर्क दिया है कि शक्तिः पूर्वा परा व्यक्तिः 'अर्थात् शक्ति (अभिधा) से अर्थ-प्रत्यायन पहले होता है। तदनन्तर व्यञ्जना व्यापार से। अतएव अभिधा में 'व्यञ्जना' की गतार्थता कथमपि सम्भव नहीं।

उपर्युक्त तीनों कारिकाओं में प्रमुखतः पाँच ऐसे कारण हैं, जिनमें मनन

---

३०. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द; व्यञ्जना निरूपणम् का० २८
३१ आशाधरभट्ट : कोविदानन्द; व्यञ्जना निरूपणम् का० ३१
३२. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द; व्यञ्जना निरूपणम् का० ३२
३३. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द; व्यञ्जना निरूपणम् का० ३३

एवं विवेचन से अभिधा एवं व्यञ्जना दोनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वयमेव साधित हो जाती है। वे हैं—

१. अभिधा शब्दबोधिका है अर्थात् शब्द की व्युत्पत्ति से प्रतीयमान अर्थ की प्रत्यायिका है, जबकि व्यञ्जना चमत्कार रूप अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) की प्रत्यायिका है।

२. अभिधा केवल शब्दाश्रित है, इसे ही ग्रन्थकार ने 'शब्दावयवाश्रया'[३४] अभिधान से अभिहित किया है, जबकि व्यञ्जना के आधायक तत्त्व—

१. पद
२. पदावयव (प्रकृति-प्रत्यय)
३. वर्ण
४. पदार्थ
५. वाच्यार्थ और
६. व्यङ्ग्यार्थ आदि अनेक होते हैं।

आशाधरभट्ट ने स्वयं उद्घोषित किया है—

वर्णं पदं तदंशं वाक्यबन्धं च संश्रिता।
प्राधान्यात् व्यञ्जना वृत्तिः शब्दधर्मोऽर्थगापि सा ॥[३५]

३. अभिधा और व्यञ्जना वृत्तियों में तीसरा भेद यह है कि यदि अभिधा से एक समय में एक ही वाच्यार्थ की प्रतीति सम्भव है तो व्यञ्जना अनेक अर्थों को प्रतिपादित करती है। आशाधरभट्ट ने त्रिवेणिका में 'निरवधिव्यंग्योऽर्थः'[३६] कहकर इस मन्तव्य की पुष्टि की है।

४. चौथा अन्तर यह है कि अभिधावृत्ति की प्रतीति शास्त्रानुमोदित है। अर्थात् अभिधा द्वारा केवल शब्दों का तत्-तत् शास्त्रों में शब्दों का जो अर्थ किया गया है—केवल उन्हीं का प्रत्यायन कराती है, जबकि व्यञ्जनावृत्ति प्रखरबुद्धिगम्य ही है। तभी तो ग्रन्थकार ने इसे **'गूढ़निर्झरी'** : विशेषण देकर इसके प्रयोग करने वालों के लिए **'व्यञ्जना नर्मममंज्ञाः कवयः कमनः जनाः'** कहा है।[३७]

५. पञ्चम अन्तर यह है कि अभिधा सर्वजनबोध्य है, क्योंकि कोश, व्याकरण, आप्तवचन, व्यवहारादि संकेतों से वाच्यार्थ की प्रतीति तो सहज ही में

---

३४. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, व्यञ्जनाप्रकरण, पृ० ३४ (शुक्ल संस्करण)
३५. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, व्यञ्जना निरूपण, का० ४
३६. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका वृत्तिप्रकरण, पृ० ५ (१९५७)
३७. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, लक्षणाप्रकरण, पृ० ३३ (१९५७)

हो जाती है, परन्तु व्यञ्जना विदग्धजन-बोध्य ही है : क्योंकि 'व्यङ्ग्यार्थ' का सर्वथा कुशाग्रबुद्धि जनों को ही प्रत्यायन होता है। इसके लिए सार्वदेशिक व सार्वभौमिक (शास्त्रादि) मानदण्ड नहीं होते।

इस प्रकार उपर्युक्त कारणों के गहन पर्यालोचन से यह आपाततः सिद्ध हो जाता है कि अभिधा और लक्षणा एवं व्यञ्जना वृतियाँ अलग-अलग हैं। इन का एक-दूसरे में अन्तर्भाव कथमपि सम्भव नहीं अर्थात् सर्वथा कल्पनातीत ही है।

२. तात्पर्य वृत्ति में व्यञ्जना के अन्तर्भाव का प्रश्न

कुमारिल भट्ट के अनुयायी **अभिहितान्वयवादी** मीमासकों का मत है कि 'वाक्य का तात्पर्य उसके वाच्य अर्थ से निश्चित रूप में भिन्न होता है, अर्थात् अभिधा प्रतिपादित अर्थ से अतिरिक्त अर्थ की प्रतीति सम्भावित है। यहाँ ये (मीमांसक) आनन्दवर्धन से सहमत हैं कि वक्ता जिस अभिप्राय को मन में रखकर जिस वाक्य का प्रयोग करता है, उसके वाच्य के रूप में उस अभिधा की प्रतीति सर्वथा नहीं हो पाती। अतः उसकी प्रतीति कराने के लिए 'अभिधा' के अतिरिक्त एक अन्य व्यापार की मान्यता आवश्यक है, पर वह व्यापार 'व्यञ्जना' न होकर 'तात्पर्यवृत्ति' है। उनका कहना है कि जिस प्रकार बाजार में दूकानदार अपनी दूकान की हर वस्तु को सजाकर रखे होता है, खरीदार या ग्राहक उनमें से अपने काम की वस्तु संकलित कर लेता है, उसी प्रकार वाच्य में प्रयुक्त शब्द, अभिधा-वृत्ति के माध्यम से अपने-अपने सभी संकेतित अर्थों को प्रकट करते हैं। तदनन्तर तात्पर्यवृत्ति परस्पर अन्वय के माध्यम से वक्ता के तात्पर्य रूपी अर्थ को प्रकट करती है। '**यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः**' इस न्याय का यही अभिप्राय है कि जिस अर्थ को मन में रखकर वक्ता वाक्य का प्रयोग करता हैं, वही अभिप्राय उस वाक्य का भी तात्पर्य है।

आनन्दवर्धन ने अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्यवृत्ति तथा तात्पर्यार्थ को दृष्टि में रखकर उससे व्यङ्ग्यार्थ को अलग माना है। उनका कहना है कि तात्पर्यार्थ वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ से बाहर नहीं हो सकता जबकि व्यङ्ग्यार्थ उससे सर्वथा परे होता हैं।

आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्य धनिक ने भी 'दशरूपक' की अपनी टीका में तात्पर्यवादियों के पक्ष का समर्थन करते हुए कहा है कि 'तात्पर्य तराजू पर तोला हुआ नहीं है अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ की तरह 'तात्पर्यार्थ को भी सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता।

एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्योऽस्येति किं कृतम् ।
यत् कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥[३८]

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पञ्चम उल्लास में तात्पर्यवादियों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। तात्पर्यवादियों के पक्ष के तीन मुख्य बिन्दु हैं :—

१. प्रथम बिन्दु यह है कि शब्द से अन्तिम रूप में जिस अभिप्राय की प्रतीति होती है वही उसका तात्पर्य है। आचार्य मम्मट का कहना है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह न्याय वैदिक वाक्यों में 'विधि' और 'अर्थवाद' की व्यवस्था के लिए है। अतः वाक्य में जो विधेय है—उसी में पूरे वाक्य का तात्पर्य होता है न कि अंश में, जो कार्य हो चुका है—ऐसा वैदिक कार्य हो चुका है—ऐसा वैदिक कर्मकाण्ड में अपेक्षित है। अतः न्याय केवल उन्हीं वैदिक वाक्यों की व्यवस्था से संबंधित है। साहित्य या वाङ्मय की अन्य विधाओं में इसका प्रयोग समुचित नहीं होगा; क्योंकि साहित्य में वाक्य का तात्पर्य ऐसे अर्थ में भी होता है, जिसके लिए किसी शब्द का प्रयोग उस वाक्य में नहीं होता—ऐसी स्थिति में व्यङ्ग्यार्थ और तात्पर्यार्थ एक नहीं हो सकते—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो ।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे,
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥[३९]

इस प्रकृत उदाहरण में विधि रूप जो अर्थ व्यङ्ग्य है अर्थात् उनके पास रमण के लिए तुम गई थीं।' यही अर्थ व्यङ्ग्य है, जिसके लिए वाक्य में शब्द का प्रयोग नहीं हुआ हैं, बल्कि प्रयुक्त वाक्य में इसका विरोध किया गया है। अतः विधि रूप यह अर्थ तात्पर्य की कोटि में नहीं आता।

२. तात्पर्यवाद का दूसरा बिन्दु इस बात के खण्डन में है कि तात्पर्य केवल वैदिक वाङ्मय के वाक्यों की व्यवस्था में ही लागू होता है, अपितु **विषं भुङ्क्ष्स्व (भक्षय) मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः**[३९] आदि वाक्यों में भी लागू होता है। यहाँ दो वाक्य प्रयुक्त हुये हैं। दोनों ही वाक्य 'आख्यातपरक' होने से स्वतन्त्र है, परन्तु प्रथम वाक्य का तात्पर्य द्वितीय वाक्य के अर्थ में निहित है अर्थात् वक्ता का अभिप्राय विष खिलाना नहीं, अपितु उसके घर भोजन करने को मना करना है। अतः

---

३८. धनंजय : दशरूपक, चतुर्थ प्रकाश, का० ३७ वृत्ति
३९. मम्मट : काव्यप्रकाश, प्रथमोल्लास, सूत्र २।२

यह कहना ठीक नहीं है कि तात्पर्य हमेशा वाक्य में प्रयुक्त किसी शब्द का अर्थ होता है।

मम्मट ने इसका उत्तर दिया है कि ये दोनों वाक्य यद्यपि आख्यात वाक्य हैं, तथापि चकार से जुड़े हुए हैं। इसलिए दोनों में 'एक वाक्यता' है। यह सुहृद्वाक्य है और मित्र किसी मित्र को विष खाने के लिए नहीं कह सकता, इसलिए प्रथम वाक्य (विशं भक्षय) के मुख्यार्थ का बाध स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। तदनन्तर लक्षणा के द्वारा 'विष खाने से भी बदतर है, जिसका प्रयोजन यह ही है कि व्यक्ति के घर भूलकर भी कभी नहीं खाना चाहिए, जो द्वितीय वाक्य का अर्थ है। इस प्रकार यहाँ अभिधा और लक्षणा दोनों के योग से अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति होती है न कि तात्पर्यवृत्ति से।

तात्पर्य सिद्धान्त के सन्दर्भ में तीसरा बिन्दु यह है कि वाक्य प्रयुक्त अनेक कार्यों में एक-दो, तीन या उससे भी अधिक विधेय हो सकते हैं। जैसे जुलाहे के पास जाकर कहना कि 'रक्तं पटं वय' (लाल कपड़ा बुन दो) तो यदि पहले से उसे 'सूत' नहीं दिया गया है तो उसके लिए तीनों ही विधेय है—रक्तत्व, पटत्व और वयत्व किन्तु यदि सफेद सूत देते हुए उसे कोई 'रक्तंपटं वय' कहता है तो उसे केवल **रक्तत्व** और **पटत्व** ही विधेय हैं किन्तु यदि सफेद वस्त्र देकर कोई कहता है कि 'रक्तं पटं वय' तो मात्र रक्तत्व ही विधेय है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने तात्पर्य-वादियों के सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक विवेचन कर यह सिद्ध कर दिया कि जो विधेय होता है, उसी में वाक्य का तात्पर्य होता है, जो वाक्य में प्रयुक्त शब्दों में से ही किसी शब्द का अर्थ होता है।

क्वचिदुभयविधिः क्वचित्त्रिविधिरपि यथा 'रक्तं पटं वय' इत्यादौ एक-विधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा ततश्च 'यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यम्' इत्युपात्तस्यैव शब्द-स्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतिमात्रे।[४०]

क्योंकि यदि तात्पर्य को प्रतीति मात्र में निहित करेंगे तो 'पूर्वोधावति' इस वाक्य से पूर्व शब्द से अपर की प्रतीति होने से 'अपरः धावति' अर्थ भी विधेय हो जाएगा। अतः 'विधेय' की कोई सीमा नहीं मानी जा सकती। इसलिए यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस न्याय को तथा तात्पर्य नामक वृत्ति को 'वैदिक वाक्यों' में विधि एव अर्थवाद को व्यवस्थापरक ही सीमित रखना चाहिए। साहित्य में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता।

आशाधरभट्ट के पास सम्भवतः मम्मट के आगे कोई और बात कहने को

---

४०. मम्मट : काव्यप्रकाश झलकीकर संस्करण पंचमोल्लास' सूत्र ६६।२, वृत्ति

नहीं थी। इसलिए ही उन्होंने 'कोविदानन्द' में तात्पर्यवाद का संकेतमात्र देकर उसे खंडित कर दिया—

तात्पर्याख्यापि केषाञ्चिद् वृत्तिवाक्यगतामता।
न तामन्ये तु मन्यन्ते पूर्वान्तरभावयुक्तितः॥[४१]

३. लक्षणा में व्यञ्जना के अन्तर्भाव का प्रश्न

लक्षणा में ही व्यञ्जना अन्तर्भाव की सम्भावना आनन्दवर्धन के समक्ष ही थी। उन्होंने स्वयं उसे अभिव्यक्ति दी है—

भाक्तमाहुस्तमन्ये।

जिसका अभिप्राय यह है कि जिस ध्वनि का प्रतिपादन वह एक नूतन वृत्ति 'व्यञ्जना के आधार पर करने जा रहे हैं, उसका प्रतिपादन लक्षणा के आधार पर पहले किया जा चुका है। आनन्दवर्धन ने लक्षणा के लिए 'भक्ति' पद का प्रयोग किया है तथा व्यञ्जना की लक्षणा' में गतार्थता का विवेचन तीन बिन्दुओं में किया है।

(१) पहला ध्वनि अर्थात् 'व्यञ्जना' भक्ति अर्थात् लक्षणा अभिन्न है। एक ही (सन्दर्भ के) विषय के दो नाम हैं। आनन्दवर्धन ने इसका निराकरण करते हुए कहा है कि 'भक्ति' और ध्वनि कदापि एक नहीं हो सकते, क्योंकि उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न है। भक्ति अर्थात् लक्षणा का आधार लक्ष्य-लक्ष्यक भाव है। यहाँ शब्द के द्वारा उसके मुख्य अर्थ के बाध होने पर उससे संबंधित किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। उसे ही लक्ष्य-लक्षक भाव कहते हैं, जो लक्षणा का विषय है तथा जहाँ शब्द या उसका अर्थ अपनी सत्ता बनाये रखते हुए प्रकरणपर्यालोचन द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति कराए वहाँ व्यञ्जना होती है। इस तरह लक्षणा और व्यञ्जना के स्वरूप में सर्वथा भेद होने के कारण वे अभिन्न नहीं कही जा सकती।

(२) लक्षणा का ध्वनि अर्थात् व्यञ्जना के स्थलों में प्रयोजन की प्रतीति किस वृत्ति से होती है? इस प्रश्न का विवेचन करते हुए उन्होंने (मम्मट) ने कहा है कि प्रयोजन रूप जिस अर्थ की प्रतीति के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, उस अर्थ की अभिव्यञ्जना होती है। अर्थात् व्यञ्जना के द्वारा ही उसकी प्रतीति होती है, जो उसी शब्द के द्वारा होती है—

यस्यप्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिय।॥[४२]

---

४१. आशाधरभट् : कोविदानन्द, अभिधा निरूपण, का ४६
४२. मम्मट : काव्यप्रकाश, द्वितीयोल्लास, सूत्र २३

क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति यदि हम व्यञ्जना के द्वारा न करके यदि हम लक्षणा के द्वारा हुई मानें तो वह लक्ष्यार्थ कहा जाएगा और उसका प्रयोजन उससे भिन्न कोई और अर्थ मानना पड़ेगा—ऐसा करने से अनवस्था दोष पड़ेगा। यदि यह कहा जाय कि प्रयोजन विशिष्ट लक्ष्य ही लक्ष्यार्थ है अर्थात् 'गङ्गायां घोषः' इस प्रयोग में शीतत्व-पावनत्वातिशयविशिष्ट तट ही यदि लक्ष्य हो जाता है तो व्यञ्जना को मानने की आवश्यकता नहीं होगी, किन्तु इस प्रकार की विशिष्ट लक्षणा इसलिए सम्भव नहीं है, क्योंकि लक्षणा एक ज्ञान है और किसी भी ज्ञान के विषय में उसका प्रयोजन भिन्न होता है। लक्षणा ज्ञान का विषय लक्ष्यार्थ हो सकता है तथा इसका प्रयोजन (लक्षणा का फल) लक्ष्यार्थ से भिन्न होना चाहिए। दोनों एक हो ही नहीं सकते।

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।[४३]

का लक्षण भी नहीं हो सकती, क्योंकि लक्षण वही होता है जो 'अव्याप्ति' और 'अतिव्याप्ति' दोनों दोषों से रहित हो। लक्षणा को व्यञ्जना का लक्षण मानने पर दोनों ही दोष आपतित होते हैं, जहाँ व्यञ्जना की कोई संभावना नहीं, वहाँ भी लक्षणा होती है जैसे रूढ़ि लक्षणा तथा विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूला-व्यञ्जना के किसी भी भेद में लक्षणा के लिए कोई अवसर नहीं। इस प्रकार अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोष रहने से लक्षणा, व्यञ्जना का लक्षण नहीं हो सकती।

(३) तीसरा विन्दु है—क्या लक्षणा व्यञ्जना का उपलक्षण है ? इस प्रश्न का विवेचन करते हुए आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः कहा है कि लक्षणा व्यञ्जना का 'उपलक्षण' नहीं हो सकती, क्योंकि **काकवद्देवदत्तस्य गृहम्**' या 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' आदि स्थलों में जिस प्रकार 'काक' पद उपलक्षण मात्र है, उसी प्रकार व्यञ्जना के कुछ स्थल ऐसे है जहाँ लक्षणा अनिवार्यतः होती है। उसके आधार पर 'लक्षणा' को व्यञ्जना का उपलक्षण कहा जा सकता है; किन्तु उससे दोनों की अभिन्नता या लक्षणा में व्यञ्जना की गतार्थता सिद्ध नहीं होती।

आचार्य मम्मट ने इस प्रश्न का अन्य प्रकार से विवेचन किया है। प्रयोजनवती लक्षणा के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि—

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्ययुदाहृतम्।[४४]

---

४३. मम्मट : काव्यप्रकाश; द्वितीयोल्लास, सूत्र २८

४४. वही, सूत्र २९

विशिष्टे लक्षणा नैवं ।[४५]

इस प्रकार प्रयोजन विशिष्टा लक्षणा में लक्षणा न होने से सभी प्रयोजनवती लक्षणाओं के स्थल में फल की प्रतीति के लिए लक्षणा से अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार को मानना सर्वथा अनिवार्य है, उससे उसका लक्षणा में अन्तर्भाव कदापि नहीं हो सकता।

आशाधरभट्ट ने नैयायिकों की तरफ से वृत्तिद्वय की बात करके उनमें व्यञ्जना की गतार्थता व्यक्त की है।

अथाभिधा लक्षणा च वृत्तिरस्तु द्विधैव यत् ।
आद्यायां वा द्वितीयायां व्यञ्जनान्तर्भविष्यति ॥[४६]

यदि अभिधा में नहीं तो लक्षणा में तो इसका अन्तर्भाव ही हो जाएगा। इस पूर्वपक्ष का विवेचन नैयायिकों की तरफ से, निम्न कारिका में द्रष्टव्य है—

अथवा लक्षणाव्यंग्यं प्रत्याययतु केवला ।
उभेवा स्व स्व विषये, न शक्यं कोविदैरिदम् ॥[४७]

यहाँ आशाधरभट्ट ने लक्षणा में व्यञ्जना के गतार्थता रूप नैयायिकों के पक्ष का उपस्थापन 'न शक्यं कोविदैरिदम्' कहकर किया है। वे अपने पक्ष के तर्क में निम्न कारिका लिखते हैं :—

पौवार्पर्यादिभिर्भेदैर्व्यक्तिः शक्तेर्विलक्षणा ।
तत्रान्तर्भवितुं नार्हा धिया सम्यक् परीक्षिते ॥

आशाधरभट्ट का कहना है कि सर्वप्रथम अभिधा-व्यापार से अर्थ प्रत्यायन तदनन्तर उसके बाधित होने पर लक्षणा और दोनों के अनन्तर व्यंग्यार्थ की प्रतीति संभव होने से अभिधा या लक्षणा किसी एक में या दोनों में 'व्यञ्जना' की गतार्थता कथमपि सत्यापित नहीं हो सकती।

एक अन्य कारिका में भी आशाधरभट्ट ने अपने इसी मत को प्रतिष्ठापित किया है—

सम्बन्धनियतत्वेन लक्षणा तां न निर्वहेत् ।
यतः सा नार्थधारायां युगपत् वर्तितुं क्षमा ॥ का० ३४

अर्थात् चूंकि लक्षणा अभिधेयार्थ से सम्बद्ध अर्थ रूप लक्ष्यार्थ की ही

---

४५. मम्मट : काव्यप्रकाश; द्वितीयोल्लास सूत्र ३०
४६. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, व्यञ्जनानिरूपण, का० २५
४७. वही, का० २७

प्रत्यायिका है तथा अनेक अर्थों के एक साथ प्रत्यायन में पूर्ण रूप से असमर्थ भी है, जबकि व्यञ्जना एक साथ अनेक व्यंग्यार्थों की प्रतीति कराने में पूर्ण समर्थ है। अतएव लक्षणा में भी व्यञ्जना की गतार्थता की उद्भावना आकाशकुसुमदर्शनाभि-लाषा से कथमपि भिन्न नहीं।

४. अनुमान में व्यञ्जना के अन्तर्भाव का प्रश्न

आचार्य आनन्दवर्धन ने ही व्यञ्जना और अनुमान के एक होने की सम्भावना का स्वयं ही निराकरण किया है। उनका तर्क है कि ध्वनि और अनुमान इसलिए एक नहीं हो सकते क्योंकि अनुमान की प्रक्रिया में पक्ष, विपक्ष, सपक्ष, व्याप्ति एवं परामर्श आदि जिन बातों की उपलब्धि अनिवार्य होती है, उनकी व्यञ्जना में अपेक्षा नहीं होती। ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबल विरोधी आचार्य महिमभट्ट ने 'व्यक्ति' अर्थात् व्यञ्जना को ध्वनि-सिद्धान्त का प्राणभूत तत्व कहा है तथा उसे अनुमान से अभिन्न सिद्ध किया है। उनका कहना है कि वाङ्मय में जहाँ कहीं भी अर्थान्तर की प्रतीति होती है, वह अर्थ के द्वारा होती है, शब्द के द्वारा नहीं। शब्द के द्वारा तो केवल वाच्यार्थ की प्रतीति संभव है जो अभिधा नाम की वृत्ति से होती है। लक्षणा के स्थल में भी अर्थान्तर की प्रतीति शब्द से न होकर उसके अर्थ के कारण होती है। यथा—'गङ्गायाम् घोषः' में गङ्गा शब्द से उसके संकेतित अर्थ 'प्रवाह' की प्रतीति में बाधा होती हैं, क्योंकि उसमें घोष का आधार होने की योग्यता है। अतः प्रवाह रूप स्वयं अनुपपन्न होकर लक्ष्य रूप अर्थान्तर की प्रतीति का हेतु हो जाता है। यही स्थिति व्यंग्यार्थ की भी है। उन सब स्थलों में 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति का कारण होता हैं। एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति का नाम अनुमान है। इन सब स्थलों में अर्थान्तर की प्रतीति वैसे ही होती है, जैसे पर्वत पर धूम' पदार्थ को देखकर उसके आधार पर 'वह्नि' पदार्थ का ज्ञान, अनुमान से कर लिया जाता है।

आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि लौकिक और साहित्यिक अनुमानों में एक मौलिक अन्तर यह होता है कि 'साहित्यिक अनुमानों में व्याप्ति ग्रहण की अपेक्षा इसलिए नहीं होती कि वहाँ प्रमाण्याप्रामाण्य का ज्ञान अभीष्ट नहीं होता, जहाँ प्रामाण्यक ज्ञान अभीष्ट होता है, वहीं व्याप्तिग्रह एवं परामर्श का प्रयोग किया जाता है।

मम्मट प्रभृति उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने अनुमान में व्यञ्जना की गतार्थता का खण्डन किया है तथा अनुमान से व्यञ्जना को सर्वथा भिन्न सिद्ध किया है। आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पंचम उल्लास में महिमभट्ट के मत का बिवेचन करते हुए कहा है कि 'शब्द से अर्थान्तर की प्रतीति उसके अर्थ से सर्वथा असम्बद्ध

नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा मानने पर शब्द और अर्थ के बीच नियम नहीं रहेगा। परिणामतः जिस किसी शब्द से किसी भी अर्थ की प्रतीति की जा सकती है। किन्तु ऐसा होता नहीं है। जहाँ भी अर्थान्तर की प्रतीति होती है' वहाँ प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध अवश्य होना चाहिए तथा शब्द के वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध भी होना चाहिए। इस प्रकार इन दोनों के बीच पक्षसत्व, विपक्षसत्व और विपक्षव्यावृत्व रूप—तीनों अर्थों के विद्यमान होने से उनमें अर्थान्तर के प्रति 'सद्हेतुता' सिद्ध हो जाती है। सद्हेतु से ही अनुमान किया जाता है। अपने द्वारा ही प्रस्तुत इप पूर्व पक्ष का खण्डन मम्मट ने 'व्यञ्जना' के स्थलों में हेत्वाभास की प्रसक्ति (सम्भावना) दिखाकर अनुमान की सम्भावना का निराकरण किया है।

उदाहरणस्वरूप—

भ्रमधार्मिक विश्रब्धः स श्वाद्यमारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥[४८]

उपरोक्त पद्य में नायिका के द्वारा धार्मिक को 'भ्रमण करने के लिए कहना' ही वाच्य है तथा गोदावरी-कुंज में प्रमत्त सिंह की सत्ता का संकेत देकर भ्रमण न करने की बात व्यंग्य है, जिसके अनुमेय मानने पर पहला दोष यह पड़ता है कि' जो (व्यक्ति) गोदावरी तट पर सिंह के सद्भाव की बात करती है, वह एक पुंश्चली नायिका हैं, जिसकी बात को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः ही सन्दिग्ध है। अतः साध्य के सन्दिग्ध होने से 'असिद्ध' नामक 'हेत्वा-भाव है।

धार्मिक की 'भीरुता 'कुत्ते से डरने से प्रतीत होती है, किन्तु कोई वीर कुत्ते को महत्व न देते हुए उससे अपने को बचा सकता है, जबकि शेर से वह (वीर) नहीं डर सकता। अतः यहाँ विरुद्ध नामक हेत्वाभास है तथा उसे यदि भीरु मान भी लें तो भी राजा या मूर्ख के आदेश अथवा प्रेम के बन्धन में पकड़कर ऐसे स्थलों का भ्रमण कर सकता है, जहाँ सिंह की सद्भावना हो। इस प्रकार अनेकान्तिक नामक हेत्वाभास भी यहाँ विद्यमान है। अतः इन हेत्वाभासों के विद्यमान होने से 'भ्रमण का निषेध रूप व्यंग्य' अनुमेय अर्थात् अनुमान का विषय नहीं हो सकता जबकि वह व्यञ्जना का विषय है। अतः अनुमान में 'व्यञ्जना' का अन्तर्भाव नहीं कहा जा सकता।

आनन्दवर्धन और मम्मट की परम्परा में ही आशाधरभट्ट ने अनुमान में

---

४८. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, प्रथमोद्योत, पद्य ४

व्यञ्जना के अन्तर्भाव के प्रश्न का विवेचन अपनी दोनों कृतियों—**कोविदानन्द** और **त्रिवेणिका** में किया है।

आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द में व्यञ्जना के अनुमान में अन्तर्भूत न होने के दो कारणों का उपन्यास किया है—पहला कारण है व्यंग्य और व्यंजक में व्याप्ति का न बनना।

न गतार्थानुमानेन व्यञ्जना व्याप्त्ययोगतः।
शब्दप्रमाणनिष्ठा तु व्यक्तिवृ'त्तिविलक्षणा ॥[४९]

साहचर्य नियम को व्याप्ति कहते हैं, जो व्यंग्य और व्यंजक में संभव नहीं। व्याप्ति की परीक्षा दो प्रकार से होती है—अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा। अन्वय व्याप्ति में हेतु का प्रयोग पहले और साध्य का प्रयोग बाद में। जैसे—'यत्र-यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः। व्यतिरेक व्याप्ति मे 'साध्यभाव का उल्लेख पहले तथा साध्यभाव का बाद में होता है। जैसे 'यत्र यत्र वह्निभावतत्र तत्र धूमाभावः।'

यद्यपि अनुमान के सभी स्थलों पर दोनों व्याप्तियां नहीं बनती केवल व्यतिरेक की और कैवलव्यान्वयी अनुमान में एक-एक व्याप्ति ही बनती है : क्योंकि उनमें साहचर्य नियम नहीं देखा जाता। एक व्यंजक किसी प्रसङ्ग में जिस अर्थ की व्यञ्जना करता है, सभी स्थलों पर वह उस अर्थ की व्यंजना नहीं कराता। इसी अभिप्राय से आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द की वह कादम्बिनी नामक टीका में लिखा है—

व्यञ्जनाया अनुमानप्रमाणेऽन्तर्भावो न भवतीत्याह—नेति। व्यंग्य-व्यंजनयोः साहचर्यनियमाभावादनुमानप्रमाणेन सकलव्यंग्यप्रत्यायतासम्भवादित्यर्थः।[५०]

इस सन्दर्भ में यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि व्यञ्जना का अनुमान में अन्तर्भाव करने वाले आचार्य महिमभट्ट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'काव्यमार्ग में हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति ग्रहण की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि यहाँ प्रामाण्या-प्रामाण्य का ज्ञान अपेक्षित नहीं होता, अपितु ऐसे सशक्त हेतुओं का प्रयोग किया जाता है, जिनसे साध्य की प्रतीति व्याप्ति ज्ञान के बिना ही सुतरां हो जाती है।

उत्तरवर्ती मम्मट प्रभृति आचार्यों ने महिमभट्ट के इस तर्क के प्रति 'गज-निमीलन' ही किया है न कि इसका खण्डन किया।

आशाधरभट्ट ने उसी सरणि में व्याप्ति-ग्रह की बात उठाकर मम्मट प्रभृति

---

४९. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, व्यञ्जनानिरूपण, कारिका ३५
५०. वही, कारिका ३५ वृत्ति

आचार्यों का बात का पिष्ट-पेषण ही किया है। इस सन्दर्भ में दूसरी बात जो उन्होंने कही है वह यह है कि 'व्यञ्जना शब्द-व्यापार' की कोटि में आने वाली वृत्ति है, क्योंकि उसका विषय शब्द से अर्थ का प्रत्यायन है। अतः अनुमान का वह विषय नहीं होता—

शब्दप्रमाणनिष्ठा तु व्यक्तिवृ॑त्तिविलक्षणा[५१]

आशाधरभट्ट ने अपने ग्रन्थ त्रिवेणिका में भी इसी प्रश्न को 'अत्रतार्किकाः' से उठाया है।

अत्र तार्किकाः—व्यंग्यार्थोज्ञापकेन हेतुनाऽनुमीयते। तदर्थं न व्यंजना स्वीकार्या अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति न्यायात्, अतिरिक्तवृत्तिस्वीकारे गौरवाचेत्याहुः तन्न।[५२]

तात्पर्य यह है कि व्यंग्यार्थ ज्ञापक हेतु के द्वारा अनुमित होता है। अतः उसके लिए व्यञ्जना स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं। 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः इस न्यायानुसार जिस अर्थ की प्रतीति अनुमान के द्वारा ही हो जाती है, इसके लिए अतिरिक्त वृत्ति स्वीकारना समुचित न होगा। पूर्वपक्ष का खण्डन आशाधरभट्ट **तन्न** कहकर करते हैं कि ऐसी बात नहीं है। इसके लिए उन्होंने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसमें व्यंजक और व्यंग्य के हेतु, साध्यभाव का न बनना प्रदर्शित किया है। वह पद्य है —

साधु दूति पुनः साधु कर्तव्यं किमतः परम्।
यन्मदर्थे विलूनासि दन्तैरपि नखैरपि॥[५३]

यहाँ पर सव्यभिचार अनेकान्तिक हेत्वाभास दिखाया गया है।

---

५१ आशाधरभट्ट : कोविदानन्द; व्यञ्जना निरूपणम् का० ३५, उत्तरार्द्ध
५२. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, व्यञ्जनाप्रकरण, पृ० ३६ (१६५७)
५३. वही, पृ० ३६

षष्ठ अध्याय

अलङ्कार विवेचन

क. लक्ष्यलक्षणप्रकारणगत अलङ्कार

अलङ्कार का सामान्य लक्षण

कुवलयानन्द में अलङ्कार का सामान्य लक्षण नहीं किया गया हैं। अतएव आशाधरभट्ट ने **अलङ्कारदीपिका** में दण्डी के लक्षण **काव्यशोभाकरान्धर्मान्'** को उनका नाम देते हुए उद्धृत किया है—

अलङ्कारलक्षणमाह दण्डी काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान् प्रचक्षते[1]

गुण तथा अलङ्कारों में भेद बताते हुए उन्होंने कहा है कि यद्यपि गुण भी काव्य के शोभाकारक हैं; किन्तु वे रस के धर्म हैं। इसलिए इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं पड़ा। इस तरह भट्ट जी को अलङ्कार के सामान्य लक्षण के रूप में **रसधधर्मत्वेसति काव्यशोभाकारकधर्मत्वम् अलङ्कारत्वम्** अभिप्रेत है।

१. उपमालङ्कार :—

आशाधरभट्ट ने उपमा के लक्षण के विश्लेषण में एक नई बात कही है, जो कुवलयानन्द के अनुसार है, किन्तु कुवलयानन्दकार ने अपने विश्लेषण का आधार प्रस्तुत नहीं किया है जबकि **अलङ्कारदीपिका** में इसका आधार पाते हैं :—

यत्र द्वयोः साहृश्यलक्ष्मीरुल्लसति तत्र उपमालङ्कारः। यहाँ लक्ष्मी का अर्थ है शोभा। वह यद्यपि विशेष्य है परन्तु उसे विशेषण बनाकर लक्षण बनाना चाहिए। इस तरह सादृश्य लक्ष्मी का अर्थ होगा **'शोभाविशिष्टसाधर्म्य**।

शोभाविशिष्टं साधर्म्यमित्यर्थः। पूर्वपदार्थस्य विशेष्यस्य प्राधान्यान्वये चमत्कारात्। यथा कुमारसंभवे—'तथैव तस्थुः फणरत्नशोभां इत्यत्र। तदुक्तं तर्कशास्त्रे—'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ सति विशेष्ये बाधे विशेषणमुपसंक्रामतः। सति विशेषणे बाधे विशेष्यमुपसंक्रामतः।' इति उल्लसति अधिकं प्रकाशते तत्रोपमा।[2]

---

१. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।३, वृत्ति

२. वही, १।४, वृत्ति

यद्यपि 'तत्पुरुष समास' में उत्तर पद प्रधान होता है, परन्तु पूर्व पद को प्रधान मानकर यहाँ अन्वय करने से निर्दिष्ट लक्षण बनता है।

आशाधरभट्ट ने यहाँ 'तर्कशास्त्र' का एक वचन प्रस्तुत किया है, जिसका अर्थ है विधि या निषेध। सविशेषण विशेष्य में यदि बाधित हो तो विशेषण में उपसंक्रान्त होता है। जैसे—कुमारसम्भव के **तथैव तस्थुः फणरत्नशोभा**' में (इसमें) शरीर मात्र का ही रूपान्तर को प्राप्त होता है। शोभायुक्त फणरत्न यथावत् रहे। इस श्लोक में भी शोभा शब्द को फणरत्न का विशेषण बनाया गया है। इसी तरह लक्ष्मी शब्द को 'सादृश्य' का विशेषण मानना चाहिए। इसका संकेत स्वयं अप्पयदीक्षित ने दिया था। उन्होंने कुवलयानन्र के **सादृश्य लक्ष्मीः** पद का अर्थ लिखा था—'चारु सात्दृश्यम्' परन्तु यह अर्थ कैसे निकला, इस प्रश्न का उत्तर आशाधरभट्ट ने ही दिया है।

उपमा के विश्लेषण में और बातें समान हैं। कुवलयानन्द में जैसे पूर्णोपमा का एक और लुप्तोपमा के आठ भेद बताकर लक्षण-समन्वय किया गया है, उसी का पिष्ट-पोषण यहाँ हुआ है।

२. **अनन्वयालङ्कार** :—

इसकी व्याख्या में कोई नवीनता नहीं है।

३. **उपमेयोपमालङ्कार** :—

इसके उदाहरण में क्रिया का प्रयोग नहीं है। इसके सम्बन्ध में भट्ट जी ने बताया है कि 'अस्ति' क्रिया स्वयं आ जाती है। इसीलिए इसका प्रयोग नहीं भी किया जाता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने पातंजलमहाभाष्य से एकवचन उद्धृत किया है।

अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषे प्रयुज्यमानोऽप्यस्ति
इति भाष्योक्तेः।[3]

४. **प्रतीपालङ्कार** ।—

इसकी व्याख्या में नाम का निर्वचन किया गया है। प्रतीप का अर्थ होता है—उल्टा जाने वाला या बहने वाला। इसमें उपमान को उपमेय बनाया जाता है। इसी उल्टेयन के आधार पर इसका नाम 'प्रतीप' रखा गया है। आशाधरभट्ट ने बताया है कि यह शब्द कैसे बना है :—

उपमानस्य अधिकं गुणस्य उपमेयत्वप्रकल्पनं वर्णनं प्रतीपम्। प्रतिगच्छन्ति आपो यस्मिन्निति प्रतीपं निम्नोन्नतस्थलं तत्सादृश्यादलंकारे लक्षणा[4]

---

३. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।९, वृत्ति
४. वही, १।१० वृत्ति

प्रतीत के दूसरे भेद में अन्योपमेय लाभ से वर्णनीय उपमेय का अनादन दिखाया जाता है, जैसे कोई प्रेमी, प्रेमिका से कहता है कि 'मुख की शोभा के कारण तेरा गर्व करना व्यर्थ है, क्योंकि चन्द्रमा भी तेरे मुख के समान है।' इस उदाहरण में 'गर्वेण' में जो तृतीया विभक्ति हुई है वह 'गम्यमानापि क्रिया कारक विभक्तौ प्रयोजिका' इस नियम के कारण में हुई है, अन्यथा चतुर्थी हो जाती—

'हे प्रिये, ते वक्त्रकान्त्या मुखशोभया हेतुना गर्वेणालं न किञ्चित्साध्यम्। 'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इति करणत्वात्तृतीया। अन्यथा चतुर्थी स्यात्। चन्द्रोऽपि तादृशस्त्वद्वकुसदृशः। चन्द्रस्य **न्यूनगुणत्वात्प्रतीपम्।**[५]

प्रतीप के तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम भेदों के विश्लेषण में केवल मूल का अर्थ ही बताया गया है।

५. रूपकालङ्कार :—

रूपक अलङ्कार के लक्षण में कहा गया है कि उपमेय तो उपमान का अभेद और ताद्रूप्य देकर कहना एक के रूप से दूसरे को युक्त करने के कारण रूपक कहलाता है। इसके भेदों की गणना करते समय क्रम रखा गया है। अधिक्योक्ति-रूपक, न्यूनत्वोक्तिरूपक और अनुभवोक्ति रूपक। परन्तु उदाहरण देते समय सर्वप्रथम अनुभवोक्ति रूपक का उदाहरण दिया है। वह है **अयं हि धूर्जटिः साक्षाद्येन दग्धाः पुरः क्षणात्।**[६] का तद्रूपश्यदि अभेदरूपक में **न्यूनत्वोक्ति** रूपक का उदाहरण दिया गया है—'अयमास्ते विना शम्भुस्तार्तीयीकविलोचनम्।[७]

इसका तीसरा उदाहरण 'शम्भुर्विश्वमवत्यद्य स्वीकृत्य समदृष्टिताम् है। आशाधरभट्ट कहते हैं कि **'समदृष्टिना स्वीकारस्तु भाललोचनस्य गोपनेन विवक्षितः। अन्यथा आधिक्यं न सिध्येत्, पूर्व विषमदृष्टित्वादिति भावः। विश्व-मवति जगद्रक्षति नतु। संहरतीति भावः। अत्राधिक्यभेदरूपकम्।** अर्थात् यह राजा शम्भु हैं। वह समदृष्टि बनकर जगत् की रक्षा करता है। यहाँ शम्भु की अपेक्षा राजा में समदृष्टिता बताई गई हैं। महादेव तो विषम दृष्टि है। वह संसार का तृतीय नेत्र खोलकर संहार करते हैं। परन्तु राजा रूपी यह शम्भु समदृष्टि बनकर

---

५. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका; १।११, वृत्ति
६. वही, १।१६ पूर्वार्द्ध
७. वही, १।१८ पूर्वार्द्ध
८. वही, १।१७ पूर्वार्द्ध
९. वही, १।१७ वृत्ति

जगत् की रक्षा कर रहा है। इसीलिए यह अभेदरूपक में आधिक्योक्ति रूपक का उदाहरण है।

चौथा उदाहरण दिया गया है—'**अस्या मुखेन्दुना लब्धे नेत्रानन्दे किमिन्दुना**'[१०] क्रमशः पांचवे और छठे उदाहरण प्रस्तुत कारिका में है :—

साध्वीयमपरालक्ष्मीरसुधा सागरोदिता।
अयं कलंकिनः चन्द्रात् मुखचन्द्रोऽतिरिच्यते।।[११]

इस तरह मूल में जिस क्रम से भेदों को गिनाया गया है उस क्रम से उदाहरण न देकर विपरीत क्रम से उदाहरण देना अनुचित है और मीमांसा के 'स्थान' नामक प्रमाण के विरुद्ध है। मीमांसा मानती है कि 'सक्रम निरूपण करना चाहिए। पाणिनि भी कहते है—**यथासंख्यमनुदेशः समानाम्।** इस तरह प्रतिलोम क्रम से उदाहरण देने के कारण आये हुए दोष का परिहार करते हुए आशाधरभट्ट कहते हैं कि वक्ता—की इच्छा स्वतन्त्र होती है। वह विश्लेषण करते समय स्वतन्त्र है। इसीलिए अनुलोम या प्रतिलोम किसी क्रम से—विश्लेषण कर सकता है।

उन्होंने पाणिनि के समकालीन वैयाकरण 'व्याडि' का एक वचन उद्धृत किया है जिसका अर्थ है—"शब्दार्थ का बोध वक्ता की विवक्षा के अनुसार होता है, इसीलिए अनुलोम क्रम से उदाहरण देना भी युक्ति-युक्त ही है।

अप्पयदीक्षित ने इतना ही लिखा है कि अनुलोम क्रम से दिया गया है तथा उसका समर्थन नहीं किया है। इसीलिए आशाधरभट्ट की यह नई उद्भावना है जिससे पाठक के मन में ग्रन्थ के अनौचित्य का प्रश्न उठता है, उसका समाधान हो जाता है। भट्ट जी ने लिखा है—

प्रतिलोमक्रमेणोदाहारणान्याह विवक्षायाः स्वातन्त्र्यात्। वक्तुर्विवक्षा पूर्विका शब्दार्थप्रतिपत्तिः इति व्याडिवचनात्।[१२]

रूपक के प्रमुख दो भेद होते हैं। अभेदरूपक और ताद्रूप्य रूपक। इन दोनों के तीन-तीन भेद होते हैं। इस तरह यहाँ रूपक के ६ भेद सोदाहरण बताए गए हैं। उन्हीं का विश्लेषण कर लक्षण का संगमन अलङ्कारदीपिका में दिया गया है।

६. परिणामालङ्कार :

जहाँ उपमान उपमेय के साथ अभिन्न होकर क्रिया में अन्वित होता है, वहाँ परिणामालङ्कार होता है।

---

१०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्द कारिका; १।१७ उत्तरार्द्ध

११. वही, १।१८

१२. वही, १।१६ वृत्ति

विषयी आरोपविषययुक्तश्चन्द्रादिः विषयात्मना विषयो मुखादिः तद्रूपेण। क्रियार्थः क्रियार्थे इति क्रियार्थः क्रियासाधकश्चेत्तर्हि परिणामः।[13]

रूपक में उपमान स्वतन्त्र रूप से क्रिया में अन्वित होने की योग्यता रखता है। जैसे '**मुखचन्द्रं पश्य**' यहाँ **चन्द्रं पश्य एवं मुख पश्य**—दोनों कहा जा सकता है, किन्तु 'यहाँ परिणामालङ्कार इसलिए है कि कमल 'वीक्षण' क्रिया में करण कारक बनकर अन्वित होने की योग्यता स्वयं नहीं रखता। इसीलिए यह आवश्यक है कि वह नेत्र के साथ अपने आप को अभिन्न कर ले। रूपक और परिणाम में यही मौलिक भेद है। कुवलयानन्दकार ने '**दृगब्जेन**' में '**मयूरव्यंसकादयश्च**' सूत्र से समास माना है। उस समास में विग्रह होगा—दृक् अब्जं दृगब्जं तेन दृगब्जेन। उत्तर प्रधान होने से क्रिया में अन्वय होना उचित है तथापि वह बाधित होकर नेत्र के साथ अभेद में परिणत होगा और तब यहाँ परिणामालङ्कार बनेगा। आशाधरभट्ट का कहना है कि यहाँ 'प्रसन्नेन' पद से सामान्य धर्म का प्रयोग हुआ है। इसीलिए '**उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे**' इस सूत्र से समास नहीं होगा। इसीलिए यहाँ उपमालङ्कार नहीं मान सकते। उन्होंने मयूरव्यंसिकादि० समास को 'रूपक का विषय माना है। इसीलिए वे 'दृगब्जेन' में 'मयूरव्यंसकादि' समास नहीं मानते। वे कहते हैं हैं कि यहाँ 'दृक्' पद का अर्थ है—अदृक् दृग्भूतं इति दृग्भूतं। दृग् भूतं अब्जं दृगब्जं तेन' मध्यम पद लोपी समास होकर जो कमल नेत्र नहीं था वह कमल नेत्र बन गया है। इस तरह परिणाम के उदाहरण की व्याख्या में नवीनता है जो युक्तियुक्त भी है। इस व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपमा, रूपक, और परिणाम में परस्पर क्या भेद है और उस भेद का मुलाधार कौन सा निर्वचन है।

७ **उल्लेखालङ्कार :—**

उल्लेख एवं उसके दोनों भेदों के विश्लेषण में कोई नयापन नहीं हैं।

८,९,१०. **स्मृति, भ्रान्ति और सन्देह अलङ्कार :—**

आशाधरभट्ट ने इनका नाम क्रमशः स्मृतिमान्, भ्रान्तिमान् और सन्देह करने का औचित्य बताया है, परन्तु 'कुवलयानन्द' मैं यह कहा गया है कि सृति भ्रान्ति और सन्देह का ही सादृश्य के आधार पर निबन्धन होने से स्मृति भ्रान्तिमान् और सन्देह नामक तींन अलङ्कार हो जाते हैं।

आशाधरभट्ट ने अपने लक्षण में कुवलयानन्दकार की तरह 'सादृश्यात् निबध्यमानैः' इस पद का निवेश नहीं किया है। वे लिखते हैं—

---

१३. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१९ वृत्ति, पृ० ११

१४. वही, १।१९ उत्तरार्द्ध

स्मृति भ्रान्ति संदेहैः स्मरणभ्रमसंशयैः, करणैस्तदङ्कालंकृतित्रयं ते अङ्काः यस्य तत्तदङ्क वद्वाचकशब्दयुक्त नामकं अलंकृतीनां त्रयं स्यात् ।।[१५] स्मृति, भ्रान्ति एवं सन्देह की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं--

प्रथमज्ञानमनुभवः तस्य पुनर्नवीभावः स्मृतिः । मिथ्याज्ञानं भ्रान्तिः । अनुभवभ्रमयोगः सन्देहः ।[१६]

११. अपह्नुति अलङ्कार :—

'अपह्नुति' के ६ भेदों का निरूपण अप्पयदीक्षित ने किया है। उनमें पाँच भेदों की व्याख्या करते समय आशाधरभट्ट ने केवल मूल का अर्थ तथा उदाहरणों में लक्षणों का समन्वय मात्र किया है। छठा भेद '**छेकापह्नुति**' अलङ्कार का है। इसमें दूसरे की शंका पर तथ्य का निषेध किया जाता है या तथ्य को छिपाया जाता हैं। जैसे नायिका ने सखी से कहा – **प्रजल्पन् मत्पदे लग्नः**' यह सुनकर सखी ने प्रश्न किया '**किं कान्तः ? नहि किन्तु नुपुरः ।**

यहाँ आशाधरभटट प्रश्न उठाते हैं कि जल्प् धातु का अर्थ स्पष्ट वचन होता है किन्तु नूपुर की ध्वनि तो अव्यक्त होती है, वर्णात्मक नहीं होती। अतः नूपुर के साथ उसका सम्बन्ध नहीं जुड़ता। फिर भी **धातूनामनेकार्थत्वात् उपसर्गयोगाद् वा' प्रजल्पन्निति नूपुर विशेषः**[१७] यह स्वीकार्य है। तात्पर्य यह है कि **प्र** लग जाने से यह वस्तु विशेष के साथ धातु का विशेष अर्थ में प्रयोग को देखकर प्रजल्पन् का अर्थ अव्यक्त ध्वनि और व्यक्त दोनों कर सकते हैं। वस्तुतः '**जल्प्**' का अर्थ व्यक्त वचन होते हुए भी उसमें गुनगुनाहट ही अधिक रहती है। अतः इसका सम्घन्ध नूपुर के समान ठीक ही बैठता है।

१२. उत्प्रेक्षा असङ्कार :—

अवस्तु की वस्तु रूप में, अहेतु की हेतु रूप में तथा अफल की फल रूप में संभावना करने से उत्प्रेक्षालङ्कार होता है।

उत्प्रेक्षा नाम की सार्थकता भट्ट जी ने बतायी है। इसके तीन खण्ड हैं, उत्, **प्र और ईक्षा ।**

उत् ऊर्ध्वम् गता प्रेक्षा दृष्टिः प्रज्ञा वा यस्यां सा उत्प्रेक्षा । वितर्कं कुर्वता दृष्टिर्हि तथा प्रसिद्धा ।[१८] अर्थात् तरह तरह की ऊह या कल्पना करने वाले कवि की दृष्टि या प्रज्ञा जब बहुत दूर की उड़ान भरती है, तब उत्प्रेक्षालङ्कार की सृष्टि

---

१५ आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।२२, वृत्ति पृ० १२

१६. वही, १।२२, वृत्ति, पृ० १२

१७ वही, १।२९, एवं वृत्ति

१८. वही, १।३०, वृत्ति

होती है। नाम की पूर्वोक्त अन्वर्थता बताने के अतिरिक्त भट्ट जी ने **हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा**—इन दोनों के बीच मौलिक भेद बताने वाले उत्प्रेक्षा बोधक शब्दों के स्थान विशेष का परिचय कराया है। वे कहते हैं—

हेतूत्प्रेक्षायां तृतीयान्तात् पंचम्यन्तात् वा परः इवादि शब्दः 'फलोत्प्रेक्षायां चतुर्थ्यन्तात् तुमन्ताद्वा परः इवादिः इति प्रायेण भेदः।[१९]

इस तरह फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा को जानने के लिए उनका यह वाक्य सूत्र का कार्य करता है। वे उत्प्रेक्षाबोधक शब्दों को भी गिनाते है—इव, नूनम्, किम्, प्रायः, ध्रुवम्, **असंशयम् किमु वा, न खलु, स्वित्, आहोस्वित्, उत्, उताहो, शङ्के, वेद, सत्यम्।**[२०]

उत्प्रेक्षा का उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'उपमा दूरगस्यापि न तु सम्भावना तथा। रूपके निश्चितारोप उत्प्रेक्षायां त्वनिश्चितः।[२१] इस श्लोक के द्वारा उपमा उत्प्रेक्षा और रूपक के बीच जो पार्थक्य है वह स्पष्ट हो जाता है। उनका कहना है कि सम्भावना दूरस्थ वस्तुओं के बीच नहीं की जा सकती। सादृश्य तो बताया जा सकता है। इसीलिए दूरग वस्तुओं के बीच भी सादृश्य दिखाकर उपमा अलङ्कार की सृष्टि कवि करते हैं। जैसे—कालिदास ने किया है—**श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्** परन्तु सम्भावना में उपमेय को प्रत्यक्ष होना चाहिए। रूपक में आरोप निश्चित होता है, किन्तु उत्प्रेक्षा में अनिश्चित। जैसे—**चरणकमलं पश्य** यहाँ चरण में कमलत्व का आरोप निश्चयात्मक बुद्धि से किया गया है। वक्ता चरण को कमल के रूप में मानता है, किन्तु जब कहेंगे '**मन्ये इमे चरणे कमले**' तब वक्ता चरण में कमल की सम्भावना मात्र करता है, किन्तु वह निश्चित रूप से कमल नहीं मानता। इस तरह रूपक का प्रभाव सबसे अधिक, उपमा का उससे कम और उत्प्रेक्षा का उससे भी कम होता है, क्योंकि सादृश्य भेद घटित होता है जो कि उपमा का बीज है। रूपक में अभेद या ताद्रूप का भेद होता है। इसीलिए उपमान और उपमेय के बीच का भेद वहाँ रहता ही नहीं है। उत्प्रेक्षा में तो संभावना मात्र रहती है, इसलिए आरो र अनिश्चित होता है। इस तथ्य का आशाधरभट्ट ने यहाँ संक्षेप में संकेत कर दिया है।

१३. अतिशयोक्ति अलङ्कार :—

अतिशयोक्ति के प्रथम भेद का लक्षण मूल में '**रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः**' दिया हुआ है। इसमें '**नि ीर्य**' के बाद 'विषयम्' का अध्याहार

---

१९. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।३० वृत्ति

२०. वही, १।३० वृत्ति

२१s वही, १।३३, वृत्ति

करके आशाधरभट्ट ने लक्षण किया है। **विषयम् (उपमेयम्) अनिबध्य अध्यवसानतः (आहार्यनिश्चयात्) अतिशयोक्तिर्भवति।** आहार्य निश्चय का लक्षण करते हुए कहा है—**बाधकालीनमिच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यनिश्चयः।** यहाँ 'कालीनम्' यह प्रयोग अपाणिनीय है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'कालिकम्' ही होता है।[२२]

१. अक्रमातिशयोक्ति अलङ्कार :

अक्रमातिशयोक्ति में कारण और कार्य का सहभाव दिखाया जाता हैं। सहभावाभिधानेन क्रमरहितत्वात्' इस नाम की अन्वर्थता भट्ट जी ने वताई है।

(२) चपलातिशयोक्ति अलङ्कार :—

चपलातिशयोक्ति इस नाम की सार्थकता दिखाते हुए भट्ट जी ने कहा है **'कारणप्रसंगमात्रेण कार्योत्पतिवर्णनाच्चपलत्वम्।'** अर्थात् कारण की सम्भावना मात्र से कार्य फी उत्पत्ति का वर्णन यह सूचित करता है कि कार्य स्वयं की उत्पत्ति के लिए अत्यन्त व्यग्र था। उसने न कारण की अपेक्षा की और न कारण के विविध व्यापार की। इस व्यग्रता के वर्णन से **''यास्यामीत्युदिते तन्व्या वलयो भवदूर्मिका।**[२३] इस वाक्यार्थ से नायिका में यियोग की अत्यन्त असहिष्णुता प्रगट होती है, जिससे अनुरागातिशय अभिव्यक्त होता है।

३. अत्यन्ताशयोक्ति अलङ्कार :—

अत्यन्तातिशयोक्ति में कार्य की कारण से पहले उत्पत्ति बताई जाती है। लोक में कारण पहले रहता है और कार्य वाद में आता है। काव्य में जब इस क्रम में व्यत्यय दिखाया जाता है तो असम्भावना प्रगट होती है और असम्भवता शीघ्रातिशय में परिणत होकर यह सूचित करती है कि कार्य की उत्पत्ति इतनी शीघ्रता से हुई कि लोगों को ऐसा लगा जैसे कार्य कारण से पहले हो गया है। **असंभाव्यत्व वर्णनमति शीघ्रातिशयद्योतनाच्चमत्कारः हेतुः।**

इस प्रकार भट्ट जी ने नामों की अन्वर्थता अपनी टीका में दिखाई है।

१४. तुल्ययोगिता अलङ्कार :—

तुल्ययोगिता तब होती है जब अनेक वर्णन पदार्थों का एक धर्म में अन्वय दिखाया जाता है अथवा अनेक अवर्णनीय (अप्रस्तुत) पदार्थों के बीच एक धर्म का सम्बन्ध दिखाने पर भी तुल्ययोगिता होती है। इन दोनों भेदों को प्रायः सभी आलङ्कारिकों ने स्वीकार किया है। इसमें **संकुचन्ति सरोजानि स्वैरिणीवदनानि**

---

२२. पाणिनि : अष्टाध्यायी, ४।३।११

२३. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्द कारिका, उत्तरार्द्ध, १।४०

२४. वही, १।४१ वृत्ति २२ पृष्ठ

च ।[२५] चन्द्रोदय का वर्णन है। जैसा कि भट्ट ने **चन्द्रोदये इति शेषः** में दिखाया है। इसीलिए सरोज और स्वैरिणीवदन दोनों ही प्रस्तुत अर्थात् वर्णनीय हैं। उनमें **'संकुचन्ति'** रूप एक धर्म का अन्वय बताया गया है। इसीलिए यह पद्य प्रथम भेद का उदाहरण है।

'त्वदङ्गमादेवे दृष्टेकस्य चित्ते न भासते ।[२६] इस पद्य में नायिका का अंग-सौकुमार्य वर्णनीय है—मालती, शशमृल्लेख और कदली तीनों अप्रस्तुत हैं। उपमेय हैं। उनमें कठोरता रूप एक धर्म का अन्वय दिखाया गया है। इसीलिए द्वितीय भेद का उदाहरण है। तुल्ययोगिता का तृतीय भेद दीक्षित के द्वारा उद्भावित है। **हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता**[२७] जहाँ हित और अहित (मित्र और शत्रु) के प्रति वृतितौल्य (समान व्यवहार) वर्णित हो वहाँ भी तुल्ययोगितालङ्कार होता है। जैसे—हे नृप ! आप मित्र और शत्रु दोनों को पराभूति देते हैं। मित्र को परा (उत्कृष्ट) भूति (ऐश्वर्य) तथा शत्रु को पराभूति (पराभव) देने के कारण **'परा-भूति तथा पराभूति** श्लेषमूलक अभेदाम्यास होने से **पराभूतिः दीयते'** इस वाक्य के कर्त्ता राजा को मित्र और शत्रु के प्रति समान (तुल्य) व्यवहार करने वाला कहा गया है। इसीलिए तुल्ययोगिता है।

भट्ट जी ने **हिताहिते** में एकवचन की सिद्धि के लिए **सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति**[२८] इस परिभाषा को उद्धृत किया है। वृत्तितौल्य के तौल्य की सिद्धि **युवादित्वादण् प्रत्ययः** मानकर की है। **'मित्रशात्रवयोः** में सम्प्रदानत्वा भावान्न चतुर्थी (किन्तु षष्ठी) मानी है। उनका तात्पर्य है कि सम्प्रदान वह दान है, जिसमें दाता देय बस्तु पर से अपना अधिकार हटाते हुए प्राप्तिकर्ता का अधिकार स्वीकार कर लेता है। यहाँ 'पराभव' शत्रु को दिया गया है, परन्तु शत्रु को इतना क्षीण रखा गया है कि उस प्राप्त **'पराभव'** का दाता (अधिकारी) वह नहीं बना है। इसीबिए यहाँ सम्प्रदान नहीं है।

परन्तु पातञ्जल महाभाष्य के **खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति** इस प्रयोग के आधार पर तथा 'साधकतमं करणम्' के 'तमप्' ग्रहण द्वारा ज्ञापित 'अस्मिन् कारिकाधिकारे शब्द सामर्थ्यगम्यः प्रकर्षोनाश्रीयते' ज्ञापन के कारण **सम्प्रदान** का सम्यक् **(स्व स्वत्व निवृत्ति पूर्वकम्) प्रकर्षेण पर स्वत्वोत्पादात्मकेन व्यापारेण दानम् सम्प्रदानम्** व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती। इसीलिए सम्बन्ध विवक्षा में षष्ठी माननी चाहिए।

इसे पण्डितराज जगन्नाथ ने अलग से तुल्ययोगिता का भेद नहीं माना है। उनका कहना है कि यह भेद भी **'वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता'** वाले पूर्ण

---

२५. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।४२, उत्तरार्ध, पृ० २२
२६. आशाधरभट्ट : कु० का० १।४३, पूर्वार्द्ध, पृ० २३
२७. वही, १।४४ पूर्वार्द्ध पृ० २३
२८. वही १।४४ वृत्ति

लक्षण में ही समाविष्ट हो जाता है। अतः इसे अलग भेद मानने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने लिखा है—**एतेन हिताहिते...इत्यादिना तुल्ययोगितायाः यत्कुवलयानन्द कृता लक्षितमुदाहृतञ्च तत्परास्तम्। अस्या अपि वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता इति पूर्वलक्षणाक्रान्तत्वात्।**[२९]

अलंकारचन्द्रिका[३०] मैं जगन्नाथ का खण्डन करके अप्पय का समर्थन किया गया है। परन्तु भट्ट जी ने उस खण्डन-मण्डन की चर्चा नहीं की है और केवल मूल की व्याख्या प्रस्तुत की है।

जिस तुल्ययोगिता के प्रकारान्तर का लक्षण और उदाहरण अप्पय ने **'गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचोऽन्या तुल्ययोगिता।**[३१] दिया है उसमें लोकपालत्व रूप उत्कृष्ट गुण के द्वारा राजा को यम, वरुण, कुबेर और इन्द्र के समान बताकर वर्णन किया गया है। इसीलिए अप्पय के अनुसार तुल्ययोगिता है। अन्य आलङ्कारिक यहाँ दीपक मानते हैं। क्योंकि यहाँ प्रस्तुत राजा और अप्रस्तुत यम, वरुण आदि में लोकपालत्व रूप एक धर्म का वर्णन है। अतः **'वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपक बुधाः'** इस दीपक के लक्षण से आक्रान्त होने से दीपक ही है।[३२]

आशाधरभट्ट ने अन्य आलङ्कारिकों के मत का खण्डन किया है। वे लिखते हैं—**'अत्रलोकपालत्वेन प्रकृताप्रकृतयोस्तुल्यत्वं वाच्यार्थः। प्रतापादिगुणोत्कर्षेण तुल्यत्वं तु व्यङ्ग्यार्थ इति विशेषः। दीपके तु व्यङ्ग्यार्थो नास्ति।**[३३] अर्थात् जो लोकपालत्व धर्म प्रकृत और अप्रकृत में समान दिखाया गया है, वह वाच्यार्थ और प्रतापादि गुण (**नियन्त्रण**) कैद करना, दानशीलता आदि गुणोत्कर्ष दिखाकर राजा और यमादि में तुल्यता **व्यङ्ग्यार्थ** है। दीपक में **व्यङ्ग्यार्थ** नहीं होता।

इस तरह आशाधरभट्ट ने इसे दीपक से पृथक् मानने का समर्थन किया है। परन्तु मेरे मत से दीपक में भी साम्य व्यङ्ग्य होता है, जैसे **'मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः'** यहाँ मद और प्रताप में कलभ तथा महीपति में साम्य प्रतीत होता है। इसलिए उपमा व्यङ्ग्य है, परन्तु उस उपमा में व्यङ्ग्य से दीपक में अधिक चमत्कार है। अतः वह उपमा यहाँ विवक्षित नहीं है।

---

२९. पण्डितराज जगन्नाथ रसगङ्गाधर, पृ० १२६

३०. अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द अलङ्कारचन्द्रिका टीका पृ० ३०

३१. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।४५

३२. अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द (अलङ्कारसुरभि नाम्नी टीका से संकलित) पृ० ५९

३३. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।४५, वृत्ति, पृ० २४

पूर्वोक्त उदाहरण में वस्तु व्यङ्ग्य चमत्कारी है । अतः विवक्षित है, यह भेद मानना चाहिए । इस प्रकार भट्ट जी ने यह लिखा है—'दीपके व्यङ्ग्यार्थों नास्ति उसका तात्पर्य है कि दीपक में वस्तु व्यङ्ग्य नहीं रहता है । पूर्वोक्त तुल्ययोगिता में तो वस्तुव्यंग्य है । अतः यह तूल्यतोगिता दीपक से पृथक् है ।

इस तुल्ययोगिता को जयदेव सिद्धि नामक लक्षण कहते हैं । सिद्धिः ख्यातेषु चेन्नाम कीर्त्यते तुल्ययोक्तये । युवामेवेह विख्यातौ त्वं बले जलधिर्जलैः चन्द्रालोक के टीकाकार वैद्यनाथ पायगुण्डे ने लिखा है—**इयं गुणोत्कृष्टैरिति तुल्ययोगितान्तर्गतेति कश्चित् ।**[३४]

१. आवृत्ति दीपक अलङ्कार :—

त्रिविधं दीपकावृत्तौ भवेदावृत्तिदीपकम् (का० ४७) की व्याख्या करते हुए आशाधरभटट ने लिखा है—**दीपकावृत्तौ देहलीदीपकन्यायेनानेकोपकारकस्य पद-स्यार्थस्योभयोर्वा आवृत्तौ पुनरभिधाने त्रिविधं दीपकमिति व्युत्पत्तेः ।**[३५] 'देहलीदीप-कन्यायसे अनेक से उपकारक पद अथवा अर्थ अथवा पद और दोनों की आवृत्ति (पुनः पुनः कथन) रहने पर तीन प्रकार का आवृत्ति दीपक अलङ्कार माना जाता है । पदावृत्ति दीपक, अर्थावृत्ति दीपक और उभयावृत्ति दीपक । जैसे **वर्षत्यम्बुद-मालेयं...शर्वरी ।** यह मेघमाला बरस रही है (वर्षति) और यह रात वर्ष के समान (लम्बी) लग रही है । यहाँ दीपक (धर्मैक्य बोधक) पद वर्षति की आवृत्ति होने से पदावृत्ति दीपक है । भट्ट जी ने यद्यप्यत्र प्रथमं 'वृषु सेचने' इति धार्तोलटि रूपं द्वितीयं च वर्षशब्दस्याचारक्विवन्तस्येति पदभेदस्तथापि समानत्वेनाभेदाध्यवसा-यात्पदावृत्तिः (पृ० २५ पर व्याख्या भाग) लिखकर शङ्का का समाधान प्रस्तुत किया है कि अम्बुदमाला वर्षति' में वर्षति पद वृषु सेचने धातु का लट् लकार के प्रथम पुरुष का रूप है और वर्षत्येषा च शर्वरी में वर्षति शब्द वर्ष शब्द से आचार क्विप् करके बनता है। इस तरह पद भेद है । तथापि (आनुपूर्वी) समान होने के कारण दोनों में अभेद का अध्यवसाय माना गया है । इसीलिए यहाँ पदावृत्ति मानी गई है ।

अर्थावृत्ति दीपक का उदाहरण 'उन्मीलन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटज-द्रुमाः'[३६] है । कदम्ब के फूल खिलते हैं और कूटज की कलिया विकसित हो रही है । यहाँ कदम्ब और कुटज रूप पदार्थों के साथ विकास रूप एक धर्म का अभि-सम्बन्ध बताया गया है । यहाँ 'उन्मीलन्ति' और 'स्फुटन्ति' दोनों पद भिन्न आकार के हैं, परन्तु अर्थ एक है । अतः अर्थावृत्ति होने से अर्थावृत्ति दीपक है—

अत्र क्रियापदद्वयस्यार्थमात्रावृत्तिः ।[३७]

---

३४. जयदेव; चन्द्रालोक ३।८

३५. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।४७, वृत्ति

३६. वही, १।४८ पूर्वार्द्ध

३७. वही, १।४८ वृत्ति

'मील संश्लेषणे' इति धातोरुपसर्गयोगादर्थभेदः यहाँ 'मील्' धातु का अर्थ संश्लेषण अर्थात् बन्द होना मिलता है तथापि 'उत् उपसर्ग के कारण इसका वही अर्थ होता है जो कि स्फुटन्ति का होता है। कदम्ब का तो अर्थ कदम्ब का वृक्ष और फूल दोनों होता है, परन्तु 'कुटजद्रुगा स्फुटन्ति' का अर्थ कुटजद्रुम फूटते हैं। यही हो सकता है। तथापि लक्षणा के द्वारा यहाँ कुटजद्रुमा का अर्थ—उनके फूल' किया जाता है। 'लक्षणया तत्पुष्पाणि गृह्यन्ते।[३८]

माद्यन्ति च तक्रास्तृप्ता माद्यन्ति च शिखावलाः[३९] में उभयावृत्ति नामक आवृत्ति दीपक है क्योंकि यहाँ 'मदी हर्षे' धातु से ही बने हुए रूप माद्यन्ति की आवृत्ति है। अतः पद और अर्थ दोनों का पुनः कथन है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि पूर्वोक्त तीनों उदाहरणों में वर्षा ऋतु का वर्णन होने से मेघवर्षण तथा रात्रि दीर्घता, कदम्ब और कुटज, चातक और मोर सभी वर्ण्य है। इसलिए '**वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः** अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में एक धर्मान्वयन को दीपक कहते हैं। दीपक का यह सामान्य लक्षण यहाँ नहीं घटता। इस तरह यहाँ दीपक ही नहीं है, फिर आवृत्ति दीपक कैसे माने? इसका समाधान अप्पय ने अपनी वृत्ति में दिया है—एवं **चावृत्तीनां प्रस्तुताप्रस्तुतोभय-विषयत्वाभावेऽपि दीपकच्छायापत्तिमात्रेण दीपकव्यपदेशः।**' अप्पय का तात्पर्य यह है कि आवृत्तिदीपक में दीपक सामान्य की तरह यह नियम नहीं है कि जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों तरह के पदार्थों में धर्मैक्य हो वहीं आवृत्ति दीपक हो। इसमें तो प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत दोनों तरह के पदार्थों में ऐच्छिक निबन्ध पाया जाता है। **वर्षत्यम्बुद-मालेयम्** इस उदाहरण में वर्षाकाल के वर्णन में **अम्बुदमालाकर्तृकवर्षण और शर्वरी-कर्तृकवर्षवद्दीर्घताप्रापण** दोनों प्रस्तुत हैं।

वदनेन निर्जितं तव निलीयते चन्द्रबिम्बाम्बुधरे।
अरविन्दमपि च सुन्दरि निलीयते पाथसां पूरे ॥[४०]

अर्थात हे सुन्दरि तेरे मुख से विजित चन्द्रमा बादल में और कमल पानी में अपने आप को छिपाता रहता हैं। यहाँ सुन्दरि का वर्णन प्रस्तुत है और कमल और चन्द्रमा दोनों अप्रस्तुत हैं तथा दोनों के बीच धर्मैक्य है, छिपाना। इस तरह उदाहरण से स्पष्ट है कि आवृत्तिदीपक में वैसा कोई नियम नहीं है, जैसा कि तुल्ययोगिता और दीपक में पाया जाता है। तथापि दीपक के सादृश्य मात्र से इसे आवृत्ति दीपक कहा गया है और इसके नाम में दीपक शब्द लगाया गया है।

---

३८ आशामरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका; १।४८ वृत्ति

३९. वही, १।४८ सत्तरार्द्ध

४०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।४८

प्रतिवस्तूपमा वैधर्म्यमूला भी होती है—

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।
न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम् ।।

इसके विपरीत आवृत्तिदीपक का मूल वैधर्म्य नहीं होता ।

१६. प्रतिवस्तूपमालङ्कारः :—

प्रकृत और अप्रकृत वाक्यों में यदि सामान्य धर्म एक होता है तो प्रतिवस्तूपमालङ्कार माना जाता है। **प्रतिवस्तु (त्यर्थमुपमा यस्याम्'** इस व्युत्पत्ति से यह नाम अन्वर्थ सिद्ध होता है। जैसे 'तापेन भ्राजते सूरः' इस उपमान (अप्रकृत) वाक्य में भ्राजते और 'शूरश्चापेन राजते' इस उपमेय वाक्य में राजते ये दोनों क्रियापदों से शोभते रूप सामान्य धर्म का प्रतिपादन होने से प्रतिवस्तूपमालङ्कार होता हैं। तुल्ययोगिता में दोनों अर्थ कहीं वर्णनीय (प्रकृत) और कहीं अवर्णनीय (अप्रकृत) होते हैं। दीपक में एक वर्णनीय और दूसरा अवर्णनीय होता है। आवृत्ति दीपक वर्ण्य-विषयक ही होता है। किन्तु प्रतिवस्तूपमा में एक वाक्यार्थ वर्ण्य और दूसरा अवर्ण्य होता है। साथ-साथ प्रतिवस्तूपमा में धर्म का दो बार उपादान रहता है। दीपक में धर्मैक्य बोधक पद एक ही बार कहा जाता है। यह इनमें परस्पर भेद है।

यहाँ यह विचारणीय है कि 'वदनेन निर्जितम्' इस उदाहरण में आवृत्ति दीपक माना गया है।परन्तु वहाँ हे **प्रिये तव मुखेन विजितं चन्द्रबिम्बं मेघे निलीयते' अरविन्दं च जलतरङ्गे निलीयते** यहाँ दोनों वाक्यार्थ अवर्ण्य (अप्रकृत) है। अतः आशाधरभट्ठ का **'आवृत्तिदीपकं च वर्ण्यविषयमेव** यह कथन अप्पय के कथन से मेल नहीं खाता है। इसलिए उनके इस कथन को मूल में प्रदर्शित उदाहरणों तक ही सीमित माना जाना चाहिए।

१७. दृष्टान्तालङ्कार :—

उपमेय वाक्यार्थ और उपमान वाक्यार्थ में बिम्बप्रतिबम्ब भाव होने पर दृष्टान्त अलङ्कार होता है। **"बिम्बप्रतिबिम्बत्वमाकारप्रत्याकारतुल्यत्वं तत्र्हि दृष्टान्तो नामालंकृतिर्भवति । शब्दद्वयजहल्लिङ्गम् । उदाहरण । हे राजन्, अत्रेतिशेषः त्वमेव कीर्तिमान् यशस्वीत्वत्तुल्यो नाम्य इत्यर्थः तथा विधुरेव कान्तिमान् भूरि प्रभावः । विजातीय धर्मयोः साम्यं प्रतिबम्बे भावः सजातीयधर्मयोः साम्यं वस्तु प्रतिवस्तुभाव इति विवेकः ।"**[४१]

जहाँ दोनों वाक्यार्थ आकार और प्रत्याकार के समान दिखाई दें वहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने से दृष्टान्त होता है। दो विजातीय धर्मों में साम्य दिखाना

---

४१. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।५० वृत्ति, पृ० २७

बिम्बप्रतिबिम्बभाव कहलाता है। जैसे—हे राजन् त्वमेन कीर्तिमान् (असि) विधुरेव हि कान्तिमान् (अस्ति)। यहाँ कीतिमत्व और कान्तिमत्व इन दोनों विजातीय धर्मों में ऐक्य बताया गया है। अतः बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है। इसलिए दृष्टान्त है। सजातीय धर्मों में जो साम्य दिखाया जाता है, उसे वस्तुप्रतिवस्तुभाव कहते हैं। जैसे सूर्यस्तापेन भ्राजते रूप सजातीय धर्मों में साम्य दिखाया गया हैं। यही इन दोनों अलङ्कारों में पार्थक्य है।

१८. निदर्शन अलङ्कार :—

निदर्शनालङ्कार के निरूपण में कोई नवीनता नहीं है।

१९. व्यतिरेकालङ्कार :—

'उपमानो—नामालङ्कारः'[४२] उपमान और उपमेय में विशेषण अर्थात् एक को दूसरे से न्यून या अधिक गुणवान् बताधा जाय तो व्यतिरेक होता है। जैसे सन्त शैल के समान उन्नत होते हैं, परन्तु उनमें शैल से यह विशेषता होती है कि सन्त स्वभाव से कोमल होते हैं, जबकि शैल कठोर होता है। यहाँ उन्नतत्व गुण के समान होते हुए भी सज्जन में कोमलता गूण बताकर कठोर शैल से अधिक बताया गया है। अतः व्यतिरेक है। **तत्र विषयविषयिशब्दाभ्यां व्यवहारात्किंचिन्न्यूनरूपक-मधिरूपकं च व्यतिरेकस्यैव प्रपंच इत्याहुः।**[४३] भट्ट जी के उपादान के द्वारा कारिकाकार ने यह सूचित किया है कि यह उपमा का ही एक रूपान्तर है। इसीलिए न्यून तथा अधिक रूपक में अतिव्याप्तिदोष नहीं होता है। किसी का मत है कि कारिकाकार ने रूपक के लक्षण में विषय और विषयी शब्दों का उपादान करके न्यून और अधिक रूपक को व्यतिरेक का ही प्रपंच बताया है। मेरे विचार में रूपक उपमा और व्यतिरेक सादृश्य अलङ्कार है इसीलिए इनमें साम्य का होना स्वाभाविक है। तथापि इनमें यह भेद है कि उपमा रूपक एक वाक्य में और व्यतिरेक अनेक वाक्यों में होता है। यही इनमें पार्थक्य है।

२०. सहोक्ति अलङ्कार :—

सहोक्ति के लक्षण में **'चेद्यपि जनरञ्जनश्चमत्कारकरी सहभावः सहभवनं सहैव द्वयोरेकक्रियाकरणमित्यर्थः। भासते र्तहि सहोक्तिः स्पष्टम्। उदाहरणम्। तस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह दिशामन्तमगमत्। नृशत्रवोः दिगन्तमगमन्। कीर्तिरपि तथेति। नृपोत्कर्षं व्यंजकत्वाच्चमत्कारः।**[४४] लिखा है। इसीलिए **'शत्रवो दिगन्तं**

---

४२. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।५५, वृत्ति, पृ० २९

४३. वही, १।५५ वृत्ति, पृ० २९

४४. वही, १:५६ वृत्ति, पृ० ३०

(पलाय्य) अगमन् कीर्तिरपि (प्रसृत्य) दिगन्तमगमत् इत्युत्कर्ष व्यञ्जकत्वाच्चमत्-कारः। सह शिष्येणागातो गुरुरित्यादौ नास्ति चमत्कारः अर्थात् प्रत्यर्थिभिः सह कीर्तिदिगन्तमत् में चमत्कार व्यंग्य है। अतः अलङ्कार है सौन्दर्यमलंकारः शिष्येण सह आगतो गुरुः में तथ्य कथन मात्र है, चमत्कार या सौन्दर्य नहीं है। अतः अलङ्कार नहीं हैं।

२१. विनोक्ति अलङ्कार :—

इसके दो भेदों में से प्रथम में किसी वस्तु के बिना प्रस्तुत को हीन बताया जाता है। जैसे 'विद्या हृद्यापि साऽवद्या बिना विनयसंपदम्'। द्वितीय में किसी वस्तु के बिना प्रस्तुत को रम्य या उत्कृष्ट बताया जाता है। जैसे "बिना खलै विभात्येषा राजेन्द्र भवतः सभा" में। यहाँ राजा की सभा को खेलों के बिना होने से रम्य कहा गया है।

'बिना शिष्येणागतो गुरुः यहाँ हीनत्व का कथन नहीं होने से प्रथम विनोक्ति नहीं है। अभक्ष्यं विना सर्वमश्नाति में 'रम्यत्व' नहीं बताया गया है। अतः यहाँ भी विनोक्ति के द्वितीय प्रकार का लक्षण नहीं घटता है।

२२. समासोक्ति अलङ्कार :—

इस सन्दर्भ में इसके नाम के अन्वर्थं के प्रतिपादन के अतिरिक्त यहाँ कोई नयापन नहीं है।[४५]

२३. परिकर अलङ्कार :—

विशेषेण साभिप्राये साकृते व्यंग्यार्थंसहितं सतीत्यर्थः। परिकरो नामालंकारः। अलंकारशब्दस्य सर्वत्र प्रतीयमानत्वेऽपि। ध्वनित्वनिषेधार्थमुपादानम्। परिकरोति प्रकृतार्थमुपकरोतीति परिकरः साभिप्रायशब्दः सोऽस्मिन्नस्तीति परिकरः।[४६]

परिकर के लक्षण में लक्ष्य के साथ अलङ्कार पद का उपादान इसलिए किया गया है कि वहाँ साभिप्रायता प्रकृतार्थोपयोगिता व्यंग्य के द्वारा नहीं किन्तु अभिधा के द्वारा ही प्रगट होती है। 'परिकरोति प्रकृतार्थमुपकरोतीति परिकरः साभिप्रायशब्दः सोऽस्मिन्नस्तीति परिकरः। मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः। भूषणार्थाभावान्न सुडागमः।[४७] अर्थात् यहाँ विशेषण की साभिप्रायता प्रकृत वाच्यार्थ की उसकारक होती है, भूषक नहीं। इसलिए यहाँ संपरिभ्यां करोतौ भूषणे से सुट् नहीं किया गया है। भूषण में परिकर होता है। विशेषणस्य— इति 'यहाँ विशेषण व्यंग्यार्थ गर्भित होने से प्रकृतार्थ की सिद्धि में हेतु होता है।

४५. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।५९, वृत्ति, पृ० ३०

४६. वही, १।६०, वृत्ति पृ० ३१

४७. यही, १।६० वृत्ति पृ० ३१

यह पार्थक्य दोनों में है। यदि किसी उदाहरण में व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनों प्रकृतार्थोपयोगी हों तो वहाँ दोनों में संकर मानना चाहिए।

२४. **परिकराङ्कुर अलंकार :—**

विशेष्ये साभिप्राये तु परिकरांकुरः भवेत्। इसकी व्याख्या सामान्यतया यह की जाती है कि विशेष्य के साभिप्राय होने पर परिकरांकुर अलङ्कार होता है। जैसे **चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः**[४८] दिव्य शक्ति वाले चतुर्भुज (विष्णु) चारों पुरुषार्थों के दाता हैं। यहाँ 'चतुर्भुज' विशेष्य से यह अर्थ प्रकट होता है कि वह चारों हाथों से एक साथ चारों पुरुषार्थ देने में समर्थ हैं। परन्तु भट्ट ने इसकी नयी व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने विशेष्ये का अर्थ विशेष्यवाचक नाम (व्यक्तिवाचक संज्ञा) किया है। इस तरह जहाँ कोई योगरूढ़ नाम साभिप्राय होता हैं, वहाँ परिकरांकुर अलङ्कार होता है। **चतुर्भुजो देवः विष्णुः चतुर्णां पुरुषार्थानां धर्मार्थकाममोक्षाणाम् दातास्ति। एकैकहस्तेनैकैकस्य दाने विलम्बो न स्यादिति सद्यो गम्यते।**[४९] अर्थात् चतुर्भुज देव विष्णु भगवान् धर्मार्थकाममोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों के दाता हैं। एक-एक हाथ से एक पुरुषार्थ के दान में विलम्ब नहीं होता है। इसीलिए विष्णु चतुर्भुज में अविलम्ब (तत्क्षण) चारों पुरुषार्थों की दातृता ध्वनित होती है। चतुर्भुज शब्द विष्णु का एक नाम है। इसीलिए देव शब्दार्थ के प्रति चतुर्भुज के विशेषण होने पर भी कोई क्षति (दोष) नहीं हुई। यहाँ **'विशेष्य'** का अर्थ 'नाम' विवक्षित है चतुर्भुज शब्द देव शब्द के समभिहार के बिना भी विष्णु अर्थ को बता देना है। क्योंकि वह उनका नाम बन गया है। जैसे **'सागराम्बरा'** पृथ्वी का एक नाम है, जो विशेषण असाधारण बन जाता है, वह विशेष्य की तरह प्रयुक्त होता है।

भट्ट जी ने इस प्रकार व्याख्या करने का प्रयास इसलिए किया है कि इस उदाहरण में **'चतुर्भुज देव'** शब्द आया है, उसमें 'चतुर्भुज' देव का विशेषण है, विशेष्य नहीं। इसलिए यहाँ विशेष्य 'साभिप्राय' नहीं है किन्तु विशेषण ही साभिप्राय है। अतः यहाँ परिकर का लक्षण घटता है, परिकरांकुर का नहीं। जब उदाहरण में परिकर मानने से ही काम चलता है तो परिकरांकुर मानने की एक नये अलंकार की कल्पना व्यर्थ है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्होंने इसके लक्षण में आये हुए 'विशेष्य' का अर्थ व्यक्तिवाचक संज्ञा माना है। ऐसा मानने पर यह अलङ्कार परिकर से पृथक् सिद्ध हो जाता है। परिकरांकुर की अन्वर्थता बताते हुए

---

४८. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।६१, वृत्ति पृ० ३२

४९. वही, १।६१ —

लिखा है—**परिकरस्याङ्कुरत्वम् इति व्युत्पत्तेः यथा वृक्षस्य...दङ्कुरत्वम्।**[५०] यथा बृक्ष का अंकुर वृक्ष से अतिरिक्त वस्तु नहीं है, उसी तरह यह भी परिकर से अतिरिक्त नहीं है। विशेष्य पद एक है। उसमें विस्तार की गुंजाइश नहीं है, अतः इसे परिकरांकुर कहना उचित है। यहाँ की व्याख्या परस्पर विरुद्ध हो गयी है। विशेष्य का अर्थ व्यक्तिवाचक संज्ञा मानकर यदि लक्षण की व्याख्या करते हैं तो परिकर और परिकरांकुर के लक्षणों में और उदाहरणों में भेद स्पष्ट है। परिकर में व्यक्तिवाचक संया साभिप्राय होनी है। **सुधांशुकलितोत्तंस्तापं हरतु वः शिवः** में तापहरण योग्यता का प्रतिपादक सुधांशु कलितोत्तसः यह विशेषण साभिप्राय है। इसलिए परिकर है तो चतुर्णां पुरुषार्थानां **दाता देव चतुर्भुज** में एक साथ चारों पुरुषार्थों के दातृत्य प्रतिपादक '**चतुर्भुज**' यह व्यक्तिवाचक संज्ञा सार्थक है। इसलिए परिकरांकुर हैं। इस तरह लक्षण और उदाहरण के विभिन्न होने से परिकरांकुर की सत्ता अब परिकर से अलग सिद्ध हो जाती है, तव यह कहना कि '**अयमपि परिकरानतिरिक्तः**' परस्पर विरुद्ध लगता है।

दोनों लक्षणों में विशेषण और विशेष्य का अर्थ यदि यथाव‍् मानते हैं तो लक्षण मात्र में भेद सिद्ध होता है। उदाहरण में 'चतुर्भुजः' पद 'देवः' का विशेषण है। अतः यहाँ परिकर का लक्ष्य समन्वय होने से यह कहा जा सकता है कि उदाहरण की दृष्टि से परिकरांकुर और परिकर एक से लगते हैं। इसलिए दोनों को एक प्रतिपादन करने वाला पूर्वोक्त वाक्य संगत होता है। इसीलिए यह मानना चाहिए कि विशेष्य का व्यक्तिवाचक संज्ञापरक अर्थ बताकर दोनों को पृथक् मानने वाले ग्रन्थकार का आशय बताया गया है और इसको परिकर में अन्तर्भाव मानकर वे स्वयं का मत जो मम्मट आदि के अनुकूल है '**अयमपि परिकरान्नाति-रिक्तः** इस वाक्य में बताया गया है। इस तरह मतभेदपरक व्याख्या मानकर ग्रन्थ की संगति बिठाई जा सकती है।

इस अलङ्कार को जयदेव, विद्याधर और अप्पय ने हीं माना है। अन्य आलङ्कारिक इसका अन्तर्भाव परिकर में ही मानते हैं। '**अयमपि' परिकरान्नाति-रिक्तः**' कहकर भट्ट ने अन्तर्भाववादी आलङ्कारिकों के साथ अपनी सहमति व्यक्त की है। वस्तुतः जब कवि बहुत से पर्यायवाची पदों में से किसी एक को प्रकृत अर्थ का उपयोगी मानकर चुनता है तो वह विशेष्य रूप में प्रयुक्त व्यक्तिवाचक संज्ञा

५०. परिकरस्यांकुर इति व्युत्पतेः। यथा वृक्षस्य अंकुरो वृक्षान्नातिरिक्तस्तथाय-मपि परिकरान्नातिरिक्तः। विशेष्यपदस्यैकत्वेन विस्ताराभावाददङ्कुरत्वम्।
—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।८१, वृत्ति

५१. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।६२, वृत्ति

विशेष चमत्कार उत्पन्न करती है। अतः इसे परिकर से पृथक् अलङ्कार मानना ही चाहिए। यदि प्रस्तुत उदाहरण को' **चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता नित्यं चतुर्भुजः'** के रूप में बदल दे तो यहाँ परिकर का सन्देह भी नहीं रहेगा अथवा 'देवः' को विशेषण मानकर यदि उसका अर्थ दिव्य शक्तिसम्पन्न करे तो भी यह उसका उदाहरण बन ही जाता है। इसी तरह **शंकरः शं करोतु** में परिकरांकुर ही है। लक्षण ग्रन्थ को 'लक्ष्य' का अनुसारी बनना चाहिए यदि 'लक्ष्य' है तो उसका लक्षण बनना ही चाहिए। अतः इस अलङ्कार की ऊद्भावना करने वाले जयदेव और उसे स्वीकार करने वाले अप्पय का प्रयास स्तुत्य है।

२५. **श्लेष अलङ्कार :—**

नानाभिधस्यार्थस्याश्रयणं श्लेषः श्लिष्यतोऽर्थावस्मिन्निति व्युत्पत्तेः[५१] **तथा नानार्थ...स्पदः**[५२] अर्थात् अनेक अर्थ जहाँ वाच्य होते हैं, वहाँ श्लेष होता है। इसके तीन भेद बताए गये है (१) अनेक वर्ण्य अर्थों का श्लेष (२) अप्रस्तुत अर्थों का श्लेष, (३) प्रकृत और अप्रकृत अर्थों का श्लेष। सर्वदोमाधवः' में सर्वदा उमाधवः पायात् यः **गंगामदीधरत् सर्वदः माधवः पायात् यः अंगं पर्वतं गोवर्धनं (कृष्णरूपेण) गाम् पृथ्वीं वराहवतारेण अदीधरत्'** इन दो प्रकृत वर्णनीय हरिहर विषयक अर्थों के अभिधान के कारण प्रकृतार्थ श्लेष है। यहाँ हरि और हर दोनों उपास्य हैं, इसलिए दोनों प्रकृत तथा वर्णनीय है, अतः प्रकृतार्थ-विषयक श्लेष है। **अयं प्रकृत...प्रकृतत्वात् अब्जेन...क्तिना**[५३] में **हरिणा मृगेण हितसंक्तिना क्रासंगेन अब्जेन चन्द्रेण तथा हरिणा सूर्येण आहितसक्तिना उत्पादित सामर्थ्येन (शकार सकारयोः श्लेषेऽभिन्नस्वीकारात्) अब्जेन कमलेन तव मुखं तुल्यम्'** इस पदच्छेद के द्वारा उपमान चन्द्र और कमल विषय, दो अर्थों में श्लेष है। यहां वर्णनीय मुख है और अवर्णनीय चन्द्र और कमल। अतः अप्रकृतार्थ श्लेष है। **अब्जो जैवातृकः सोमः इति हैमः। हरिर्वातार्कचन्द्रेणयमोपेन्द्रमरीचिषु इति विश्वः।** इन कोशों में हरि तथा अब्ज शब्द सूर्यादि अर्थ में पढ़े गये है।

'उच्चरद्...पतिः **में उच्चरद्** **भूरिकीलालः** प्रसरद्बहुरुधिरः वाहिनी **पतिः**[५४] **(सेनापतिः) भीष्मः शुशुभे इति तथा उच्चरत्भूरिकीलालः प्रवहद्बहुलजलः वाहिनीपतिः नदीपतिः (समुद्रः)** शुशुभे इस व्याख्या के अनुसार भीष्म-वर्णनीय तथा समुद्र-अवर्णनीय के बीच श्लिष्ट अर्थ का प्रतिपादन होने से प्रकृताप्रकृतार्थ श्लेष है।

---

५२. नानार्थसंश्रयः श्लेषो वर्ण्यावर्ण्योभयास्पदः।

—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।६२ पूर्वार्द्ध

५३. अब्जेन त्वन्मुखं तुल्यं हरिणाहितासक्तिना।

—वही, १।६३ पूर्वार्द्ध

५४. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।६३ वृत्ति

मम्मट आदि ने सभंग तथा अभङ्ग दोनों श्लेषों को शब्दालङ्कार माना है। इसीलिए 'सर्वदो माधवः' जहाँ शब्द को विभिन्न रूप में भङ्ग करने से श्लेष होता है वहाँ भी श्लेष शब्दालङ्कार है और अब्जेन तन्मुखम् में अभङ्ग श्लेष भी शब्दालङ्कार है। उनके अनुसार शब्द के साथ अन्वय और व्यतिरेक रखने वाला अलङ्कारशब्दालङ्कार कहलाता है। सभङ्ग और अभङ्ग दोनों श्लेष शब्दविशेष के साथ जीते हैं और उसके अभाव में मरते हैं। इसलिए वे शब्दालङ्कार हैं।

स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो सुसदृशी वृतिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥

इसके पर्याय के परिवर्तन में भी श्लेष रहता है। इसलिए अर्थश्लेष है। मम्मट लिखते हैं—"**द्वावपि सभंगाभंगौ शब्दैक समाश्रयौ इति द्वयोरपि शब्दश्लेषत्वमुपपन्नम्। अर्थश्लेषस्य तु स विषयो यत्र शब्द परिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना।**"[५५]

इस तरह भामह, रुद्रट, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ ने **सभंगाभंग** श्लेष को शब्दालङ्कार और अर्थ श्लेष को अर्थालङ्कार माना है। अप्पय श्लेष को अर्थालङ्कार ही मानते हैं। अप्पय के अनुसार सभी प्रकार के श्लेषों में चमत्कार का कारण अनेकार्थ की अभिधेयता है। अतः श्लेष अर्थालङ्कार ही है। **अत्र सभंग शब्दश्लेषः। अभङ्गस्त्वर्थश्लेषः। अभङ्गस्त्वर्थश्लेष इति केचित्। उभयमपि शब्दालंकारः इत्यन्ये। उभयमप्यर्थालंकार इति स्वाभिप्रायः।**[५६]

वाहिनीपति: का अर्थ भट्ट जी ने 'भीष्म' किया है। इस व्याख्या से भीष्म से सम्बद्ध अर्थ प्रकृत हो जाता है। इसलिए इस उदाहरण का प्रकृताप्रकृत विषयक श्लेष का उदाहरण मानने में सरलता होती है।

मेरे विचार में **यह उदाहरण शब्दशक्त्युद्भवध्वनि का है।** क्योंकि यहाँ प्रकृत अर्थ अभिधा से आता है। प्रकरण के कारण अभिधा जब प्रकृत अर्थ में ही नियन्त्रित हो जाती है तब व्यञ्जना से समुद्र पक्ष का अर्थ आता है। दोनों अर्थों में सम्बद्धता स्थापित करने तथा असंबद्धता को दूर करने के लिए 'सेनापतिः नदीपतिरिव' इस उपमालङ्कार की उपस्थिति होती है। अतः यहाँ शब्द शक्त्युद्भव अलङ्कार ध्वनि है। भट्ट ने इस आवश्यक बात का उल्लेख यहाँ नहीं किया है।

२४. **अप्रस्तुत प्रशंसा :—**

अप्रस्तुत.. प्रस्तुताश्रया[५६] इस कारिका तथा उसकी व्याख्या 'अप्रस्तुत'...

---

५५. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, ६३ वृत्ति

५६. अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुताश्रया।

—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १.६४ पूर्वार्द्ध

प्रकृतार्थपरा भवति ।[५७] के अनुसार जहाँ अप्रस्तुत अर्थ वर्णन प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति में परिणत होता है, वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार होता है । जैसे '**एक...याचते**'[५८] अर्थात् पक्षियों में केवल पक्षी (चातक) ही धन्य है, कृतार्थ हैं, जो इन्द्र के अतिरिक्त किसी से याचना नहीं करता । यहाँ चातक के वाच्यार्थ रूप अप्रस्तुत वृत्तान्त से क्षुद्र याचना न करने वाले स्वाभिमानी याचक का वृतान्त प्रतीत होता है । अतः यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है । इस अलङ्कार में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर ध्वनि नहीं मानी जाती है, क्योंकि वहाँ प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ अप्रस्तुत वृतान्त रूप वाच्यार्थ का ही पोषक होता है । अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य मानते हैं ।

पूर्वोक्त उदाहरण में तुल्य अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है । इसलिए यह सारूप्यया तुल्य निबन्धन अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण है । इसके पाँच भेदों की चर्चा मूल कारिका में नहीं की गई है । कुवलयानन्द की वृत्ति में मम्मट की भेद प्रतिपादक कारिका उद्धृत की गई है ।[५९] उसको आशाधरभट्ट ने यहाँ मूल ग्रन्थ में स्थान देकर व्याख्या भाग में चार उदाहरण दिए हैं, ये पद्य स्वयं उनके द्वारा रचित है ।

संसारानल...संसारबन्धनात् ।[६०] **अजामिलो...मुक्तिभाक्**[६१] इस तरह इसके ये पांच भेद व्याख्या भाग में सोदाहरण दिखाये गये है । (क) **कार्ये प्रस्तुते सति कारणस्याप्रस्तुतस्य कथनम्** (२) **कारणे प्रस्तुते कार्यस्याप्रस्तुतस्य वर्णनम्** (३) **सामान्ये प्रस्तुते विशेषस्याप्रस्तुतस्य कथनम्** (४) **विशेषे प्रस्तुते सामान्यस्याप्रस्तुतस्योक्तिः तुल्ये प्रस्तुते तत्तुल्यस्याप्रस्तुतस्य प्रशंसनम् ।** इनमें पञ्चम भेद का उदाहरण 'एकः **कृती...याचते**[६२] ही चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में दिया गया

---

५७. अप्रस्तुतप्रशंसा नामालंकारः स्यात् । यत्र सा अप्रस्तुतार्थस्य प्रशंसा वर्णना प्रस्तुताश्रया प्रस्तुतमाश्रयतीति प्रस्तुताश्रया प्रकृतार्थपरा भवति ।
—आशाधरभट्ट; कुवलयानन्दकारिका, १।६४ वृत्ति

५८. एकः कृती शकुन्तेषु योन्यं शक्रान्न याचते ।
—वही, १।६४ पूर्वार्द्ध

५९. आशाधरभट्ट; कुवलयानन्दकारिका १।६४ में उद्धृत काव्यप्रकाश दशमोल्लास का० ६८, उ० (सूत्र १५१)

६०. संसारानलतप्तोऽयं हरिं शरणमिच्छति । हरेर्भक्ता हि बहवो मुक्ताः संसारबन्धनात्' —वही, १।६५ वृत्ति में उद्धृत ।

६१. अजामिलो दुराचारः स्मृतिमात्रादमुच्यत । धन्यो नारायणं जल्पन्नज्ञानादपि मुक्तिभाक्' कु० का० १।६५, वृत्ति उद्धृत ।

६२. एकः कृती शकुन्तेषु योऽन्यं शक्रान्न याचते ।
—वही, १।६४ पू०

है। प्रथम का उदाहरण भट्ट जी का यह अर्थ पद्यार्थ है **संसारानलतप्तोऽयं हरिं शरणमिच्छति** संसार के अनल (क्लेश) से तप्त यह व्यक्ति हरि की शरण लेना चाहता है। यहाँ संसार तापशान्ति कारक मुक्ति रूप कार्य प्रस्तुत है, वर्णनीय है, उसे नहीं कहकर मुक्ति के कारण हरि शरणेच्छा रूप कारण का अभिधान है। इस कारण से कार्य की अभिव्यक्ति होनी है। द्वितीय का उदाहरण भट्ट विरचित यह पद्यांश है—**हरेर्भक्ता हि बहवो मुक्ता संसारबन्धनात्** यहाँ मोक्षार्थी को हरि की भक्ति करनी चाहिए। यह कारण प्रस्तुत है। उसे न कहकर भक्त जनों से प्राप्ति मुक्ति रूप कार्य का अभिधान है, इससे कारण की प्रतीति होती है। तृतीय और चतुर्थ भेदों का उदाहरण उनके द्वारा रचित यह पद्य है—

अजामिलोदुराचारः स्मृतिमत्रादमुच्यत।
धन्यो नारायण जल्पन्नज्ञानादपि मुक्तिभाक्॥[६३]

अर्थात् दुराचारी अजामिल व्याध भगवान् के स्मरण मात्र से मुक्त हो गया। अज्ञानपूर्वक भी 'नारायण' बोलने वाला धन्य और मुक्ति का भागी हो जाता है।

यहाँ पूर्वार्ध में नौ प्रकार की भक्तियों का माहात्म्य प्रस्तुत (वर्णनीय) है उसे न कहकर भक्ति की एक विधा स्मृति का जो कि विशेष है, कथन है। इस तरह विशेष से सामान्य की अभिव्यक्ति होती है।

उत्तरार्द्ध में अजामिल धन्य है, यह विशेष कहना था, परन्तु उसके स्थान पर 'मुक्तिवाक् धन्यः' यह सामान्य कहा गया है। उस सामान्य से विशेष की प्रतीति होती है। पञ्चम भेद का उदाहरण यद्यपि मूल में है, तथापि लगे हाथ उसका भी नया उदाहरण दिया गया है—**हंसो धन्यः—आश्रितः।**[६४] हंस पक्षी धन्य है, जिसने अन्य नदियों को अपना आश्रय न बनाकर गङ्गा को अपना आश्रय बनाया है। यहाँ हरिभक्त धन्य है जो क्षुद्र फलप्रद अन्य देवताओं को छोड़कर मुक्त रूप परमपुरुषार्थ साधक हरि की भक्ति करते हैं। यह तुल्य प्रस्तुत है। उसकी जगह पूर्वोक्ति अप्रस्तुत वाक्यार्थ का कथन हुआ है।

भक्तिपरक उदाहरण का निर्माण यहाँ प्रशस्त है, परन्तु प्रारम्भ के चार उदाहरणों में अप्रस्तुत प्रशंसा की अवगति व्याख्या सापेक्ष है। इसलिए स्पष्टता की कमी खटकती है।

---

६३. आशाधरभट्ट; कुवलयानन्दकारिका, १।६५ वृत्ति में उद्धृत।

६४. हंसो धन्यो नदीरन्यास्त्यक्त्वा गङ्गां य आश्रितः।
वही, १।६५, वृत्ति में उद्धृत।

२५. प्रस्तुतांकुर अलङ्कार :—

प्रस्तुतेन...प्रस्तुतांकुर:[६५] प्रस्तुत वाक्यार्थ के द्वारा प्रस्तुत वाक्यार्थ या प्रस्तुत वृत्तान्त से प्रस्तुत वृत्तान्त के द्योतन में प्रस्तुतांकुर अलङ्कार होता है। जैसे कि **भृङ्ग कण्टकेद्धया** अर्थात् हे भृङ्ग। मालती के रहते हुए कण्टकों से व्याप्त केतकी से तुझे क्या करना है। उद्यान में प्रीतम के साथ विहार करती हुई किसी नायिका ने भृङ्ग के प्रति यह वाक्य कहा है। इसलिए यहाँ भृङ्ग वृत्तान्त और नायक वृत्तान्त दोनों प्रस्तुत हैं। इसलिए यहाँ लक्षण समन्वय होता है। **अत्र वाटिकायां......... लक्षणानुगम:**।[६६]

इस अलङ्कार की उद्भावना सर्वप्रथम अप्पयदीक्षित ने की। प्राचीन अलंकार ग्रन्थों में इस अलंकार का वर्णन नहीं हुआ है। अन्य आलङ्कारिक इसका अन्तर्भाव अप्रस्तुत प्रशंसा में ही करते हैं वे कहते हैं कि माना कि यहाँ दोनों वृत्तान्त प्रस्तुत हैं। उद्यान में नायक-नायिका के विहार के सन्दर्भ में कहे जाने के कारण वहाँ भ्रमर वृत्तान्त जैसे प्रस्तुत है। वैसे नायक वृत्तान्त भी प्रस्तुत है। तथापि दोनों में कवि की विवक्षा नायक वृत्तान्त में प्रधान है और भ्रमरवृत्तान्त में गौण। इस तरह गौण होने से अप्रस्तुत हो जाना और कामुकवृत्तान्त का द्योतन होने के कारण उसका अन्तर्भाव अप्रस्तुत प्रशंसा में ही हो जाता है। इसे अलग अलंकार नहीं मानना चाहिए।

जगन्नाथ ने लिखा है '**एतेन द्वयो: प्रस्तुतत्वे प्रस्तुतांकुरनामान्योऽलङ्कार इति कुवलयानन्दाद्युक्तमुपेक्षणीयम्। किंचिद् वैलक्षण्यमात्रेणालङ्कारान्तरताकल्पने वाग् भङ्गीनामानन्त्यादलङ्कारानन्त्यप्रसङ्ग इत्यसकृदावेदितत्वात्**।[६७]

इस प्रकार जगन्नाथ ने लिखा है कि यहाँ समासोक्ति या अप्रस्तुत प्रशंसा-माना जा सकता है। क्योंकि प्रधान विवक्षा होने से प्रस्तुत भ्रमरवृत्तान्त से कामुक वृत्तान्त की परिस्फूर्ति होती है। इसलिए '**समासोक्ति चेत्**[६८] इस लक्षण का सङ्गमन हो जाता है। अथवा अविवक्षा के कारण गौण होने से अप्रस्तुत भ्रमर वृत्तान्त से प्रधान विवक्षा के कारण **प्रस्तुतवृत्तान्त-कामुकवृत्तान्त** की प्रतीति होने से इस अलङ्कार का अन्तर्भाव अप्रस्तुत प्रशंसा में ही हो जाता है।

---

६५. प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुर:।

—वही, १।६६ पृ०

६६. अत्र वाटिकायां कामुके शृण्वति सति भृङ्गं प्रतीयमुक्तिरित्युभयो: प्रस्तुतत्वाल्लक्षणानुगम:। —आशाधरभट्ट; कुवलयानन्दकारिका १।६६ वृत्ति

६७. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, पृ० ५४५ (उद्योत टीका)

६८. समासोक्ति: परिस्फूर्ति: प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्

—आशाधरभट्ट; कुवलयानन्दकारिका १।५६ पृ०

नागेश भट्ट ने काव्यप्रकाश प्रदीप की व्याख्या-उद्योत-में इसका अन्तर्भाव अप्रस्तुत प्रशंसा में माना है। वे कहते हैं—अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत का अर्थ मुख्य तात्पर्य विषयीभूत अर्थ से अतिरिक्त लेना चाहिए। इस तरह भृङ्गवृत्तान्त यहाँ अप्रस्तुत वृत्तान्त सिद्ध होता है और उससे **कामुकवृत्तान्त-प्रस्तुतवृत्तान्त** की प्रतीति होती है। अतः यह अलङ्कार अप्रस्तुत प्रशंसा ही है।

रसगङ्गाधर तथा नागेश का प्रायः खण्डन करके अप्पय के मत का समर्थन करने वाले अलङ्कारचन्द्रिकाकार वैद्यनाथ तत्सत् भी इस अलङ्कार का समर्थन नहीं करते हैं। अतः इसको अलङ्कारान्तर नहीं माना गया है।

मेरे विचार में जगन्नाथ के पूर्वोक्त उद्धरण से यह प्रतीत होता है कि वे इस अलङ्कार में अप्रस्तुत प्रशंसा से कुछ वैलक्षण्य का अनुभव अवश्य करते हैं कि थोड़ी विशेषता के आधार पर भिन्न-भिन्न अलङ्कार मानने पर अलङ्कारों की संख्या अनन्त हो जायेगी। इस डर से वे पृथक् अलङ्कार नहीं मानते हैं। यदि वैलक्षण्य है तो अलङ्कारान्तर मानना ही चाहिए। थोड़ी विशेषता होने पर ही पूर्णोपमा और लुप्तोपमा मानते हैं, वाच्या और प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा में थोड़ा सा ही तारतम्य है, व्याजस्तुति एक प्रकार से अप्रस्तुत प्रशंसा ही है, परन्तु प्रस्तुत स्तुति से निन्दा और अप्रस्तुत निन्दा से स्तुति की प्रतीति रूप थोड़ी-सी विलक्षणता को आधार बनाकर इसे जैसे पृथक् अलङ्कार का दर्जा दिया गया है, उसी तरह प्रस्तुतांकुर को भी अप्रस्तुत प्रशंसा या समासोक्ति से कुछ वैलक्ष्ण्य देखकर पृथक् स्थान देना ही चाहिए।

आशाधरभट्ट ने इसके पृथक् अलङ्कारत्व को को लेकर किए गए अप्पय के प्रयास तथा उसके खण्डन में प्रवृत्त आचार्यों का कुछ जिक्र नहीं किया है।

२६. पर्यायोक्त अलङ्कार :

पर्यायोक्त के दो भेदों का उल्लेख अप्पय ने किया है। (१) गम्यस्य **भंगयन्तराश्रयवर्णनम्** (२) **व्याजेनाभीष्टसाधनम्। नमस्तस्मै कृतौ येन मुधा राहुवधूकुचौ** राहुवधू के कुचों को व्यर्थ बनाने वाले अर्थात् भोगरहित बनाने वाले को—विष्णु को नमस्कार। इसमें राहुशरीरच्छेत्ता विष्णु रूप गम्य अर्थ का कथन है जो विदग्धभङ्गी भणिति होने से अधिक चमत्कारी है '**यामि चूतलतां द्रष्टुं युवाभ्यामास्यतामिह**।[७९] दूती अपनी इस उक्ति से कार्य का सम्पादन करना चाहती है। इसलिए उसकी इस कपटोक्ति में द्वितीय प्रकार का व्याजोक्ति अलङ्कार है। आशाधरभट्ट ने इस अलङ्कार की व्याख्या में कोई नई बात नहीं कही है।

२७. व्याजस्तुति अलङ्कार :

निन्दा के द्वारा स्तुति गम्य हो या स्तुति से निन्दा गम्य हो तो व्याजस्तुति

---

७९ आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।६८ उ०

अलङ्कार होता है। जैसे कः स्वर्धुनि... दिवम्[७०] अर्थात् हे गंगे तुझमें विवेक नाम-मात्र को भी नही है, क्योंकि तुम पापी को भी स्वर्ग पहुँचा देती हो जो कि महान् पुण्य से प्राप्त होता है। यहाँ वाक्यार्थ निन्दापरक है परन्तु उसमें गङ्गा का माहात्म्य प्रगट होने से स्तुति प्रतीत होती है।

'**साधु...दन्तैरपिनखैरपि**[७१] शाबाश दूती, शावाश इससे बढ़कर तुम क्या कर सकती थी कि तुम मेरे लिए दाँतों से और नखों से भी क्षत-विक्षत वनी। यहाँ दूती के प्रशंसापरक वाक्यार्थ से यह व्यंग्य प्रतीत होता है :—

'**त्वं मम पत्या कृतसंसर्गा मम महानर्थकारिणी असि, तेन कृत संभोगा त्वं मम शत्रुत्वमाचरितवतीत्यादि निन्दा गम्यते**। दीक्षित ने इसके पांच भेदों का सोदाहरण निरूपण किया है। वे हैं (१) एक विषयक निन्दा से स्तुति की व्यञ्जना (२) एक विषयक स्तुति से निन्दा की व्यञ्जना (३) भिन्न विषयक निन्दा से स्तुति की व्यञ्जना, (४) भिन्न विषयक स्तुति, से निन्दा की (५) भिन्न विषयक स्तुति से स्तुति की व्यञ्जना। इनमें प्रारम्भ में '**व्याजेन स्तुतिः, व्याजरूपा स्तुतिः**' ये दोनों व्युत्पत्तियां घटित होती है। भट्ट जी ने इन भेदों की चर्चा नहीं की है और न अन्य आलङ्कारिकों के अनुसार भिन्न विषयक स्तुतिनिन्दा वाले तीन भेदों का अन्तर्भाव अप्रस्तुत प्रशंसा में होता है। यह दिखाया है। न यह कहा है कि इस अप्रस्तुत प्रशंसा में अन्तर्भाव हो सकता है, परन्तु निन्दा से स्तुति आदि में चमत्कार देखकर इसका यह नामकरण किया गया है।

२७. **व्याजनिन्दा अलङ्कार** :—

भिन्न विषयक निन्दा से निन्दा की प्रतीति में व्याजनिन्दा मानते हैं। जैसे विधे...च्छिरः[७२] में हरिनिन्दया दुःखमयप्रपञ्चकर्तुः विधातुः निन्दागम्यते ।

२८. **आपेक्षालंकार** :—

आपेक्ष के तीन भेद बताए गए हैं (क) **स्वयमुक्तस्य अर्थस्य किंचिद्विचारण पुरस्सर प्रतिषेध** (२) निषेधाभास से अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति (३) विधि के स्पष्टतया निषेध के गूढ़ रहने से आक्षेपालङ्कार तीन प्रकार का होता है। '**चन्द्र**

---

७०. कः स्वर्धुनि विवेकस्ते नयसे पापिनो दिवम्

—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।६९ उ०

७१. साधु दूति पुनः साधु कर्तव्यं किमतः परम्।
यन्मदर्थे यिलूनासि दन्तैरपि नखैरपि ।।"

—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।७०

७२. विधे स निन्द्यो यस्ते प्रागेकमेवाहरच्छिराः

—आशाधरभट्ट : कुवलयायन्दकारिका, १।७१ उ०

'...मुखम्'[७३] में आह्लाद के लिए चन्द्र से दर्शन देने की प्रार्थना रूप अर्थ का निषेध किया गया है, वह इसलिए कि जब प्रियतमा का मुख आह्लादक है ही तो चन्द्र-दर्शन से क्या लाभ ?

'नाहं दूती...परमः'[७४] में दूतीत्व का निषेध यह व्यक्त करता है कि अन्य दूती की तरह मिथ्यावादिनी नहीं हूँ। इसीलिए आपके विरह में नायिका की अवस्था का जो मैंने वर्णन किया है, उसे अन्य दूती की उक्ति की तरह अतिशयोक्ति-पूर्ण मत मानिए। सचमुच उसका ताप, प्रलयकालीन अग्नि की तरह है। अतः आप उसकी उपेक्षा न करें और उससे शीघ्र मिलकर उसके विरह संताप को दूर करें, नहीं तो उसके प्राण वियोग अवश्यंभावी हैं। यहाँ 'नाहं दूतीति निषेधस्य (नाहं मिथ्यावादिनीति) मिथ्यावादित्वे पर्यवसानात् (निषेधस्य) अभासत्वम्'[७५] इसलिए निषेधाभास होने से लक्षण समन्वय होता है।

तृतीय आक्षेप का उदाहरण है—**गच्छ गच्छसि चेत् कान्त तत्रैव स्याज्ज-निर्मम कान्त !** तुम जाते हो तो जाओ मेरा भी जन्म वहीं हो जहाँ तुम जा रहे हो, अन्त में जो इच्छा प्रगट की जाती है, वही अभीष्ट होता है, इस न्याय के अनुसार यहाँ यह अर्थ प्रगट होता है कि तेरे विरह को सहन करमे में असमर्थ मेरा विरह के कारण होने वाले निधन के बाद तेरे समागम योग्य स्थान पर जन्म होगा। इस कथन से इस अर्थ की प्रतीति होती है कि तुम मेरी जिन्दगी बचाना चाहते हो तो मत जाओ। इस तरह यह निषेध प्रगट होता है। इस तरह विधि स्पष्ट है और गूढ़ निषेध व्यङ्ग्य है। अतः आक्षेप का तृतीय प्रकार यहाँ है—

'अन्ते या मतिः सा गतिरिति न्यायेन' त्वद्विरहाक्षमाया मम विरहजन्यमर-णान्तरं त्वत्समागमयोग्ये देशे जन्म भविष्यतीत्यर्थः। मज्जीवनमिच्छसि चेत् मा गच्छेदित निषेधो गूढः।[७६]

२६. विरोधाभास अलङ्कार :—

जहाँ दो अर्थों में विरोध का आभास होता है अर्थात् वस्तुतः विरोध न होते हुए भी सुनते ही विरोध दीखता है, परन्तु उसका परिहार हो जाता हो वहाँ

---

७३. चन्द्रः संदर्शयात्मनमथवास्ति प्रियामुखम्
—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।७२ उ०

७४. नाहं दूती तनोस्तापस्तस्याः कालानलोपमः।
—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।७३ उ०

७५. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।७४ उ०

७६. वही, १।७४ वृत्ति

विरोधाभास होता है। जैसे—**विनापि हारिणौ**।[७७] है तन्वि। बिना हार के भी तेरे वक्षोज हारी (हारयुक्त) हैं। यह विरोध तब दूर हो जाता है, जब देखते हैं कि हार नहीं पहनने पर भी तन्वी के वक्षोज (कुच) हारी मनोहारी, मन को हरण करने वाले हैं। मनोहर है तो कथन में विरोध का परिहार हो जाता है। '**किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्** कालिदास के इस वचन के अनुसार हार के बिना स्वाभाविक मनोहारिता यहाँ अभिप्रेत है। अतः विरोध का आभास मात्र होने से यहाँ विरोधाभास है।

काव्यप्रकाश में इसके दश भेद कहे गए है—(१) जाति का जाति के साथ विरोधाभास. (२) जाति का गुण के साथ विरोधाभास (३) जाति का क्रिया के साथ विरोधाभास (५) गुण का गुण (६) क्रिया (७) द्रव्य के साथ विरोधाभास (८) क्रिया का क्रिया के साथ (६) द्रव्य के साथ विरोधाभास और (१०) द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोधाभास।

कुवलयानन्दकारिका में उन भेदों के परिगणन न होने के कारण बताते हुए भट्ट जी लिखते हैं कि विरोधाभास श्लेषमूलक होने पर ही चमत्कारी होता है। इसलिए उन भेदों की चर्चा न करके कारिका में श्लेष मूलक विरोधाभास ही बताया गया है—'काव्यप्रकाशे तु जात्यादिभेदाद्दशविधोऽयम्।[७८]

३०. विभावना अलङ्कार :—

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति में विभावना अलङ्कार होता है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती अतः लक्षणस्थ 'कारण विना का अर्थ, 'प्रसिद्धकारणोक्ति विना' करना चाहिए। इसलिए भट्ट जी कहते हैं—**कारणं प्रसिद्ध-कारणोक्ति विना इत्यर्थः**।[७६] जब प्रसिद्ध कारण कार्य का जनक नहीं हैं तो स्वयं सिद्ध है कि कोई अप्रसिद्ध कारण रहा होगा। यहाँ अर्थ 'विभावना' इस व्युत्पत्ति विशेष के द्वारा निकालते हुए भट्ट जी कहते है—**विभाव्यते विचार्यते कारणम-स्याम् इति व्युत्पत्तेः बाहुलकादधिकरणे युच्**[८०] यहाँ रक्तिमा का लोक प्रसिद्ध कारण लाक्षारस (आलक्तक) से रंगना हैं, परन्तु उसके बिना भी त्वच्चरणद्वय रक्त है, अतः विभावना से चरण की स्वाभाविक रक्तता प्रतीत होती है, इसीलिए स्वाभाविकता रूप कारण यहाँ विचारा जाता है—

---

७७ विनापि तन्वि हारेण वक्षोजौ तव हारिणौ।

आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।७५ उ०

७८. आशाधरभट्ट, कुवलयानन्दकारिका १। ५ वृत्ति

७६. वही, १।७६ वृत्ति

८०. वही

'त्वच्चरणद्वयं लाक्षारसासिक्तमप्यलक्ताच्छुरितमपि । पाठान्तरे लाक्षारसेनासमन्तात्सिक्तं न भवतीति रक्तमस्ति । स्वभावादेवेतिभावः ।[८१]

विरोधाभास से इसका पार्थक्य बताते हुए भट्ट जी ने लिखा है कि—**पूर्वत्र (विरोधाभासे) विरोधोक्त्या चमत्कारः । इह तु कारणान्तरोक्त्या चमत्कारः ।** मेरे विचार में कारणान्तरोक्त्या के स्थान में कारणान्तराभिव्यक्त्या लिखना चाहिए क्योंकि यहाँ '**स्वभावरूप**' कारण का 'शब्देन' कथन नहीं है, किन्तु वह व्यञ्जना से अभिव्यक्त होता है ।

भट्ट जी ने यह स्वीकार किया है कि विरोधाभास श्लेषमूलक होने पर ही चमत्कारक होता है । अतः बिना श्लेष के चमत्कारी पूर्वोक्त विभावना का पार्थक्य स्पष्ट ही है—**अत्र श्लेषमूलत्वं नास्तीति अपरो विशेषः ।**[८२]

कुवलयानन्द में '**तच्चरणद्वयम**' पाठ है किन्तु यहाँ '**त्वच्चरणद्वयम्**'[८३] यह पाठ इसीलिए किया गया है, कि जिससे नायिका में वर्णनीयता स्पष्टतया प्रतीत हो । द्वितीय विभावना में कारण के अपुष्कलत्व में भी कार्योत्पत्ति का वर्णन किया जाता है—'**हेतूनां...तद्वर्णनम्** जैसे **अस्त्रैरती.. मन्मथः**[८४] में मन्मथ के कुसुम के बाणों में तीक्ष्ण अस्त्र-खड्ग आदि और कठिन अस्त्र-गदा आदि का अभाव होने से पुष्कलता का अभाव या असमग्रत्व होने पर भी मन्मथ जो संसार को जीतता है उसका कारण ब्रह्मा वरदान है । जिससे प्रवलतम बना हुआ काम संसार को जीतता है । यहाँ प्रसिद्ध अस्त्रों की अपेक्षा के बिना जगज्जय के अभिधान तथा अप्रसिद्ध कारण-ब्रह्मा के वरदान की अभिव्यक्ति में चमत्कार है । वहाँ भी विरोधोक्ति में चमत्कार नहीं है, अतः विरोधाभास से यह भेद भी पृथक् है । **अत्र अस्त्राणामनेकविधत्वाभावादपुष्करत्वं तथाविधानामपि विधातृकरेण जगज्जयसाधनत्वमिति विधातृवरोर्जितस्य कामस्य प्रसिद्धास्त्रनिरपेक्षत्वेन सामन्यसंपादकत्वाभिधानाच्चमत्कारः । अत्रापि विरोधोक्तौ तात्पर्यं नास्ति ।**[८५]

तृतीय विभावना में प्रतिबन्धक रहने पर कार्योत्पत्ति का वर्णन होता है—**कार्योत्पतिस्तृतीया सा सत्यपि प्रतिबन्धके ।**[८६] कार्योत्पत्ति में सर्वत्र प्रति-

---

८१. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।७६ वृत्ति ।

८२. वही,

८३. हेतूनां कारणानामसमग्रत्वे अपुष्कलत्वे सत्यपि कार्योत्पतिः तद्वर्णनम् ।
—वही, १।७७ वृत्ति

८४. अस्त्रैरतीक्ष्णकठिनैर्जगज्जयति मन्मथः ।
—वही, १।७७ उ०

८५. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।७७ वृत्ति

८६. वही, १।७८ पूर्वार्द्ध

बन्धकाभाव विशिष्ट वैद्ययादि को कारण माना गया है। इसलिए जब प्रतिबन्धक के रहने पर भी कार्योत्पत्ति का वर्णन रहता है तो चमत्कार होता है। **'कार्यो... ङ्गीकारात** और **नरेन्द्रानेव...ङ्गमः**[८७] में नरेन्द्र (विषयैव) सर्प के दंश से उत्पन्न विष प्रयुक्त मृत्यु का प्रतिबन्धक है तथा उसे सांप नहीं काटता है, परन्तु यहाँ कहा गया है कि हे **राजन्! तेरा असि (तलवार) रूपी सर्प नरेन्द्र** (शत्रु राजाओं) को डसता है और मौत के घाट उतार देता है। इस तरह यहाँ श्लैष के द्वारा प्रतिबन्धक के होते हुए भी असि रूप सर्प दंश रूप कार्योत्पत्ति का वर्णन होने से तृतीय विभावना का लक्षण समन्वित होता है। टीका में **'नरेन्द्रो वार्तिके राज्ञि विषवैद्येऽपि वाच्यवत् इति विश्वः**[८८] के द्वारा नरेन्द्र के अनेक अर्थ 'दशति' का लक्षणा से 'हन्ति' तथा **अत्र विष...चमत्कारः** के उल्लेख द्वारा अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है।

अत्र विषवैद्यत्वं दशनक्रियायाः प्रतिबन्धकत्वेऽपि सर्पस्य प्रबलत्वाभिव्यक्त्या चमत्कारः।[८९]

चौथी विभावना के लक्षण में 'अकारणात्' का अर्थ 'कारणसदृशात्' किया गया है, क्योंकि इन के ६ अर्थों में एक अर्थ सादृश्य भी है। इस तरह अकारणात् कारण-सदृशात् वस्तुतः कार्यजन्म वर्णने चतुर्थी विभावना भवति। शङ्खाद् वीणा-निनादोऽयमुदेति महदद्भुतम्' में शङ्ख का उपादान है, कामिनी कण्ठ का नहीं। इसलिए रूप कातिशयोक्ति है। शंख घोर ध्वनि का कारण है, उससे मधुरालाप का श्रवण होना ही यहाँ अद्भुतत्व है। वीणा और शङ्ख दोनों शब्द का कारण है। इसलिए दोनों में सादृश्य है। इस तरह कारण मधुरालापकारी वीणा सदृश शङ्ख से वीणा के समान ध्वनि का श्रवण होने से लक्षण समन्वय होता है—

शङ्खात् शङ्खत्वेनाध्यस्तात्कामिनीकण्ठादिति रूपकातिशयोक्तिः। अयं वीणा-निनादः मधुरालाप एव। वीणानिनाद इत्यत्रापि रूपकातिशयोक्तिः उदेतीति महदद्-भुतमस्ति। घोरध्वनिकारणस्य शङ्खस्य मधुरालापकारणत्वमित्याश्चर्यम्। तत्रापि परकीयकार्यकारित्वमिति महत्वं वीणाशङ्खयोः शब्दकारणत्वेन सादृश्यं नञर्थः यथाहुः शाब्दिकाः 'तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता। अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थः षट् प्रकीर्तिताः इति।[९०]

---

८७. कार्योत्पत्तिस्तृतीया सा सत्यपि प्रतिबन्धके।
नरेन्द्रानेव ते राजन्दशत्यसिभुजङ्गमः॥
— आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।७८

८८. आशाधरभट्ट; कुवलयानन्दकारिका, १।७८ वृत्ति में उद्धृत

८९. वही, १।७८ वृत्ति

९०. वही, १।७९ वृत्ति

पञ्चम विभावना के लक्षण-विरुद्धात् कार्यसंपत्तिर्दृष्टाकाचिद् विभावना' में विरुद्धात् प्रसिद्ध कारण विरुद्धात् अर्थ टीका में करके लक्षण को पूर्ण बनाया गया है। इसी तरह उदाहरण—**शीतांशुकिरणास्तन्वीं हन्त सन्तापयन्ति ताम्** में 'ताम्' का अर्थ **प्रोषितभर्तृकाम्** होना चाहिए जैसा कि भट्ट जी ने किया है। इस तरह उदाहरण की न्यूनता की ओर टीकाकार ने ध्यान दिलाया है। परन्तु मेरे विचार में 'तन्वी' पद से इसका वियोगिनीत्व या प्रोषित भर्तृकात्व' व्यक्त हो जाता है। इसलिए इसे न्यूनता' यहीं माननी चाहिए। इस तरह इस कारिका में न्यूनपदत्व की चर्चा करना ठीक नहीं है। अतः इस दोष-चर्चा को अन्य कारिकाओं से सम्बद्ध मानना चाहिए। अधिकपदत्व और न्यूनपदत्व दोष तथा उसका समाधान अन्य कारिकाओं से सम्बन्ध रखता है, यहाँ स्मृतिवश उनका उल्लेख कर दिया गया है। यदि ग्रन्थ के अन्त में इस सन्दर्भ में ये वाक्य लिखे जाते हैं तो अधिक वैज्ञानिक होता। **अत्र केषुचिच्छ्लोकेषु पादपूरणार्थ प्रयुक्तान्यधिकान्यपि पदानि सन्ति न तत्र दोषशंकयः। प्रकृतमंगलत्वात्। एवं चैवबाहीत्यादीनामसंगतानामेवाधिकत्वे दोष स्वीकारात्। एवं कश्चिन्न्यूनपदत्वमपि न दोषः। आकांक्षित पदाध्याहारस्य सकलशास्त्रसंमततत्वाच्छीघ्र प्रतीताध्याहारे तुदोषः।**[61]

षष्ठ विभावना में कार्यत्वेन प्रसिद्ध वस्तु से कारण का जन्म वर्णित होता है। जैसे **यशः पयोराशिरभूत्करकल्पतरोस्तव** में कहा गया है कि हे राजन्। तेरे कर रूपी कल्पतरु से यश रूप पयोराशि की उत्पत्ति हुई अर्थात् दान करने से यश फैला। यहाँ कल्पतरु की उत्पत्ति मन्थन से समुद्र से हुई थी परन्तु यह कहा गया है कि करकल्पतरु से यशः पयोराशिरभूत्। इस तरह कार्य कल्पतरु से कारण समुद्र की उत्पत्ति बताई गई है। पंचम तथा षष्ठ विभावना क्रमशः रूपकातिशयोक्ति और रूपक से संकीर्ण है। परन्तु अलङ्कारान्तर से संकीर्ण उदाहरण देना कोई दोष नहीं है। यह आगे बताया जाएगा :—

"हे नृप ! तव करकल्पतरो यशः पयोराशिरभूत्। अत्र पयोराशिः कारणं कल्पतरुश्च कार्यमिति प्रसिद्धिः तद्विपरीत वर्णनात् रूपक संकीर्णविभावना। संकीर्णत्वे दोषो नास्तीत्यग्रे वक्ष्यामः।"[62] आगे सङ्कर अलङ्कार में कहा गया है कि अङ्गाङ्गीभाव सङ्कर में अलङ्कार दूसरे का उत्थापक होता है। दोषाधायक नहीं।

३१. विशेषोक्ति अलङ्कार :—

'पुष्कलकरणे पूर्णाः कला यस्य वृषोदरादित्वात् साधु। पर्याप्तकारणे सत्यपि कार्याजनिः विशेषोक्तिः' सकल कारण के रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति के वर्णन में विशेषोक्ति अलङ्कार होता है। स्मर के दीपक के दिन-रात जलते रहने पर भी

---

६१. आशाधरटट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।८० वृत्ति
६२. आशाधरभट्ट, : कुवलयानन्दकारिका १।८१ वृत्ति

मन में स्नेह क्षय नहीं हुआ, प्रेम भाव कम नहीं हुआ । कहा भी है—**न जातु कामः कामानामुपभोगं न शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते**—(मनुस्मृति) । इसलिए काम भाव का शमन न होना स्वाभाविक ही है । यहाँ दीपक के जलते रहने पर स्नेह का क्षय हुआ करता है, परन्तु यहाँ काम रूपी दीपक के जलते रहने पर भी स्नेह (प्रेम) का क्षय नहीं हुआ है । इसीलिए कारण के रहने पर भी कार्य के वर्णन के कारण विशेषोक्ति अलङ्कार है । यहाँ स्नेह (तेल) और स्नेह (प्रेम) दोनों में अभेदारूप हुआ है । इसलिए श्लिष्ट रूपक है—**स्नेहः प्रीतिः तेन चेति श्लिष्ट-रूपकम् । 'हृदि स्नेहक्षयो नाभूत्स्मरदीपे ज्वलत्यपि** ।[९३] में अपि शब्द परस्पर विरोध प्रगट करता है । तथापि यहाँ विरोधाभास नहीं है—कार्य-कारण भाव जहाँ होता है, वहाँ विरोधास नहीं माना जाता है । विरोधाभास मूलक चमत्कार में ही वह अलङ्कार होता है, यहाँ तो कारण के रहते हुए भी कार्य की अनुप्पत्ति में चमत्कार है । इसीलिए चमत्कार के आधार पर इसकी पृथक् सत्ता मानी गई है । यद्यपि यहाँ स्नेह क्षयाभाव (स्नेह की स्थिति) रूप कार्य की उत्पत्ति उसके कारण कामदीपकज्वलनरूप कारण के बिना हुई है, तथापि विभावना नहीं मानी गयी, क्योंकि विभावना में कारणाभाव में प्रधानता (मुख्यचमत्कार) मानते हैं, विशेषोक्ति को कार्याभावचमत्कारमूलक अलङ्कार माना गया है । तात्पर्य यह है कि विभावना में कारणाभाव का और विशेषोक्ति में कार्याभाव का स्पष्ट उल्लेख रहता है और उसी में चमत्कार रहता है । कष्ट कल्पना पर दोनों के उदाहरणों में दोनों की प्रतीति होती है, परन्तु प्रथम-प्रथम जिसके आधार पर चमत्कार होता है उसी को अलङ्कार मान लिया जाता है ।

३२. **असम्भवालङ्कार :**—

प्रकृतार्थसिद्धेः असंभाव्यत्वस्य आश्चर्यत्वस्य वर्णनमसंभवः ।[९४] प्रकृत कार्य की सिद्धि की असंभावना के वर्णन में असंभव अलङ्कार होता है । जैसे 'को वेद गोपशिशुकः शैलमुत्पाटयिष्यति ।'[९५] गोपपुत्र (श्रीकृष्ण) के द्वारा गोवर्धन का उत्पाटन हो सकेगा । यह कौन जानता था, में असम्भव अलङ्कार है । इसे मम्मट आदि अलङ्कार नहीं मानते हैं, केवल जयदेव ने इसे माना है । उदाहरण **घटक गोपशिशुकः में गोपग्रहण तप मंत्र आदि** का अभाव सूचित करता है । 'क' प्रत्यय शिशु की अनुकम्पनीयता की प्रतीति कराता है ।

---

९३. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।८२ उ०

९४. वही, १।८३ वृत्ति

९५. वही, १।८३ उ०

३३. असङ्गति अलङ्कार :—

अलङ्कार में कार्य और कारण की भिन्नाधिकरणता जो विरुद्ध है, वर्णित होती है। संसार का नियम है कि कारण और कार्य दोनों के एक अधिकरण में रहने पर ही कारण कार्य की उत्पत्ति कर सकता है। परन्तु काव्य तो 'नियतिकृत नियम रहित है, इसीलिए ऐसे वर्णन में चमत्कारातिशय प्रतीत होने से अलङ्कार माना गया है। जैसे '**विषं जलधरैः पीतं मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः।**[९६] में विष का पान तो जलधर ने किया परन्तु मूर्च्छित हुई प्रोषितपतिका। मूर्छा रूप कार्य का आधार पथिकाङ्गना है और विषपान रूप कारण का आधार है जलधर। यहाँ विष पद में श्लेष है, विष पानी और जहर दोनों को कहते हैं। दोनों में अभेदारोप है, इसलिए श्लिष्टरूपक मूलक असङ्गति अलङ्कार है। हेतु और कार्य के विरुद्ध असमानाधिकरण्य में ही यह अलङ्कार होगा। इसीलिए 'गृहस्थः क्षेत्रधान्यमुत्पाटयति' में यह अलङ्कार नहीं हुआ, : क्योंकि यहाँ गृहस्थ का अर्थ गृहस्थाश्रमवासी या कास्तकार है। अतः विरोध नहीं है। **विरुद्ध भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसंगतिः।**[९७] इस अलङ्कारान्त से असङ्कीर्ण उदाहरण विहारी का यह दोहा है—

> **'दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीत।**
> **परत गांठ दुरजन हिये दई नई यह रीत॥**

इसके द्वितीय और तृतीय भेद के लक्षण कारिका ८५—

> अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।
> अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा॥

में तथा दोनों के उदाहरण

> **अपारिजातां वसुधां चिकीर्षन्द्यां तथा कृथाः।**
> **गोत्रोद्धार प्रवृत्तो हि गोत्रोद्भेदं पुराकरो**[९८] **॥**

में दिये गए हैं। इस तरह इन दोनों कारिकाओं में प्रक्रम भङ्ग नामक दोष है क्योंकि सर्वत्र प्रायः पूर्वार्द्ध में लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण देने का जो क्रम ग्रन्थकार ने अपनाया था, उसका यहाँ भङ्ग हो गया है। लक्षण के बाद उदाहरण की आकांक्षा उत्पन्न होती है, उसकी शान्ति के लिए उचित यह था कि द्वितीय भेद का लक्षण कारिका ८५ के पूर्वार्द्ध में देते ही उत्तरार्द्ध में उदाहरण देते और तृतीय भेद का लक्षण और उदाहरण एक साथ कारिका ८६ में लिखते। वैसा नहीं करने के कारण आसक्ति जिसे वाक्यार्थ बोध में सहकारी कारण मानते हैं, का पालन नहीं हुआ है, लक्षण और उदाहरण क्रमशः साथ-साथ देने से अविलम्बेन अर्थ बोध होता है। इसीलिए उसमें अधिक चमत्कार आता है।

---

९६. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।८४ उ०

९७. वही, १।८६

९८. वही, १।८६

ऐसा न करने के कारण यहाँ दोष आ गया। इस तरह भट्ट जी ने यहाँ ग्रन्थकार की समालोचना शिष्टशब्दों में की है।

अन्यत्र करणीय कार्य का उससे भिन्न स्थान पर करने पर असङ्गति का द्वितीय भेद तथा अन्य कार्य करने के प्रवृत्त व्यक्त के द्वारा उससे विरुद्ध कार्य करने पर असङ्गति का तृतीय भेद होता है। द्वितीय का उदाहरण है—'अपारिजातां वसुधां चिकीर्षन्द्यां तथाऽकृथाः[९९] हे—हे भगवन् आप पृथ्वी को अपारिजाता (अप) (नष्ट) अरिजात शत्रु समूह वाली बनाना चाहते थे परन्तु द्यौ को अपारिजात (पारिजात नामक कल्पवृक्ष से रहित कर दिया। कृष्णावतार तो अपने लिए था पृथ्वी को अपारिजाता बनाने के लिए परन्तु आपने द्यौ को (स्वर्ग) अपारिजाता बना दिया था अर्थात् पृथ्वी पर करणीय कार्य का संपादन आपने स्वर्ग में किया। इस तरह 'अन्यत्र करणीयस्ततोऽन्यत्र कृतिः' के कारण द्वितीय प्रकार की असङ्गति का यह उदाहरण हुआ। 'गोत्रोद्धार प्रवृत्तो हि गोत्राद् भेदं पुराकरोः'[१००] हे कृष्ण आप गोत्रोद्धार (गोत्रा=पृथ्वी के उद्धार) के लिए प्रवृत्त हुए थे, अवतार लिया था, परन्तु आपने गोत्र (पर्वत-गोवर्धन का उद्‌भेद-उत्पाटन का कार्य किया अथवा गोत्र का उद्‌भेद (नाश) का कार्य किया। इस तरह अन्यत् कर्तु प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिः होने के कारण तृतीय असङ्गति है। यहाँ 'अपारिजात' तथा 'गोत्रोद्धार में अभेदारोप और श्लेष होने के कारण शिलष्ट रूपक मूलक 'असङ्गति' है।

३४. विषमालङ्कार :—

अनुरूप पदार्थों के अवर्णन में प्रथम कारण के गुण से विरुद्ध वाले कार्य की उत्पत्ति वर्णन में द्वितीय तथा अभीष्ट प्राप्ति की इच्छा से किसी कार्य में प्रवृत्त हो जब न केवल अभीष्ट की अप्राप्ति हो; किन्तु अनिष्ट की प्राप्ति का वर्णन हो तब तृतीय प्रकार का विषमालङ्कार होता है। 'स्यात् विपरीतं विषयम्' यह व्युत्पत्ति सर्वत्र घटती है। प्रथम अननुरूप की धटना है, द्वितीय में असम गुण की उत्पत्ति और तृतीय में अनिष्ट की प्राप्ति वर्णित होती है। प्रथम का उदाहरण—'क्वेयं शिरीषमृदङ्गी क्व तादृगमदज्वरः'[१०१] में शिरीष कोमलाङ्गी और अत्यन्त तीक्ष्ण मदन जन्य ज्वर जैसे अनुरूप पदार्थों का वर्णन है। इस भेद के उदाहरण में प्रायः दो 'क्व' शब्द का प्रयोग हुआ करता है। उदाहरण में तादृक का अर्थ अनिर्वचनीय है अथवा स इव इति तादृक् में 'कर्मकर्तरि कृत् प्रत्यय (क्तिन्) प्रत्यय मानना चाहिए। इसीलिए उसका अर्थ होगा 'वैसा' भयङ्कर मदनकृतो ज्वरः मध्यमपद-लोपी समासः। क्व शब्द दोनों के एकत्र अवस्थान को अननुरूप बताता है। **प्रायेणायं क्वशब्दद्वये सत्येव नर्वात** यह विषम का प्रथम प्रकार 'क्व' के दो बार प्रयोग रहने पर ही होता है।

---

९९. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।८६ पू०
१००. वही, १।८६ उ०
१०१. वही, १।८७ उ०

कीर्ति प्रसूते धवलां श्यामा तव कृपाणिका[१०२]राजन् । तेरी श्याम कृपाण धवल कीर्ति उत्पन्न करती है । 'में कारण श्याम कृपाण के गुण से विरुद्ध धवल गुण वाली कीर्ति की उत्पत्ति बताने से द्वितीय लक्षण का समन्वय होता है । यद्यपि यहां **'विरुद्धात् कार्यसम्पत्तिर्दृष्टा काचिद् विभावना'** यह लक्षण घटित होता है, तथापि इसका अन्तर्भाव 'यह घटित होता है और इसका अन्तर्भाव विभावना में नहीं माना जा सकता क्योंकि जहाँ कारण में उसकी प्रवृत्ति में विरुद्धत्व की विवक्षा रहती है, वहाँ विषमालङ्कार होता है । **शीतांशु किरणाहतन्वीः हन्त, सन्तापयति ताम्**[१०३] में कारण शीतांशु में प्रकृत कार्य सन्तापन की विवक्षा है, जो उसकी प्रकृति के विपरीत है । **'कीर्ति प्रसूते धवलां श्यामा तव कृपाणिका**[१०४] में धवल कीर्ति के उत्पादन में विरुद्धत्व दिखाया गया है । यही भेद इन दोनों में हैं । प्रथम में विरुद्धत्व का आधार कारण होता है । और द्वितीय में कार्य । तृतीय विषय के लक्षण में अपि शब्द से यह प्रगट होता है कि इष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिये प्रयत्न इष्ट सिद्धि नहीं करे, इतना ही नहीं किन्तु अनिष्ट भी दूर कर दे । वहाँ तृतीय विषमालङ्कार होता है । जैसे **'भक्ष्याशयाहिमजूषां दृष्ट्वाऽऽखुस्तेन भक्षितः**[१०५] चूहा सांप की पोटारी को काटकर उसके अन्दर इसलिए गया कि उसे कोई स्वादिष्ट वस्तु खाने के लिए मिलेगी, वह तो मिली नहीं, साथ-साथ उसे सर्प भी खा गया । **अत्र भक्ष्य लाभो न जातः स्वयं चाहिना भक्षित इति इष्टानवाप्तिपूर्विका निष्टावाप्तिः ।**[१०६]

३४. समालंकार :—

इसमें दो अनुरूप पदार्थों (सदृश तथा योग्य अर्थों) का वर्णन रहता है । **समं स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः ।**[१०७] यहाँ समं में सामान्य नपुंसक मानना चाहिए अन्यथा अलङ्कार के अनुसार **समः** में पुल्लिग का प्रयोग होना चाहिए । **अनुरूपं मण्डलम्**[१०८] में हार और कुचमण्डल एकत्र अवस्थान दो सदृश तथा अनुरूप पदार्थों का सहवास वर्णित है । अतः सम है । **हारेण गुच्छादिना कुच-मण्डलं स्वानुरूपं स्वयोग्यं वा सद्म स्थानं कृतम्, अत्रोभयोर्वर्तुलत्वरुचिरत्वाभ्यामनु-रूपत्वम् ।**[१०९] में अनुरूपता स्पष्ट की गई हैं । यह सम प्रथम विषय का उल्टा है ।

---

१०२. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।८८ उ०

१०३. वही, १।८० उ०

१०४. वही, १।८८ उ०

१०५. वही, १।८९ उ०

१०६. वही, १।८९ वृत्ति

१०७. वही, १।९० पू०

१०८. वही, १।९० उ०

१०९. वही, १।९० वृत्ति

सर्वप्रथम उद्भट ने इसे माना है। भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि ने इसे नहीं माना है। मम्मट और रूय्यक ने इसके दो भेद माने हैं। अप्पय ने वहाँ तीन भेद किये हैं।

"सारूप्यमपि कार्यस्य करणेन समं विदुः।
नीचप्रवणता लक्ष्मि जलजायास्तवोचिता: ॥[110]

जहाँ कार्य कारण के अनुरूप वर्णित होता है। कारण के गुण या धर्म के अनुरूप कार्य के गुण या धर्म के वर्णन में सम का द्वितीय प्रभेद माना जाता है। यह द्वितीय विषम का प्रतिद्वन्दी माना गया हैं। जैसे **नीच...चिता** में जल (समुद्र के जल) से उत्पन्न लक्ष्मी में नीच प्रवणता (नीच स्नेह) उसके जनक जल के अनुरूप है, इस कथन में। क्योंकि जल भी नीच (निम्न स्थानों) से प्रेम रखता है, लक्ष्मी नीच के पास रहना चाहती है और पानी भी नीच स्थान में ही रहता है। नीच के साथ लक्ष्मी की यह आसक्ति नीच स्थान के प्रेमी जल के अनुरूप है। प्रवणता 'प्र' **पूर्वक वन् संभवतौ** धातु से पचाद्यच् और बाद में तल् प्रत्यय से बना है। उचित उच समवाये धातु का क्त प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग रूप है।[110]

विनानिष्टं च तत्सिद्धिर्यमर्थं कर्तुमुद्यमः।
युक्तो कारणलाभोऽयं शालते वारणार्थिनः ॥[111] का० ९२

में सम का तृतीय भेद सोदाहरण दिखाया गया है। यह सम

'अनिष्टस्याप्य वाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात्।
भक्ष्याशयाहिमञ्जूषां दृष्ट्वा खुस्तेन भक्षितः ॥ का० ८९

में लक्षित विषय का प्रतिद्वन्दी हैं। क्योंकि यहाँ कर्ता को जिस उद्देश्य से कार्य करने के लिए वह प्रवृत्त हुआ है, उसकी सिद्धि अनिष्ट के बिना दिखायी जाती है। वारणार्थी वारण के लाभ से युक्त होकर शोभित होता है—(**युक्तोवारणलाभोऽयं शालते वारणार्थिनः**) इस कथन में वारण (गज) प्राप्ति की इच्छा से राजा के द्वार पर आने वाले वाचक को (द्वारपाल के द्वारा वारण (निवारण) का लाभ हो गया है। यद्यपि वाराणार्थी हाथी चाहने वाला और वारण निवारण माने वाले में अर्थ भेद हैं तथा शब्दसाम्य के आधार पर उनमें अभेदारोप किया गया है। इस तरह श्लिष्ट रूपक है और तन्मूलक समालङ्कार दिखाया गया है। इस तरह यहां लौकिक दृष्टि से न केवल इष्ट की प्राप्ति नहीं हुई, किन्तु अनिष्ट निवारण मिला, गलहत्या देकर निकाल दिया गया तथापि श्लेष के आधार पर अभेदाध्यास से वारणार्थी को वारण मिल गया है। इसलिए 'विनानिष्टम् अभीष्ट सिद्धिरस्तीति' लक्षण समन्वय: अथवा दो अर्थ किए बिना आपाततः इष्ट प्राप्ति के कारण समालंकार की अनुभूति पहले हुई फिर श्लेष के कारण दो अर्थ आने पर चमत्कार में वृद्धि ही हुई। इसलिए श्लेष से यहाँ प्रथमानुभूत समालङ्कार बाधित नहीं हुआ।

---

११०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।९१
१११. वही, १।९२

३५. विचित्र अलङ्कार :—

प्रयत्न के स्वरूप के विपरीत फल की इच्छा से किए गये प्रयत्न के वर्णन में विचित्रालङ्कार होता है। जैसे सन्त तीनों लोक से अधिक उन्नति पाने के लिए झुक जाते हैं, विनम्र बनकर रहते हैं, 'झुकना' क्रिया नम्र होना क्रिया इसलिए की जाती है कि वे उन्नति उच्चता प्राप्त करें। यहाँ झुकना और उन्नत बनना परस्पर एक दूसरे के विपरीत हैं। 'समुन्नति' पद का अर्थ उत्कर्ष और उच्चत्व है इसलिए इसमें श्लिष्ट रूपक है। **'नमन्ति'** का अर्थ झुकते हैं, नम्र होते हैं, अनुद्धत स्वभाव वाले होते हैं, प्रणाम करना नहीं हैं। इसीलिए यहाँ नम् धातु अकर्मक है। नम् धातु जब झुकना अर्थ बताती है तब अकर्मक है, वन्दन अर्थ में सकर्मक होती है। टीकाकार ने इस विषय का विस्तृत विवेचन **रसविन्दु** नामक ग्रन्थ में किया है।[११२]

वस्तुतः वन्दन अर्थ करने पर भी यहाँ कोई दोष नहीं है, क्योंकि वन्दन का अर्थ भी **स्वापकृष्टबोधनपूर्वक परोत्कृष्टबोधनानुकूल** व्यापार ही है, अतः इसमें भी अनुद्धत स्वभावता अर्थ छिपा हुआ होता है।

३६. अधिकालङ्कार :—

इसके दो भेद हैं। प्रथम में विस्तृत आधार से आधेय को अधिक बताया जाता है। जैसे जल में ब्रह्माण्ड समा जाता, उस जल में तेरे गुण नहीं समा पाते हैं। **ब्रह्माण्डानि जले यत्र तत्र मान्ति न ते गुणाः।**[११३] क्योंकि जल का गुण स्पर्शमात्र है और तेरे गुण में तो अत्याचारी के प्रति उष्णता और मित्र के प्रति शीतलता आदि हैं। यहाँ टीकाकार कहते हैं कि गुण का अर्थ गुणप्रतिपादक शब्दार्थ है जो लक्षणा से आता है। यह व्याख्या अटपटी-सी है, जल में अर्थ या शब्दार्थ के सामने की संभावना नहीं है, फिर संभव नहीं रहने पर ऐसी अर्थयोजना निराधार ठहरती है। इसीलिए उसकी पूर्वोक्त व्याख्या ही करनी चाहिए।

उदाहरण में 'जले' का अर्थ डा० भोलाशङ्कर व्यास ने 'महासमुद्रे'[११४] किया है, हे राजन् महासमुद्र में अनेक प्रलय के समय समा जाते हैं और सृष्टि के उससे प्रादुर्भूत हो जाते हैं (पुराण में ऐसा वर्णन मिलता है) उस महासमुद्र में भी तेरे गुण नहीं समाते, वे अजर, अमर हैं अथवा समुद्र के उस पार भी चले जाते हैं। इस तरह आधार—महासमुद्र की विशालता दिखाकर आधेय-गुण-की विशालतरता प्रतीति करायी गई है। अतः अधिक का प्रथम भेद है।

मेरे विचार में 'चन्द्रालोक का उदाहरण 'यथा व्याप्तं जगतस्यां वाचि मान्ति न ते गुणाः'[११५] कष्ट कल्पना रहित और उपयुक्त था। जिस वाणी से

---

११२. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।९३ वृत्ति

११३. वही, १।९४ उ०

११४ अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द (अलङ्कारसुरभिटीका) पृ० १६५

११५. जयदेव : चन्द्रालोक, ५।८३

संसार व्याप्त है, संसार का समस्त अर्थ प्रगट किया जाता है, उस वाणी में तेरे गुण नहीं समाते, तुम अवर्णनीय गुणवान् हो। इस उदाहरण में वाणी का विशाल आधार में नहीं समाविष्ट होने के कारण गुणों की उससे विशालता स्पष्टतः प्रतीत होती है अतः वी उदाहरण देना चाहिए। ऐसा लगता है कि अप्पय ने पूर्वोक्त उदाहरण के 'वाचि' पद के स्थान में 'जले' पर का निवेश करके **विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्** की उक्ति चरितार्थ कर दी है। आशाधरभटट ने 'जले' इस उदाहरण पद को सही बताने की कल्पना की हैं, परन्तु वे सफल नहीं हुए। डा० व्यास ने उसका अर्थ महासमुद्र किया और कुछ अंश तक सफलता प्राप्त की। यह सब प्रयास टीकाकारों को नहीं करना पड़ता, यदि वे कुवलयानन्द के आधारग्रन्थ चन्द्रालोक के उदाहरण को अपनाने की सलाह देते।

अधिक के द्वितीय भेद में पृथ्वी आधेय से भी आधार में आधिक्य दिखाया जाता है। जैसे हे भगवन्। जिस वाणी (वाग्ब्रह्म) मे आपके गुण समा जाते हैं, उसकी विशालता कितनी होगी। **'कियद्वाग्ब्रह्म यत्रैते विश्राम्यन्ति गुणास्तव**[११६] यहाँ भगवान् के गुण पृथुल आधेय से भी आधार-वाग्ब्रह्म को अधिक बताया गया है। अतः द्वितीय प्रकार का अधिकाङ्कार है। टीका में मित् शब्द की सिद्धि दी गई है और कहा गया है कि गद्य और पद्यात्मक शब्दब्रह्म में वर्णित गुणों का विश्राम होता है। अतः आधार में आधिक्य प्रतीत होता है) उदाहरण में **एते** का व्यंग्यार्थ बताते हुए टीकाकार ने लिखा है कि प्रत्यक्ष परामर्थल एतत् शब्द से गुण में असंख्यात्व विवक्षित है।

'वाग्ब्रह्म शब्दब्रह्म कियत किं परिणामस्येति कियत्। 'किमिदभ्यां वो धः इति वतोर्वस्य धस्तस्य यादेशः। यत्रैते तव गुणानां विश्राम्यन्ति। गद्यपद्यात्मके हि शब्दब्रह्मणि वर्णितानां गुणानां विश्रामो भवति। एतच्छब्देन प्रत्यक्षवाचिना असंख्यातत्वं विवक्षितमिति लक्षणानुगतिः।[११७]

३७. अल्पालङ्कार :—

टीका में लक्षण और उदाहरण की व्याख्या करके बताया गया है कि अंगूठी जपमाला बन गयी। इस कथन से वियोगिनी की कृशता व्यक्त होती है। अंगूठी अब हाथ का कङ्गन बन गई है। अतः सूक्ष्म आधेय अंगूठी से भी आधार-कर-की सूक्ष्मता व्यक्त होने से अल्पालङ्कार है।

अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता।
मणिमालोर्मिका तेऽद्य जपमालायते करे॥[११८]

---

११६. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।९५ उ०
११७. वही, १।९५ वृत्ति
११८. वही, १।९६

३८. अन्योन्यालङ्कार :—

परस्पर उपकार्योपकारक भाव होने से अर्थात् एक-दूसरे का दूसरा प्रथम का यदि उपकारक हो तो ऐसे वर्णन में अन्योन्यालंकार होता है। जैसे **त्रियामा शशि-नाभाति शशी भाति त्रियामया** में चन्द्र से त्रियामा (रात्रि) का और त्रियामा से चन्द्र शोभा पाते हैं। अतः अन्योन्यालंकार है। यहाँ रात्रि में चार याम (प्रहर) होने पर रात को त्रियामा (तीन पहर वाली) क्यों कहा जाता है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भट्ट जी कहते है कि धर्मशास्त्र में प्रथम प्रहर को दिवस तुल्य बताने के कारण रात्रि को त्रियामा कहा जाता है। अथवा सायं सन्ध्या दो मुहूर्त की और प्रातः संध्या दो मुहूर्त की होती है। इस चार मुहूर्त सन्ध्या में गिने जाने के कारण रात्रि के लिए तीन याम (प्रहर) ही शेष रहते हैं। अतः यह नाम उचित है। **प्रथम-यामस्य...रात्रिरिति त्रियामात्वम्**[११९]

पूर्वोक्त उदाहरण सत्कार (शोभा वृद्धि रूप परस्पर सत् शोभनत्व) सम्पादन का था। परस्पर उपयोग होने पर भी यह अलङ्कार होता है। जैसे **अन्योन्यतः पथिवताविभतामिभोष्ट्रो**[१२०] अर्थात् रास्ते में हाथी और ऊँट एक-दूसरे के उपकारक बने। (पानी वाले प्रदेश में हाथी ने ऊँट का और मरुस्थल में ऊँट ने हाथी का उपकार किया। इसमें भी अन्योन्यालंकार है। **'अन्योन्यस्मान्मेषाबुपसरतः'** में यह अलङ्कार नहीं होता है, क्योंकि अपसरण क्रिया में अवधि होने के कारण परस्पर उपकारक होते हुए भी यहाँ चमत्कार नहीं है।

३९. विशेष अलङ्कार :—

इसके तीन भेदों में प्रथम भेद ख्यात आधार के बिना आधेय के वर्णन में होता है। जैसे—**गतेऽपि सूर्ये दीपस्यास्तमश्छिन्दन्ति तत्कराः** में सूर्य की किरणों का आधार सूर्य ही प्रसिद्ध है। सूर्य के दूर जाने पर भी उसी की किरणें दीप में आकर तम को दूर करती हैं। इस अप्रसिद्ध कथन में विशेष अलङ्कार है।

विशेषः सोऽपि यद्येकं वस्त्वनेकत्र वर्ण्यते।
अन्तर्बहिः पुरः पश्चात्सर्वदिक्ष्वपि सैव मे॥[१२१]

यहाँ द्वितीय विशेष है। यदि एक वस्तु अनेक स्थानों में वर्णित हो तो द्वितीय विशेष होता है। जैसे **"अन्तर्बहि पुरः पश्चाद् सर्वदिक्ष्वपि सैव मे।"** में अन्दर, बाहर, आगे-पीछे किंबहुना सारी दिशाओं में वही प्रेयसी दिखाई देती है।

---

११९. प्रथमयामस्य धर्मशास्त्रे दिवसतुल्यत्वाभिधानात्त्रियामात्वम्। अथवा द्विमुहूर्ता सायं संध्या द्विमुहूर्ता च प्रातः संध्या तदवशिष्टा च रात्रिरिति त्रियामत्वम्॥ —आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।९७ वृत्ति

१२०. आशाधरभट्ट, कुवलयानन्दकारिका १।९८ वृत्ति

१२१. वही, १।९९

इस कथन में एक प्रेयसी का एक साथ भावनावश अनेकत्र दर्शन के वर्णन से विशेष कथन किया गया है।

किंचिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च सः
त्वां पश्यता मया लब्धं कल्पद्रुमनिरीक्षणम् ।।[१२२]

उक्त पद्य के द्वारा यह कहा गया है कि किसी आरब्ध क्रिया से अशक्य अन्य वस्तु के सम्पादन में तृतीय विशेष होता है। जैसे जब कि कोई किसी राजा से कहता है कि मैंने आपका दर्शन करते हुए कल्पवृक्ष का निरीक्षण प्राप्त कर लिया। यहाँ आप ही कल्पवृक्ष हैं इस व्यङ्ग्यरूपक अलङ्कार से यह वस्तु ध्वनित होती है कि जब आपका दुर्लभ दर्शन हो गया तो मेरी सारी कामना भी पूरी हो जाएगी— **"अत्र त्वमेव कल्पवृक्ष इति रूपकालंकारो व्यज्यते। तन्मूला च पृथिव्यां कर्तुमशक्य-कल्पद्रुमावलोकनस्य कृत्तिरिति विशेषः"**[१२३]

३०. व्याघात अलङ्कार :—

चेद्यदि तथाकारि प्रसिद्धार्थकर्तृ वस्तु अन्यथाकारि तद्विपरीतकारि क्रियेत्, निबध्येतेति यावत्। तर्हि व्याघातोनामालङ्कारः स्यात्।[१२४] किसी प्रसिद्ध कार्य के सम्पादन में योग्य मानी गई वस्तु से यदि उसके विपरीत कार्य सम्पादन का वर्णन हो तो व्याघात अलङ्कार होता है। जैसे जिन (पुष्पों) से संसार प्रसन्नता प्राप्त करता है। कुसुमायुध (कामदेव) उन्हीं संसार को पीड़ा देता है। प्रीति के कारण के रूप में प्रसिद्ध कुसुमों का यहाँ पीडन के करण के रूप में वर्णन होने से व्याघात है इससे कामदेव का 'माहात्म्य' व्यङ्ग्य होता है। टीकाकार काम के पांच बाणों का नर्मदामाहात्म्य के आधार पर यहाँ जिक्र करते हैं—

अशोकमरविन्दं च चूतं च नरमल्लिका।
शिरीषकुसुमं चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ।।[१२५]

वे अपना मत बताते हुए लिखते हैं कि काम के बाण वस्तुतः ये हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। कामिनी के मधुर शब्द, कोमल स्पर्श, सुन्दर रूप, ओष्ठरस और गन्ध ही कामी को वशीभूत या पीड़ित करते हैं। इसीलिए ये ही उसके पांच बाण हैं। टीकाकार की यह व्याख्या वैज्ञानिक और नयी हैं। अतः यहाँ की यह टीका स्तुत्य है।

---

१२२. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१००
१२३. वही, १।१०० वृत्ति
१२४. वही, १।१०१ वृत्ति
१२५. वही, १।१०१ वृत्ति में उद्धृत

व्याघात का द्वितीय प्रकार वहाँ होता है, जहाँ वक्ता यह सोचकर कोई बात कहता है कि वह उसके अभीष्ट कार्य को आसानी से सिद्ध कर देगी परन्तु श्रोता उसकी उसी बात से उसके कार्य को कठिन बना देता है, वहाँ व्याघात का द्वितीय भेद होता है। इस तरह "**सौकर्येणाकार्यसिद्धिः स्याद् इति कृत्वा निबद्धा**" किया। यदि क्रिया कार्य विरोधिनी भवति तदा व्याघातः भवति।' जैसे रण में जाते हुए पिता ने साथ जाने के लिए हठ करते हुए अपने पुत्र से कहा कि 'तू अभी बालक है अतः घर में ही रह पुत्र ने उत्तर दिया कि आप मुझ पर बालक होने के कारण दया दिखाते हैं तो मुझे अकेला मत छोड़िये। बालक के पिता बिना यहाँ किसकी दया प्राप्त करेगा। इस तरह 'बाल इति' यह कथन जो उसे गृह में रक्षण कार्य में सोकर्य के लिए प्रयुक्त हुआ था, गृहे परित्याग रूप विरोधी कार्य की सिद्धि करता है और गृहरक्षण से प्रतिकूल सिद्ध होता हैं। अतः व्याघात है।[१२६]

४१. कारणमाला अलङ्कार :—

इसके उदाहरण **नयेन श्रीः श्रिया त्यागस्त्यागेन बिपुलं यशः**[१२७] **में—अत्र यद्यपि कार्याणामपि माला विद्यते तथापि कारणगुणवर्णनमेव कविसंरम्भ इति विवक्षापूर्विका हि शब्दार्थप्रतिपत्तिरिति। न्यायेन कारणमालेत्यभिधानम्।**[१२८] के द्वारा यह कहा गया है कि यहाँ कार्यों की माला भी है, तथापि कवि का प्रयत्न कारणों की माला में ही है और **विवक्षापूर्विका हि शब्दार्थप्रतिपत्तिः** इस न्याय से विवक्षा कारणों की माला गूँथने की ओर ही है। अतः इसका नाम 'कारणमाला' ही रखा गया 'कार्यमाला' नहीं।

४२. एकावली अलङ्कार :—

इसके उदाहरण **नेत्रे कर्णान्तविश्रान्ते कर्णौदोः स्तम्भदोलितौ।**[१२९] में उत्तर श्लोक के उत्तरार्द्ध **जानुनवी रत्नमुकुराकारे तस्य महीभुजः**[१३०] **से महीभुजः** का अपकर्ष होता है। तब अन्वय किया जाता है। अतः इस उदाहरण को असंगत नहीं मानना चाहिए। एकावली के उदाहरण में प्रायः शब्दों की पुनरुक्ति होती ही है, क्योंकि वहाँ विशेषण विशेष्य बनकर आता है। प्रस्तुत उदाहरण कर्ण, दोस्तम्भ

---

१२६. अत्र राज्ञा सुकरत्वेन प्रारब्धं गेहे रक्षणं शूरस्य कुमारस्य दुःखतरं जातमिति कार्यविरोधित्वम्।

—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१०२ वृत्ति

१२७. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।१०३

१२८. वही, १।१०३ वृत्ति

१२९. वही, १०४ उ.

१३०. वही, १।१०५ उ.

और जानुपद पहले विशेषण और बाद में विशेष्य के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। तथापि इनकी पुनरुक्ति से ही अलङ्कार का निर्माण होता है, उसी में चमत्कार है। अतः यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं है। यही हाल आवृत्तिदीपक का भी है। टीकाकार लिखते हैं—**अत्र केषां......बोध्यम्**[131]

४३-४४. मालादीपक और सार अलङ्कार :—

मालादीपक और सार अलङ्कार की टीका में कोई नई बात नहीं है।

४५. यथासंख्य अलङ्कार :—

यह अलङ्कार **शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जय**[132] में कर्म कारकों और क्रियाओं के यथासंख्यान्वय पर आधारित है। फिर इसे शब्दालङ्कार क्यों नहीं कहा गया इसका उत्तर देते हुए भट्ट जी लिखते हैं—**नचायं शब्दालङ्कारः अन्वय-कालेऽपि क्रमस्य विवक्षितत्वात्**[133] अर्थात् अन्वय करते समय अर्थ को ध्यान में रखना पड़ता है। 'अतः तस्थमिपां तां तं तामः' इस सूत्र की तरह यहाँ शब्दान्वय मात्र नहीं है किन्तु अर्थमुखप्रेक्षिता होने के कारण यह अर्थालङ्कार है। मम्मट आदि तो **शब्द विशेषसत्त्वे अलङ्काराभावः** एवं **अर्थसत्वेऽलङ्कारः तदर्थाभावेऽलङ्काराभावः** इस अन्वयव्यतिरके को ही अलङ्कार के शब्दार्थ गतत्व का निर्णायक मानते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर यह अर्थालङ्कार ही ठहरता है, क्योंकि **शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जयरञ्जय भञ्जय**' इसमें शत्रुम् आदि शब्द के स्थान में '**रिपुम्**' आदि करने पर भी अलङ्कार अक्षुण्ण रहता है। अतः यह अलङ्कार पर्याय सहिष्णु है। अर्थासहिष्णु है। इसलिए अर्थालङ्कार ही है।

४६. पर्यायालङ्कार :—

पर्याय अलङ्कार में कोई विशेषता टीका में नहीं दिखाई गई है।

पर्याय के द्वितीय भेद के लक्षण में **अनेकम्** पद में एकवचन नहीं होना चाहिए, क्योंकि **अनेक** शब्द द्वित्व या बहुत्व का वाचक है। यह प्रश्न उठाकर टीकाकार ने उत्तर दिया है कि यहाँ एक से भिन्न समुदाय अर्थ लिया गया है। समुदाय में एकत्व है। अतः एकवचन उचित है। इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने माघ कवि के पद्य 'सेव्यतेऽनेकया सन्नतापाङ्गया' उद्धृत किया है, जहाँ 'अनेकया' में एकवचन है। फिर प्रश्न उठाया है 'भवन्त्यनेके जलधेरिवोर्मयः'[134]। यहाँ बहुवचन कैसे हुआ ? इसका उत्तर दिया है कि यहाँ अवयव की विवक्षा है।

---

१३१. अत्र केषांचित्पदानां पुनरुक्तत्वेऽपि दोषो न शङ्क्यः। सकलकविसंमतत्वा-च्चमत्कारित्वाच्च। एवम् आवृतिदीपकेपि बोध्यम्।

—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१०५ वृत्ति

१३२. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।१०८ उ.

१३३. वही, व १।१०८ वृत्ति

१३४. वही, १।११० वृत्ति में उद्धृत

४७. परिवृत्ति अलङ्कार :—

न्यून से अधिक के और अधिक से न्यून के विनिमय वर्णन में परिवृत्ति अलङ्कार होता है। इसका उदाहरण चन्द्रालोक में **जग्राहैकं शरं मुक्त्वा कटाक्षान् शत्रु योषिताम् या स रिपुस्त्रियः**[१३५] दिया गया है। अप्पय ने **जग्राहैकं शरं मुक्त्वा कटाक्षात्स रिपुश्रियः**[१३६] दिया है। **कुवलयानन्दकारिका** में "**कटाक्षात् स रिपुश्रियः**[१३७] पाठ दिया गया है। चन्द्रालोक के अनुसार एक बाण देकर अनेक कटाक्ष प्राप्त किये, यह अर्थ होता है यहाँ न्यून से अधिक की प्राप्ति रूप विनिमय होने से परिवृत्ति अलङ्कार है। तात्पर्य यह है कि शत्रुओं की स्त्रियां अपने पति के प्रति जो कटाक्ष कामभाव के प्रकटीकरण के लिए करती थीं, राजा ने एक बाण मारकर शत्र को मार दिया। इस एक शत्रुमारक बाण देकर राजा ने अनेक कटाक्षों का हरण कर लिया। पति के नहीं रहने पर उनका कटाक्षपात बन्द हो गया। इससे ऐसा लगता है कि राजा ने एक बाण दिया और अनेकों कटाक्ष लिए।

अप्पय के अनुसार कटाक्ष करके (**कटाक्षं विधाय ल्यब्लोपेकर्मण्यधिकरणे च इति पञ्चमी**)। एक बाण छोड़ा और शत्रु की लक्ष्मी प्राप्त कर ली। इस अर्थ के अनुसार बाण और रिपु श्री में विनिमय दिखाया गया है। यह अर्थ सरल और स्पष्ट है। अलङ्कारिका में **कटाक्षात् स रिपुश्रियः** पाठ है। इसका अर्थ भी अप्पय के कुवलयानन्द के पाठ के अनुसार ही है। इतना अन्तर है कि अप्पय के उदाहरण में बाण भी एक है और **रिपुश्रियम्**' में भी एकवचन होने से वह भी एक है। इसीलिए समान विनिमय का उदाहरण है। अप्पय के अनुसार समवस्तु से सम के विनिमय में भी परिवृति अलङ्कार होता है।

अलङ्कारकारिका के मूल पाठ में '**रिपुश्रियः**' कर्म का बहुवचन में प्रयोग हो सकता है। अतः न्यून से अधिक विनिमय का उदाहरण है। टीकाकार भट्ट ने '**एकं शरं मुक्त्वा स रिपुश्रियः रिपुलक्ष्म्याः** (षष्ठी एकवचन) **कटाक्षान् जग्राह** यह अन्वय करके **कटाक्षान्** पद मानकर ही व्याख्या की है। इस व्याख्या **शरं रोपं मुक्त्वा रिपुं प्रति क्षिप्त्वा दत्वा चेति श्लिष्टरूपकम्। कटाक्षान् तदीयवस्तुलाभान्... गम्यते।**[१३८] के अनुसार अनेक गजतुरगादि का विनिमय एक शर से करने का वर्णन होने के कारण न्यून से अधिक विनिमय का ही यह उदाहरण है। ऐसा लगता है कि आशाधरभट्ट न्यून का अधिक से विनिमय तथा सम विनिमय में चमत्काराभाव के कारण परिवृत्ति नहीं मानते थे।

---

१३५. जयदेव : चन्द्रालोक, ५।६५, (रमा तथा शरदागम संस्करण)

१३६. अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द, पृ० ११२, १८४ (अलङ्कारसुरभि सं०)

१३७. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१११ उ०

१३८. वही, १।१११ वृत्ति

४८ परिसंख्यालङ्कार :—

अन्यत्र पूर्वक एकत्र वस्तु के नियमन के वर्णन में परिसंख्या अलङ्कार होता हैं।

परिसंख्या निषिध्यैकमेकस्मिन्वस्तुयन्त्रणम ।
स्नेहक्षयः प्रदीपेषु न स्वान्तेषु नतभ्रुवाम् ॥[१३९]

उक्त पद्य की व्याख्या में यही बात बताई गई है कि जैसे स्नेहक्षय (तेलक्षय) दीपकों में होता था, कामिनियों के मन में स्नेह क्षय (प्रेम-क्षय) नहीं होता था। उनका हृदय सदा प्रेमपूर्ण रहता था। यहाँ स्नेह क्षय का प्रदीपों में नियमन सुन्दरी स्वान्त में उसके निषेध को ही स्पष्टीकरण के लिए किया गया है। यह शाब्दी-परिसंख्या है, क्योंकि यहाँ नियमन स्थल (प्रदीप) और निषेध स्थल (कामिनोस्वान्त) दोनों का शब्दशः उपादान है। यदि यह कहा जाय कि 'मूलन की ही अधोगति केशव गाइय, होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय' तो आर्थी परिसंख्या होगी।

परिसंख्या मीमांसा का पारिभाषिक शब्द है—"**विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौपरि-संख्येति गीयते**" विहित और अविहित दोनों में प्राप्त विधि जब वाक्यार्थ द्वारा एकत्र नियन्त्रित की जाती है, तब परिसंख्या होती है—"**स यथा सायं प्रातर्वाशनमिति श्रुतावशनस्य सायंप्रातः कालयोर्नियमनेन अन्यकाले तन्निदृतिरर्थलभ्या। परिसंख्या विधेः फलम् इति मीमांसकाः। तथात्रापि स्नेहक्षयस्य नियमादर्थलभ्योऽन्यत्र निषेधः स्पष्टप्रतिपत्तये निबद्ध इति परिसंख्याविधिसादृश्यात् परिसंख्यालंकारा-भिधानम्।**[१४०] अर्थात् श्रुतिवाक्य में कहा हैं—'सायं तथा प्रातः खाना चाहिये। इस वाक्य में अशन (भोजन) जो सभी कालों मैं प्राप्त था, को सायं और प्रातः नियन्त्रित कर दिया। इसका फल यह हुआ कि अन्य कालों में उसको निषेध अर्थवश आ गया। इसीलिये मीमांसक कहते हैं—**परिसंख्या विधेः फलम्**[१४१] **परित्यज्य (परिष्कृष्य वा) संख्यानं नियमनं परिसंख्या** प्राप्त विधि को अन्यत्र से हटाकर या खींचकर एकत्र नियमन को परिसंख्या कहते हैं। पूर्वोक्त काव्य में भी स्नेह क्षय का प्रदीप में नियमन कर देने से यह सिद्ध हो गया कि कामिनी के मन में स्नेहक्षय नहीं हुआ तथा स्पष्टप्रतिपत्ति से उसका भी **स्वान्तेषु नतभ्रुवाम्**[१४२] में उल्लेख कर

---

१३९. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।११२

१४०. वही, १।११२ वृत्ति

१४१. वही, १।११२, वृत्ति में उद्धृत

१४२. वही, १।११२ उ०

दिया गया है। इस तरह परिसंख्या विधि के सदृश होने के कारण इस अलङ्कार का नाम परिसंख्या रखा गया है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि जैसे काव्यपरिसंख्या यह नाम करना चाहिए।

परिसंख्या के लक्षण में 'निषिध्य' पद का प्रयोग हुआ है, क्त्वा या ल्यप् प्रत्यय पूर्वकालिक क्रिया से होता है। इसलिये वस्तु का निषेध पहले होना चाहिये और उसका नियमन बाद में। परन्तु **स्नेहक्षयः तैलक्षयः प्रीतिक्षयश्चेति क्लिष्ट रूपकम्। प्रदीपेष्वेव भवति। नतभ्रुवां कामिनीनां स्वान्तेषु चित्तेषु तु न भवति।**[143] आदि उदाहरणों में प्रदीप में स्नेहक्षय का नियमन पहले हुआ है और कामिनी स्वान्त में उसका निषेध बाद में। अतः ल्यप् प्रत्यय कैसे हुआ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आशाधरभट्ट लिखते हैं कि **मुखं व्यादाय स्वपिति** में सोने के बाद मुंह खुलता है तथापि जैसे व्यादाय स्वपिति' यह वाक्य यह सूचित करता है कि सोते ही इस व्यक्ति विशेष का मुख अवश्य खुल जाता है इसलिये उस वाक्य का वक्ता अपनी बुद्धि में झटिति भावी व्यादान को पहले ही सोच लेता है। अतः पूर्वकालिकता मानकर ल्यप् करता है। इसी परह एकत्र नियन्त्रण और अन्यत्र उसका प्रतिषेध इतनी शीघ्रता से तथा अवश्य हुआ करता है कि वक्ता तथा श्रोता की बुद्धि के निषेध में बुद्धिस्थ पूर्वकालिकता आने से ल्यप् करना सुसंगत है।

मुखं व्यादाय स्वपितीत्यादिवत् नियमनोत्तरकालं निषेधेऽपि निषिध्येत्यत्र क्त्वाप्रत्ययः पूर्वभावस्य बुद्धौ स्थापितत्वात्।[144]

टीकाकार एक प्रश्न यह भी उठाते हैं कि अप्पय ने **सङ्गतानि मृगाक्षीणां तडिदविलसितान्यपि, क्षणद्वयं न तिष्ठन्ति घनारब्धान्यपि स्वयं**[145] में सभी संगत को क्षणिक कहा है और यहाँ **स्नेहक्षयः नतभ्रुवां स्वान्तेषु न** में उन्होंने स्थायी बताया है। इस तरह परस्पर विरोध दिखाई देता है; परन्तु परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि वहाँ 'सङ्गत' अर्थ योग है, उसका विषय शरीर है, शारीरिक संगम क्षणिक होता है परन्तु यहाँ स्नेहक्षयाभाव का विषय (आधार) हृदय है। अतः विषय भेद से देखने पर उनमें विरोध नहीं है।

४६. विकल्पालङ्कार :—

विरोधं तुल्यबलयोर्विकल्पसां कृतिर्मता। सद्यः शिरांसि चापान्वा नमयन्तु महीभुजः।[146] तुल्यबल वाले और चमत्कारादि की दृष्टि से समान प्रधानता रखने वाले पदार्थों में बाध्य बाधक भाव रहने पर विकल्पालंकृति मानी जाती है।

---

१४३. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।११२ वृत्ति

१४४. वही, १।११२ वृत्ति

१४५. वही. १।११२ वृत्ति

१४६. वही, १।११३, वृत्ति में उदाहृत

जैसे राजा का दूत शत्रु राजाओं से कहता है—"**सद्यः शिरांसि चापान्वा नमयन्तु महीभुजः**" राजा साहब ने आप लोगों से कहा है कि या तो राजा लोग मेरी विजय यात्रा के समय मेरे सामने शिर को नम्र बना दें (झुका दें) या अपने-धनुष को (खींचकर) नम्र करें। उस तरह पूर्वोक्त वाक्य में प्रतिपादित संधि और विग्रह में बाध्यबाधक भाव होने से चमत्कारोत्पादक विरोध का वर्णन हुआ है। अतः विकल्पालङ्कार है। मूल कारिका में अलङ्कृति शब्द के प्रयोग की उपयोगिता बताते हुये भट्ट जी ने लिखा है कि यहाँ प्रकरणवश 'अलङ्कृति' अर्थ आ ही जाता था जैसा कि पूर्वकारिका में अलङ्कृति शब्द के बिना भी वह अर्थ आया है। तथापि इस कारिका में जो अलङ्कृति शब्द का पुनः उपादान किया गया है उससे यह संकेत प्राप्त होता है कि चारुत्व (चमत्कार) से सम्पन्न विकल्प ही 'अलङ्कार' का आसन ग्रहण कर सकता है। जहाँ—

कृतं प्राज्यं राज्यं जलधिपरिखे भूमिवलये
मही भुक्ता मुक्ता निरवधि कृतं कार्यमखिलम्।
इदानीं संप्राप्तं समुचितपदं वीरशयने
शृगालः काको वा स्पृशतु यदि वा पाण्डुतनयः।।[१४७]

उक्त पद्य के अन्तिम चरण में विकल्प को अलङ्कार नहीं माना जाता क्योंकि वहाँ चमत्कार नहीं है।

४९. समुच्चयालङ्कार :—

"**बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः समुच्चयः।**" एक से सम्बद्ध तथा एक साथ होने वाले अनेक पदार्थों के गुम्फन को समुच्चय कहते हैं। यह समुच्चय अनेक गुणों तथा क्रियाओं के गुम्फन में पाया जाता है। जैसे—**नश्यन्ति पश्चात्पश्यन्ति त्रस्यन्ति च तव द्विषः**[१४८] है। हे राजन्। आपके शत्रु नश्यन्ति-पलायन्ते (राज्य च्युत होकर भागते हैं) पीछे देखते हैं कि कहीं आप उन्हें खदेड़ते हुए आ तो नहीं रहे हैं तथा (भागकर भी) डरते रहते हैं। यहाँ नश्यन्ति, पश्यन्ति और त्रस्यन्ति क्रियाओं का युगपद् होने का वर्णन है। अतः लक्षण समन्वय होता है। यद्यपि इन क्रियाओं में पौर्यापर्य है तथा शतपत्र पत्रशत भेदन न्याय से जैसे कमल पुष्प के सौ पंखुड़ियों के सुई से छेद करते समय पत्तों में भेद के काल में पौर्वापर्य होते हुये भी जैसे सुई से एक साथ सौ कमल की पंखुड़ियों में मैंने छेद कर दिया, यह कहा जाता

---

१४७. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, वृत्ति से उद्धृत १।११३
१४८. वही, १।११४ पू०
१४९. वही, १।११४ उ०

है, उसी तरह इन क्रियाओं के घटित होने से इनमें 'युगपद्भाजां' माना गया है—**अत्र पौर्वापर्ये सत्यपि शतपत्रपत्रशतभेदन्यायेन युगपद्भावो बोध्यः**।[१५०]

अत्रापि चारुत्वानुवृत्तेः। हरिस्त्वा मां च रक्षत्वित्यत्र समुच्चयमात्रं नालङ्कारः[१५१] इस कारिका में भी पूर्व कारिका से चारुत्वार्थसम्पृक्त अलङ्कृति पद की अनुवृत्ति हुई है। इसलिये 'हरिस्त्वां मां च रक्षतु' में कोरा समुच्चय है, अलङ्कार नहीं है क्योंकि इसमें चमत्कृति की अनुभूति नहीं होती है। समुच्चय के द्वितीय भेद का निरूपण

'अहंप्रथमिकाभाजामेककार्यान्वयोऽपि सः।
कुलं रूपं वयं विद्या धनं च मदयत्यमुम्'॥

में हुआ है। मैं पहले इस कार्य की सिद्धि करूँ, इस प्रकार की प्रवृत्ति को 'अहंप्रथमिका' कहते हैं। इसकी सिद्धि—**अहं प्रथमो यस्याम्** इस विग्रह में बहुव्रीहि समास और शेषाद् विभाषा (५.४.१५४) से कप् प्रत्यय करके टाप् और इत्व करके की जा सकती है। भट्ट ने शेषाद् विभाषा इति कः **समासान्तः** लिखा है, वह गलत है। कः की जगह कप् लिखना चाहिये। क्षीर-स्वामी ने **अहं पूर्विका** शब्द की सिद्धि जैसे की है, उसी तरह '**अहं प्रथमिका**' शब्द भी बनाया जा सकता है। क्योंकि पूर्व और प्रथम शब्द अभिन्नार्थक हैं। इस तरह अहं प्रथमम् इति सर्वे यत्र ब्रुवते सा (क्रिया) अहं प्रथमिका स्वार्थे कन् मत्वर्थीयो वा ठन्। इस तरह अहं प्रथमिका या अहं पूर्विका उस क्रिया या वृत्ति को कहते हैं जो एक को दूसरे से आगे बढ़कर कार्य करने में उतावली दिखाता है। यह उतावला पन या त्वरा **कुलं रूपं वयोविद्या धनं च मदयत्यमुम्**[१५२] में वर्णित कुल रूप आदि में अचेतन होने के कारण नहीं हो सकती है। इसीलिए तत्तुल्य अन्वय योग्यता (अर्थ) में लक्षणा मानते है। इस तरह 'अहं प्रथमिका भाजाम्' का अर्थ हुआ परस्पर एक को उपमर्दित करके अन्वय की योग्यता पाने वाले पदार्थों का एक कार्यान्वय या एक क्रिया सम्बन्ध को द्वितीय प्रकार का समुच्चय कहते हैं। यह लक्षण वाक्य का अर्थ हुआ। इस अर्थ को प्रकट करते हुये अप्पय ने वृत्ति में लिखा है—**अत्रैकः कार्यं सिद्धिहेतुत्वेन प्रक्रान्तस्तत्रान्येऽपि यद्यहमहमिकया खले कपोतन्यायेन तत्सिद्धि कुर्वन्ति सोऽपि समुच्चयः यथा मदे आभिजात्यमेकं समग्रं कारणं तादृगेव रूपादिकमपि तत्साधनत्वेन अवतरति इति**।[१५३] तात्पर्य यह है कि जहाँ एक कारण भी कार्य की सिद्धि में समर्थ हो, वहाँ यदि अन्य समर्थ कारण आते हैं तो चमत्कार आता है। ऐसे वर्णन में भी समुच्चय होता है। जैसे केवल उच्च कुल ही किसी को घमण्डी बना सकता था, परन्तु विद्या, रूप, युवा-

---

१५०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।११४ वृत्ति
१५१. वही, १।११४ वृत्ति
१५२. वही, १।११५ उ०
१५३. अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द का० ११६ वृत्ति

वस्था ने उसे दर्प की पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया। इसलिये कहा गया हैं—**यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्**[154] **अत्र (कुलं...सुम इत्युदाहरणे) कुलादीनां खले कपोतन्यायेन सम्प्राधान्यं चारुत्वे हेतुः (अतः समुच्चयः)**[155]

५०. कारकदीपकालङ्कार

कारकदीपक के लक्षण **क्रमिकैकगतानां तु गुम्फः कारकदीपकम्**[156] के अनुसार एक कारकगत क्रम से आगत क्रियाओं का वर्णन है, वहाँ कारकदीपक अलङ्कार होता है। जैसे **गच्छत्यागच्छति पुनः पान्थः पश्यति गच्छति**।[157] मूल में उदाहरण के अंत में 'गच्छति' छपा है वह गलत है, इसलिये टीका में 'पृच्छति' ही व्याख्यात हुआ है, 'गच्छति' नहीं। कुवलयानन्द में भी 'पृच्छति' ही पाठ है) में राहगीर जाता है, आता है, देखता और पूछता है।

वृत्ति में बताया गया है कि पान्थ शब्द जो कर्त्ताकारक है, का अनेक आगच्छति गच्छति, पश्यति और पृच्छति पद द्वारा प्रतिपादित आगमन, गमन, दर्शन, प्रश्न क्रियाओं में अन्वय होने से दीपक इसका साद्दश्य सूचित करता है, इसलिए इसके नाम में दीपक पद 'समाविष्ट है। यहाँ क्रियाओं में यौगपद्य विवक्षित नहीं है, इसीलिए यह समुच्चय से पृथक् माना गया है।

५०. समाधि अलङ्कार :—

कारणान्तरसंनिधेः अन्यकारणसान्निध्यात् कार्यसौकर्यं कार्योत्पत्तिलाघवं समाधिः सम्यगाधानमुत्पादनमिति व्युत्पत्तेः।[158] के द्वारा टीकाकार ने बताया है कि अन्य कारणों के सन्निध्य से कार्योपति में सरलता का वर्णन समाधि अलङ्कार कहलाता है। 'सम्यक् आधानम् समाधि' में आधानम् का अर्थ उत्पादनम् किया गया है। उदाहरण 'उत्कण्ठिता च कुलटा जगामास्तं च भानुमान्।' दिया है। यहाँ कुवलयानन्द में जहाँ 'तरुणी' पाठ है, वहाँ कु० कारिका में 'कुलटा' पाठ दिया गया है। 'अत्रौ...लक्षणानुगमः[159] इस वाक्य में बताया गया है कि उत्सुकतामात्र कुलटा (पांसुला) की कामना का सम्पादक हो सकता था, सूर्यास्त के कथन से सर्वत्र

---

१५४. हितोबदेश उपोद्घात (प्रस्ताविकी)

१५५. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका; १।११५ वृत्ति

१५६. वही, १।११६ पू०

१५७. वही, १।११६ उ०

१५८. वही, १।११७ वृत्ति

१५९. अत्रौत्सुक्यमात्रस्य पांसुलेप्सित संपादकत्वेऽपि सूर्यास्तौल्लसिततमोरूपकारणान्तरसांन्निध्यात्सौकर्यं जातमिति लक्षणानुगमः।

अन्धकार प्रसरणरूप कारणान्तर के सान्निध्य से उसकी कामना सिद्धि में सौकर्य आ गया, इसलिए लक्षण समन्वय हुआ।

५२. प्रत्यनीक अलङ्कार,—

प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।
जैत्रनेत्रानुगौ कर्णावुत्पलाभ्यमधः कृतौ।[१६०]

इस लक्षणोदाहरण के अनुसार शत्रु को अपने से बलवान् समझकर उसका कुछ अपकार न करके उसके आश्रित या भिन्न को दुर्बल होने से जीता है या उसके आश्रित पर पराक्रम दिखाया जाता है। ऐसे वर्णन में प्रत्यनीक अलङ्कार होता है। इस नाम की दो व्युत्पत्तियाँ दी गयी है **अनीके इति प्रत्यनीकम् विभक्त्यर्थमव्ययीभावः यद्वा अनीकं प्रत्यनीकम् लक्षणेनाभिप्रतीआभिमुख्ये इत्यव्ययीभावः**[१६१] दोनों से समान तात्पर्य ही निकलता है। अनीक सैन्य (पक्षपाती) पर या पक्ष को लक्ष्य बनाना। इसमें शत्रु को पराक्रम का लक्ष्य न बनाकर पक्ष को बनाया जाता है। इसीलिए इसकी अन्वर्थता सिद्ध होती है। पण्डितराज ने यहाँ गुणभूत सादृश्यार्थ में अव्ययीभाव माना है। और विग्रह किया है। **अनीकेन सैन्येन सदृशम् इति प्रत्यनीकम्।**[१६२] जिस प्रकार सैन्य को कमजोर से लड़ना पसन्द होता है, बलवान् से नहीं, उसी तरह इस अलङ्कार में भी कमजोर पर पराक्रम दिखाने का वर्णन होता है। इस तरह यह नामकर सार्थक इस जगन्नाथ के मतानुसार यहाँ सदृशः सख्या, सखि शब्द की तरह अव्ययं विभक्ति समीप—सूत्र से उसमें यथार्थग्रहण सामर्थ्यात् गुणीभूत सादृश्य में अव्ययीभाव माना गया है। यह व्युत्पत्ति से अधिक उपयुक्त है।

उत्पलों ने अपने विजेता नेत्रों के अनुग निकटवर्ती कानों को कर्णावतंस बनकर अधः कर दिया। यहाँ अनुग के दो अर्थों—'समीपवर्तिनौ' और 'सेवकौ' तथा 'अधः कृतौ' के दो अर्थों 'भारेणाक्रान्तौ' और 'तिरस्कृतौ' अभेदारोप के कारण श्लिष्टरूपक है, जिनसे उत्पल में 'बिजगीषु का आरोप व्यक्त होता है। इस तरह यहाँ श्लिष्टरूपक मूलक प्रत्यनीक से रूपकालङ्कार ध्वनित हुआ है। उत्पल ने अपने अधिक सुन्दर नेत्र को जीतने का प्रयत्न न करके उसके अनुग कर्णों को जीता। इस तरह प्रत्यनीक का लक्षण समन्वित होता है।

५३. काव्यार्थापत्ति अलङ्कार—

'किमुत' और की बात ही क्या इत्यादि शब्दों के प्रयोग से जहाँ अर्थ की (व्यङ्ग्यार्थ की) सिद्धि हो उसे काव्यार्थापति कहते हैं। जैसे **स जितस्त्वन्मुखेन्दुः का**

---

१६०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका २।११८

१६१. आशाधरभट्ट, कुवलयानन्दकारिका, १।११८ वृत्ति

१६२. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, पृ० १३५ (चन्द्रिका टीका)

वार्ता सरसीरुहम् ।[१६३] **'हे प्रिये त्वन्मुखेन सः प्रसिद्धः पद्मसंकोचक इन्दुर्जितस्तर्हि सरसी रूहं पद्मं जितमिति तु का वार्ता'** अर्थात् कमल संकोचक इन्दु को जिस तेरे मुख ने जीत लिया है, उसने कमल को जीत लिया है, यह कहने की आवश्यकता नही है, स्वयं सिद्ध है, अर्थात् आपद्यते अर्थवश आ जाता है। लक्षरण में कैमुत्यशब्द उपलक्षक है, इसलिए तदर्थक अन्य शब्दों के प्रयोग में भी यह अलङ्कार होता है। **'अत्र पद्मजेतरि चन्द्रे जिते पद्मे तु, जितमेवेति दण्डापूपिकान्यायेन व्यंग्यार्थाच्छेपः** ।[१६४] के द्वारा यह बताया गया है 'जिसने पद्म विजेता चन्द्र को जीत लिया, उसने पद्म को तो जीता ही, इस व्यंग्यार्थ की सिद्धि दण्डापूपिकान्याय से होती है। यदि कोई कहे कि 'मूषवेषा दण्डोभक्षितः' तो यह अर्थ आ ही जाता है कि डण्ड में लटकाया गया अपूप 'मालपूआ' तो अवश्य ही खा गया होगा। यही दण्डा-पूपिकान्याय है। इस तरह एक अर्थ के कथन से उस अर्थ से आक्षिप्त अर्थ यदि चमत्कारी हो तो **काव्यार्थपत्ति** होती है। यहाँ काव्य पद दर्शन में स्वीकृत अर्थापत्ति प्रमाण की व्यावृति के लिए है जिसे अन्य अलङ्कारिकों ने चमत्काराभाव के कारण अलङ्कार नही माना है। अप्पय ने उसकी गिनती प्रामाणालङ्कारों में की हैं अतः उससे पार्थक्य बोध के लिए यहाँ नाम में काव्यपद लगाना आवश्यक था। अप्पय ने **सरसीरुहम्**[१६५] लिया है। उसका सीधा अन्वय वार्ता के साथ होता है। आशाधर-भट्ट स्वीकृत **सरसीरुहम्** पाठ में **स इन्दुस्त्वन्मुखेन जितस्तर्हि सरसीरुहम् जितम् तु का वार्ता वार्तां विनापि पृथक् सूचनं विनापि जातमेव** यह अध्याहार पूर्ण अन्वय करना पड़ता है, तथापि यह अर्थ अधिक चमत्कारी है। अतः फलमुखगौरवं न दोषा-धायकम्' के अनुसार इस गौरव को स्वीकार किया जा सकता है।

५४. काव्यलिङ्ग अलङ्कार :

समर्थन की अपेक्षा रखने वाले अर्थ का हेतु के द्वारा समर्थन करने पर काव्यलिङ्ग होता है। 'काव्यस्याभिमतं लिंगं काव्यलिङ्गम्' इस अन्वर्थ नाम के कारण दार्शनिकों के नीरस हेतु (लिङ्ग) प्रदर्शन में यह अलङ्कार नहीं होता। अग्निपुराण में कहा गया है—सिसाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः। कारको ज्ञापकश्चेति द्विधा सोऽप्युपदिश्यते ॥ अर्थात् जिस अर्थ को सिद्ध करना चाहते हैं, उनके साधक को कहते है। यह दो प्रकार का होता है—कारक और ज्ञापक। 'दण्डेन घटः' में दण्ड कारक हेतु है. वह्निमान् धूमात् में धूम ज्ञापक हेतु है। ऐसे हेतुओं में चमत्कार नहीं रहता। इसलिए काव्यलिङ्ग नहीं माना जाता है।

इसका उदाहरण है **जितोऽसि मन्दकन्दर्पमच्चितेऽस्ति त्रिलोचनः**[१६६] **मूर्ख**

---

१६३. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।११९ उ०
१६४. वही, १।११९ वृत्ति
१६५. अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द, का० १२० अलङ्कारसूरभि टीका
१६६. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१२० उ०

कन्दर्प । तू मुझसे जीता गया क्योंकि मेरे चित में त्रिलोचन (तीन नेत्र वाले रुद्र) का निवास है । रुद्र ने तीसरे नेत्र को खोलकर काम को भस्म कर दिया था । इसीलिए त्रिलोचन का जिस मन में निवास है, वहाँ मन्मथ जाएगा तो मारा जायेगा । काम दुर्जय है, अतः उसकी जीत का कथन समर्थन की अपेक्षा रखता है । उसकी पराजय का समर्थन त्रिलोचन का सान्निध्य बताकर किया गया है । इसके दो भेद मुख्य हैं, वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग और पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग । इनमें प्रथम का उदाहरण यहाँ दिया गया है। द्वितीय का उदाहरण कुवलयानन्द की वृत्ति में दिया गया है ।

प्रस्तुत उदाहरण में त्रिलोचन पद (अग्निनेत्र) का प्रतिपादक है, अतः साभिप्राय है । इसीलिए यहाँ विशेषण के साभिप्राय होने से परिकर अलङ्कार भी है । यदि त्रिलोचन को विशेष माने तो परिकरांकुर है । इस तरह यह उदाहरण परिकर या परिकरांकुर से सङ्कीर्ण काव्यलिङ्ग का है ।

मेरे विचार में 'मन्द' यह पद कन्दर्प की पराजय की अर्हता को प्रकट करने के कारण ही पदार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग भी है ।

५४. अर्थान्तरन्यास अलङ्कार :

अर्थान्तरन्यास के लक्षण में युगपत् पद का अध्याहार करके टीकाकार ने कहा है—**सामान्यविशेषयोः बहुव्यापकाल्पव्यापकयोरर्थयोरुक्तिः युगपदीति शेषः ।**[१६७] इस तरह प्रस्तुत सामान्य और विशेष वाक्यार्थ के साथ विशेष और सामान्य अप्रस्तुत वाक्यार्थान्तर के न्याय उपस्थापन में अर्थान्तरन्यास होता है । जैसे '**हनुमानब्धिमतरद्दुष्करं किं महात्मनाम्**[१६८] वर्णनीय प्रस्तुत वाक्यार्थ 'हनुमान अब्धिमतरत् उल्लंघितवान्—विशेष है । उसके पोषण के लिए **दुष्करं किं महात्मनाम्** जैसे सामान्य वाक्यार्थ का न्यास होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । **अत्र प्रकृतार्थ विशेषस्यसमर्थनार्थ सामान्यार्थोक्तिः** अर्थान्तरन्यास में वाक्यार्थों में सामान्य विशेष भाव होता है । काव्यलिङ्ग के वाक्यार्थों में हेतु हेतुमद् भाव रहता है । यह पार्थक्य कुवलयानन्द में बताया गया है । इसीलिए कार्यकारणभावमूलक उक्ति काव्यलिङ्ग में अन्तर्भूत हो जाता है । यही कारण है कि इस ग्रन्थ में कार्यकारणमूलक। उक्ति में अर्थान्तरन्यास नहीं माना गया है । जैसा कि कुछ आलङ्कारिक मानते हैं ।

यह भी समझना चाहिए कि जहाँ समर्थन को अपेक्षा रहती है, वहाँ काव्यलिङ्ग होता है और अपेक्षा नहीं रहने पर भी समर्थन रहे तो अर्थान्तरन्यास 'जितोऽसि मदकन्दर्प यदि इतना कहा जाय तो अर्थ पुष्ट नहीं होगा क्योंकि कामदेव दुर्जय है, इसीलिए यहाँ समर्थन की अपेक्षा हैं । समर्थन के बिना कामदेव विजय

---

१६७. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१२१ वृत्ति

१६८. वही, १।१२१ उ०

विश्वसनीय नहीं होगा। इसीलिए **मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः** कहना आवश्यक है। परन्तु अलौकिक चरित वाले हनूमान् के लिए **हनूमानब्धिमतरत्** यह कथन सिद्ध है। अविश्वसनीय नहीं है तथापि **दुष्करं किं महात्मनाम्** कही गई है। अतः अर्थान्तर-न्यास है। यह पार्थक्य भी इन दोनों में है।[१६९] विशेष का सामान्य से समर्थन का उदाहरण हनूमान् महात्मनाम् है। सामान्य का विशेष के द्वारा समर्थन का उदाहरण है। गुणवान् वस्तु के संसर्ग से स्वल्प (तुच्छ) वस्तु भी गौरव को प्राप्त होती है यह एक सामान्य (व्यापक) बात है। इसका इस विशेष वाक्यार्थ के न्यास से करते हुए कवि लिखता है कि पुष्पमाना अनुसंग से धागे को भी लोग शीश (गले) में धारण करते हैं। उदाहरण में प्रयुक्त **शिरः** शब्द कण्ठ परक है। **शिरः शब्दोऽत्र कण्ठपरः**[१७०] पुष्प गुणवान् है क्योंकि वह किजल्क के तन्तु से युक्त है यह कोई कहते हैं। कोई पुष्पमाला को तन्तु ग्रन्थि होने के कारण गुणवी मानते हैं। सुगन्ध गुण के कारण फूल गुणवान् है। यह कुशल लोगों का मत है। गुण शब्द प्रत्यंचा और तन्तु गन्ध आदि के लिए प्रसिद्ध है। किंजल्क में नहीं। इसीलिए प्रथम मत गलत है। वस्तुतः सुगन्ध गुण से संयुक्त पुष्पमाला एक गुणवत् वस्तु है या माला में तन्तु तन्तु से गुम्फित है। इसीलिए उसको गुणवद् वस्तु मानते हैं और उस गुणवती गन्धवती तथा तन्तुवती माला के संसर्ग से सूत्र को भी लोग धारण करते हैं। ऐसा मानकर ही लक्षण समन्वय करना चाहिए।[१६९]

५९. विकस्वरालङ्कार :—

जिसमें विशेष सामान्य विशेष क्रम से आते हैं, वह विकस्वरालङ्कार कहलाता है। '**यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वर**।[१७२] इसमें विशेष की पुष्टि सामान्य से की जाती है और उसकी दृढ़ता के लिए तीसरे वाक्य में विशेष का उपादान किया जाता है। इस तरह उसकी व्युत्पत्ति मानी जाती है।' **विकसन् धातु करोति इति। विकस्वरः। कस् विकासे धातोः साधुकारिणि अर्थे क्वरप् प्रत्ययः**। शब्द विस्तार और अर्थ विस्तार दोनों को यहाँ विकस्वर शब्द का वाच्यार्थ लिया जाता है। आशाधरभट्ट ने विकस्वर शब्द का जो अर्थ बताया है वह तो **आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुककारिषु** ३।२।१३४ सूत्र के अनुसार भी है परन्तु **क्वरप्**

---

१६९. अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द, पृ० २०४ (अलङ्कारसुरभिटीका)

१७०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।१२२ वृत्ति।

१७१. वही, १।१२२ वृत्ति

१७२. वही, १।१२३ पू०

प्रत्यय इस शब्द में नहीं होता। यहाँ तो **स्थेशभासपिसकसो वरच** ३।२।१७५ सूत्र से वरच् प्रत्यय होता है। अर्थ भी यदि आक्वे सूत्र के अनुसार तच्छील मानें तो कोई हर्ज नहीं है। महावैयाकरण से यह प्रमाद कैसे हुआ, आश्चर्य है।

उदाहरण **स न जिग्ये महान्तो हि दुर्धर्षाः सागरा इव**[१७३] में स न जिग्ये (**स राजा न जितः केनापि**) यह अर्थ प्रस्तुत तथा विशेष है। इसके समर्थन में सामान्य (**महन्तो हि दुर्श दुर्धर्षाः**) वाक्यार्थ रखा गया और उसकी पुष्टि 'सागरा इव' इस उपमा के द्वारा की गई है। इस तरह इस उदाहरण में मध्य का वाक्यार्थ अर्थान्तरन्यास और अन्त का वाक्यार्थ उपमा अर्थ प्रस्तुत करता है।

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्विवांकः॥[१७४]

कालिदास के इस कुमारसंभवीय वर्णन परक पद्य में भी पूर्वोक्त उदाहरण की तरह ही 'विक्स्वर' है।

पूर्वोक्त उदाहरणों के अन्तिम वाक्य में विशेषान्तर का न्याय उपमान रीति के अवलम्बन पर हुआ है। '**इदमुपमानरीत्या उदाहरणम्**[१७५] किन्तु यह अलङ्कार अर्थान्तिरन्यास रीति से भी होता है, जहाँ तृतीय वाक्यार्थ में विशेष का न्यास अर्थान्तिरन्यास अलङ्कार की तरह होता है। जैसे—

कर्णारुन्तुदमन्तरेण रणितं गाहस्व काक। स्वयम् माकन्दं वलरन्दशालिन-मिह त्वां मन्वथे कोकिलम्। धन्यानि स्थल वैभवेन कतिचिद्वस्तूनि कस्तूरिकां नेपालक्षितिपालभालपतिते पंके न शंकेत कः?[१७६] यहाँ जहाँ यह कहा गया था कि हे काक मतुम कर्कश स्वर छोड़कर आम के पेड़ पर बैठकर मञ्जरी के मकरन्द का आस्वादन करोगे तो लोग तुझे कोयल समझेंगे। किसी स्थान विशेष की महिमा से कई वस्तुएँ धन्य हो जाती है। नेपाल के महाराजा के ललाट पर लगे पंक को कौन व्यक्ति कस्तूरिका तिलक नहीं समझता है। यहाँ प्रथम दो चरणों में कौए का आम के पेड़ पर कोकिल समझा जाने का वणंन विशेष उक्ति है। इसका समर्थन 'स्थान की महिमा से वस्तुएं महिमा पा जाती है, इस सामान्य कथन के द्वारा हुआ है। इस कथन में अर्थान्तिरन्यास है जो इस सामान्य कथन के द्वारा हुआ है। इस कथन में

---

१७३. आशाधरभट्ट; कुवलयानन्दकारिका, १।१२३ उ०
१७४. वही, १।१२३ में उदाहृत कालिदास : कुमारसंभव
१७५. अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द, पृ० २०६ (अलङ्कारसुरभिटीका)
१७६. वही, का० १२४ (अलङ्कारसुरभिटीका)

अर्थान्तरन्यास है। इस सामान्य का पुनः 'अर्थान्तरन्यास विधि से' नेपाल राज के भाल पर पंक भी कस्तूरिका समझा जाता है। इस विशेष के द्वारा हुआ है। अतः इस उदाहरण में भी विकस्वरालङ्कार है।

इस तरह इसके दो भेद होते हैं (१) **उपवानरीत्या तृतीय विशेषोपस्थान रूप विकस्वर** (२) और **अर्थान्तरन्यासरीत्या तृतीय विशेषोपस्थान रूप विकस्वर।** दोनों में द्वितीय वाक्य अर्थान्तरन्यास स्वरूप ही होता है पर तृतीय की भेद के आधार पर ये दो भेद किए गए हैं।

इस अलङ्कार की उद्भावना जयदेव ने की और अप्पय ने इसे स्वीकार किया। अन्य आलङ्कारिक ने इसको नहीं माना है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि इसके उदाहरणों में कहीं अर्थान्तरन्यास और उपमा की ओर, कहीं दी अर्थान्तरन्यासो से अलङ्कारों का मिश्रण है। इसे नवीन अलङ्कार माना जा सकता। थोड़ी-थोड़ी विशेषता के आधार षर अलङ्कारान्तर माने तो 'वीक्ष्य रामं थनश्यामं ननृतुः शिखिनो वने' में उपमा से पोषित भ्रान्ति के कारण अलङ्कारान्तर मानना पड़ेगा।[१७७]

आशाधरभट्ट ने **प्राचां मते त्वर्थान्तरन्यासयोः संकरो यं न तु अलंकारान्तरं तस्यैव नामान्तरं वा।**[१७८] के द्वारा प्राचीन मतों के अनुसार इसको अर्थान्तरन्यासों का संकर कहा है। उसका कथन न्यूनार्थक है, उन्हें अर्थान्तरन्यास तया उपमा का संकर भी बताना चाहिए। क्योंकि मूल के उदाहरण में दो अर्थान्तरन्यास नहीं है। भट्ट ने 'संकर' कहा है तथा जगन्नाथ ने संसृष्टि। यहाँ भी विरोध दीखता है। शायद भट्ट प्राचीन विद्वानों की तरह अनुग्राह्यानुग्राहक भाव होने पर संकर ही मानते थे, संसृष्टि नहीं। इसलिए ऐसा लिखा गया होगा।

५७. प्रौढोक्ति अलङ्कार :—

प्रकृतार्थ का जो हेतु न हो सकता हो उसको हेतु कहा जाय तो प्रौढोक्ति अलङ्कार होता है। चन्द्रालोक ने इसका उदाहरण दिया था। **कलिन्दजा तीररुहाः श्यामला सरलद्रुमाः**[१७९] यमुना का पानी श्याम है। अतः उसे पीने वाले श्याम वर्ण के हो जाएं, यह सम्भव नहीं है। परन्तु उदाहरण में सरलद्रुम (चीड़ के वृक्ष) की यमुना तीर पर तथा उगने तथा रहने के कारण श्याम कहा गया है। अतः श्यामता का जो हेतु नहीं है, उस यमुना तीर रोहण को हेतु कहा गया हैं। अतः

---

१७७. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगङ्गाधर, पृ० ६३६-४० (चन्द्रिकाटीका)

१७८. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका० १।१२३ वृत्ति

१७९. जयदेव, चन्द्रालोक, पञ्चम मयूख, का० ४७

लक्षण समन्वय होता है। अप्पय ने चन्द्रालोक का लक्षण तो ज्यों का त्यों अपनाया है, परन्तु उदाहरण बदल कर 'कचाः कलिन्दजातीरतमालस्तोम मेचकाः[१८०] श्रीकृष्णस्य का अध्याहार करके श्रीकृष्ण के बाल यमुना तीरस्थ तमाल वृक्ष के समान काले हैं, यह किया है। **तमालानां...लक्षणानुगमः**[१८१] के अनुसार तमाल के श्यामल होने में यमुनातीरोत्पन्नत्व हेतु नहीं है। इस तरह अहेतु को हेतु कहने से लक्षण समन्वय होता है। श्याम समीपस्थ श्याम होता है, इस प्रौढ़ियुक्त कल्पना के आधार पर पूर्वोक्त वर्णन होने से इसका नाम सार्थक होता है।

कुवलयानन्द तथा कु० कारिका में यह परिवर्तन शायद इसीलिए किया होगा कि मथुरा के आसपास 'सरल द्रुम (चीड़ के वृक्ष) नहीं होते हैं। परन्तु मेरे विचार में यमुना जहाँ पहाड़ों में बहती है, वहाँ के दृश्य को देखकर यह प्रौढ़ोक्ति की गई है, वहाँ तो चीड़ के वृक्ष होते ही हैं।

इसे मम्मट रुय्यक ने नहीं माना है। पण्डितराज ने इसे पृथक् अलङ्कार मानकर लिखा है—**कस्मिंश्चिदर्थे किं चद्धर्मकृतातिशय प्रतिपादयिषया प्रसिद्धतद्-धर्मवता संसर्गस्योद्भावनं प्रौढोक्तिः।**

मन्थाचल भ्रमणवेगवशंवदा ये दुग्धाम्बुधेरुदपतन्नणवः सुधायाः।
तैरेकतामुपगतैर्विविधौषधीभि र्धाता ससर्ज तव देव दयादृगन्तान इति।[१८२]

५७. संभावना अलङ्कार :

किसी व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि के लिए यदि इत्थम् स्यात् तथा इत्थं स्यात् इस प्रकार के ऊह का वर्णन संभावनालङ्कार कहलाता है। **यदिशेषो भवेद्वक्ता कथिताः स्युर्गुणास्तव।**[१८३] में आपके गुण अनन्त तथा अगण्य हैं, इस व्यङ्ग्य की सिद्धि के लिए यदि शेषनाग (सहस्र मुख वाले) वक्ता हों तो भी आपके गुण कहे जा सकते हैं। इस ऊह में संभावनालङ्कार है। इसे मम्मट आदि पृथक् अलङ्कार नहीं मानते हैं और यश्चर्योक्तौ तु कल्पनम्' नामक अतिशयोक्ति में ही इसका समावेश मानते हैं। जयदेव और अप्पय ने इसे पृथक् अलङ्कार माना है। वामन और विश्वनाथ भी इसे अतिशयोक्ति ही मानते हैं।

---

१८०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१२४ उ०

१८१. तमालानां श्यामलत्वे यमुनातीरोत्पन्नत्वं त न हेतुरित्यहेतोस्तस्य श्याम-समीपस्थं श्यामं भवतीति युक्तिमाश्रित्य तमाल विशेषणं कृतमिति लक्षणानुगः। —वही, १।१२४ वृत्ति

१८२. पं० राज जगन्नाथ : रसगङ्गाधर, पृ० ६७१

१८३. आशाधरभट्टः कुवलयानन्दकारिका १।१२५ उ०

५८. मिथ्याध्वसिति अलङ्कार :—

किंचिन्मिथ्यात्वसिद्धयर्थं मिथ्यार्थान्पर कल्पनम् ।
मिथ्याध्यवसितिवेंश्यां वशयेत्खस्त्रजं वहन् ॥[१८४]

इन मूल तथा **कस्यचि...व्युत्पत्तेः** इस व्याख्या के अनुसार किसी कार्य की मिथ्यात्वसिद्धि के लिए अन्य मिथ्यात्व की कल्पना को मिथ्या ध्वसितिनामक अलङ्कार कहते हैं जैसे **खस्त्रजं...वहन् वेश्यां वशयेत् ।** गगन कुसुमों की माला धारण करने वाला वेश्या को वश में कर सकता है। इस उक्ति में वेश्या को वश में करना असम्भव है। इस बात की सिद्धि को कवि ने खपुष्पों की माला धारण करना' इस दूसरे मिथ्या अर्थ की कल्पना की है। अतः मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार है। **अत्र खपुष्पमालावहनोक्त्वा वेश्यावशीकरणस्य मिथ्यात्वसिद्धिः । यद्यादिप्रयोगाभावाच्च पूर्वस्माद्भेदः ।**[१८५] यदि ऐसा हो जाए तो ऐसा हो, इस अर्थ की कल्पना नहीं है। अतः इसमें पूर्वोक्त संभावनालङ्कार से भेद है। इसको पृथक् अलङ्कार केवल अप्पय-दीक्षित ने माना है। अन्य आलङ्कारिक सम्बन्ध रूपा अतिशयोक्ति ही मानते है। जगन्नाथ ने उसका अन्तर्भाव प्रौढोक्ति अलङ्कार में किया है। **वेश्यां वश्येत ...**[१८६] इस उदाहरण में निदर्शना मानी है। वे कहते हैं कि यदि मिथ्याध्यवसिति को अलग से अलङ्कार मानें तो सत्याध्यवसिति को भी पृथक् अलङ्कार मानना पड़ेगा। जैसे—

हरिश्चन्द्रेण संज्ञप्ता प्रणीता धर्मसूनुना ।
खेलन्ति निगमोत्सङ्गे मातगङ्गे गुणास्तव ॥

यहाँ हरिश्चन्द्रादि से संबद्ध गुणों की सत्यता सिद्ध हो रही है। अतः सत्याध्यवासिति को भी पृथक् अलङ्कार मानना पड़ेगा, तुल्यन्यायात् । वस्तुतः इन दोनों कथनों में प्रोढोक्ति ही मानना चाहिए।

५९. ललितालङ्कार :—

इसको भी केवल अप्पय ने माना है। इसका लक्षण 'कुवलयानन्द में **वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृतान्त प्रतिबिम्बस्य वर्णनम्**[१८७] दिया गया है। कुवलयानन्दकारिका में

---

१८४. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१२६ उ०

१८५. वही, १।१२६ वृत्ति

१८६.. 'वेश्यां वशयेत् खस्त्रजवहन् इति कुवलयानन्दकृता मिथ्याध्यवसतेरूदाहरणं निमितं तत्तु निदर्शनयैव गतार्थत्वात् । यदि मिथ्याध्यवसतेरलङ्कारान्तरत्वं सत्याध्यवसितिरपि तथा स्यात् ।

—पं० राज जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, पृ० ६७३

१८७. अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द (अकङ्कारसुरभि टीका) श्लोक १२८, पृ० २१३

कुछ परिवर्तन के साथ लिखा गया है । प्रस्तुते वर्ण्यवाक्यार्थ प्रतिबिम्बस्य वर्णनम्[१८८] दोनों का अर्थ समान है । प्रस्तुत में वर्ण्य में वर्ण्यवृतान्त के प्रतिबिम्ब अप्रस्तुतवृतान्त के वर्णन में ललित होता है । जैसे (कोई नायिका समीप आए अपराधी नायक का तिरस्कार कर बैठती है तथा उसके चले जाने पर सखी को उसे मनाने भेजती है, इसे देखकर कोई कहता हैं) वह नायिका नदी या तालाब के पानी के निकल जाने पर अब सेतु (बांध) बांधने की इच्छा करती है । अवसर चूक जाने पर पीछे काम करने के लिए प्रयत्न का उपहार यहाँ किया गया है । उदाहरण में एषा[१८९] शब्द का प्रयोग है । इसलिए समस्त वाक्यार्थ अप्रस्तुत नहीं है । उसका एक-एक देश 'ऐसा' एस सर्वनाम के द्वारा प्रस्तुत बन गया है । इसीलिए यह अप्रस्तुत प्रशंसा या रूपकातिशयोक्ति से भिन्न है । यह सिद्ध होता है ।

मम्मट, दण्डी आदि के अनुसार इसका अन्तर्भाव आर्थीनिदर्शना में होता है, क्योंकि यहाँ सादृश्य का आक्षेप करके **कोऽपि नीरे निर्गते सेतुं कर्तुमिच्छति तथा इयं नायिका नायके निर्गते तमनुनुकूनायितुं दूतीं प्रेषयितु मिच्छति** इस प्रकार से अन्वय बिठाया जाता है ।

पण्डितराज इसे पृथक् अलङ्कार मानते हैं । वे कहते हैं—**प्रकृत धर्मिणि प्रकृत व्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणो प्रकृतव्यवहार सम्बन्धो ललितालङ्कारः ।**[१९०]

अलङ्कारचन्द्रिका—टीका में कहा है कि **निर्गते नीरे सेतुमेषाचिकीर्षति**[१९१] इस वाक्यार्थ का सादृश्य पर्यवसान तो है, परन्तु प्रकृतवृतान्त का सम्पूर्ण अंश में उपन्यास नहीं है । अतः निदर्शना नहीं मानी जा सकती । निदर्शना में प्रकृतवृत्तान्त वाच्य रहता है, ललित में व्यङ्ग्य । व्यङ्ग्य होने के कारण इस प्रकार की सरणि में अधिक चमत्कार होता है । इसीलिए ललित को निदर्शना से भिन्न अलङ्कार मानना चाहिए ।

९०. प्रहर्षण के अलङ्कार के तीन भेद—

प्रहर्षण के तीन भेदों तथा विषादान की व्याख्या में टीकाकार ने कोई विशेष उल्लेख नहीं किया है । केवल लक्षणों की व्याख्या और उनका लक्षणानुगम दिखाया है ।

---

१८८. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।२७ वृत्ति
१८९. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१२७ वृत्ति
१९०. पं० राज जगन्नाथ : रसगङ्गाधर, पृ० ६०४ (चन्द्रिका टीका)
१९१. अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द, पृ० १५० (अलङ्कारचन्द्रिका टीका)

६१. उल्लास अलङ्कार—

एक के गुण से दूसरे में गुण, एक के दोष से दूसरे में दोष, एक के गुण से दूसरे में दोष और एक के दोष से दूसरे गुण के वर्णन में चार प्रकार के उल्लास का वर्णन हुआ है। **अपि मां पावयेत्साध्वी स्नात्वेतीच्छति जाह्नवी**[१९२] में **अत्र साध्व्या ...लक्षणागमः**[१९३] के पतिव्रता के पावनत्व गुण से जाह्नवी में वह गुण वर्णित हुआ है। इसलिए यह प्रथम पद का उदाहरण है। **काठिन्यं योषितः**[१९४] कुच काठिन्यकर्थत्व दोष और चखा कमलों में उसके अभाव दोष से विधाता की निन्दा (दोष) का वर्णन है। **तदभाग्यं...सज्जनम्**[१९५] में सज्जन के सेव्यत्व गुण से उसके पास नहीं रहने के कारण धन में अभाग्यत्व दोष का और 'लाभो य **बधः**[१९६] राजा के शौर्य दोष से सेवकों के वधाभाव गुण का वर्णन हुआ है।

६२. अवज्ञालङ्कार—

यदि एक के गुण-दोष का प्रभाव दूसरा नहीं ग्रहण करता है तो अवज्ञालङ्कार होता है। जैसे **स्वल्पमेवा...अभूतद्युतेः**[१९७] में। यहाँ पूर्वार्द्ध में यह दिखाया गया कि महान् सागर को प्राप्त करके भी प्रस्थ परिमितजलग्राहीपात्री कोई वर्तन थोड़ा ही पानी प्राप्त करता है। यहाँ सागर के महाविशालत्व का लाभ पात्र को नहीं हुआ। अतः सागर के गुण का उस पर प्रभावाभाव बताया गया है। उत्तरार्द्ध में चन्द्र को देखकर निमीलन प्राप्तिरूप दोष से चन्द्र में हानिरूप दोष का अभाव वर्णित है। इसका यह नाम सार्थक है क्योंकि अन्य के गुण-दोषों का अग्रहण रूप तिरस्कार (अवज्ञा) इस उदाहरण में वर्णित है।

टीकाकार ने कहा है कि इसके लक्षण में 'अलङ्कृति' शब्द का प्रयोग इसीलिए किया गया है कि चमत्कार की अल्पता होते हुये भी इसे अलङ्कार माना

---

१९२. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।१३२ उ०

१९३. अत्र साध्व्याः पवित्रतागुणेन जाह्नव्या स गुणो वर्णित इति लक्षणानुगमः।
—वही, १।१३२ वृत्ति

१९४. काठिन्यं कुचयोः सृष्टं वाञ्छन्त्यः पादपद्मयोः
निन्दन्ति विश्वधातारं त्वद्धाटीष्वरियोषितः॥
—वही, १।१३३

१९५. तदभाग्यं धनस्यैव यन्नाश्रयति सज्जनम्।
लाभो यमेव भूपालसेवकानां न चेद्वधः॥ —वही, १।१३४

१९६. वही।

जाय अन्यथा अलङ्कार प्रकरण में पाठ होने से ही इसकी अलङ्कारता सिद्ध हो जाती है। 'अलङ्कृति' का प्रयोग व्यर्थ था। **अत्र गणमानो...नार्थः**[१९८]

६३. अनुज्ञा अलङ्कार—

किसी दोष में गुण दिखाकर यदि उसकी प्राप्ति की इच्छा या उसके लिए प्रार्थना की जाती है तो अनुज्ञालङ्कार होता है। जैसे **विपदः...हरि**[१९९] में। विपति बुरी वस्तु है, परन्तु उसकी इच्छा भक्त इसलिए करता है कि उसमें भगवान् की स्मृति आती है और उसके गुणानुवाद का अवसर मिलता है। इस तरह यह विपति (दोष) की प्रार्थना हरिकीर्तन रूप-गुण-निर्गुण होने से की गई है। अतः अनुज्ञालङ्कार है।

इसको पृथक् अलङ्कार मानने वाले अप्पय और जगन्नाथ ही है। जगन्नाथ ने इसके आधार पर रिस्कार अलङ्कार मानने का सुझाव दिया है। उन्होंने लिखा है कि अप्पय जब अनुज्ञा को अलङ्कार मानते हैं तो इसके जोड़ का तिरस्कार भी मानना चाहिए। शायद वे इसका निरूपण करना भूल गए हैं। 'दोषविशेषानुबन्धाद् गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः'[२००]

६४. तिरस्कारालङ्कार—

श्रियो मे मा सन्तु क्षणमपि च मास्यद् गजघटा-
मदभ्राम्यद् मृङ्गावलि मधुरसं गीत सुभगाः।
निमग्नानां यासु द्रविणरस पर्याकुलहृदां
सपर्यासौकर्यं हरिचरणयोरस्तमयते॥[२०१]

मुझे हाथी, घोड़े, आदि से भरपूर राजलक्ष्मी नहीं चाहिए क्योंकि उसकी देखरेख तथा उसे बढ़ाने तथा रक्षण में व्यस्त हो जाने के कारण मुझे भगवान् के भजन्-पूजन का अवसर नहीं मिलेगा। यहाँ स्पृहणीय राजलक्ष्मी का तिरस्कार उसमें हरीभजन के अवसर के बाधकत्व दोष दिखाकर किया गया है।

६५. लेशालङ्कार—

दोषगुणयो असत्सदर्थयोः गुणदोषत्व कल्पनम् दोषस्य गुणत्वकल्पनं गुणस्य

---

१९७. स्मल्पमेवांश्बु लभते प्रस्थं प्राप्यापि सागरम्।
मीलन्ति यदि पद्मानि का हानिरमृतद्युतेः॥
—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका—, १।१३५

१९८. अत्र गम्यमानोऽप्यलंकृतिशब्दश्चमत्काराल्पत्वेऽपि बाधाभावद्योतनार्थः।
—वही, १३५

१९९. विपदः सन्तु नः शश्वद्यासु संकीर्त्यते हरिः। —वही, १।१३६

२००. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगङ्गाधर, पृ० ६८७ (चन्द्रिका टीका)

२०१. वही,

दोषत्व कल्पनं वा लेश इत्यर्थः लेश...ल्लेशत्वम्।[२०२] इसमें कल्पना का लेश (आंशिक सता) हरता है। इसलिए लेश शब्द से गत्वर्थीय अर्थ आदिभ्यो अत्त् से लेश शब्द का अर्थ लेशवान् अल्पकल्पवान् होता है। (सांग) रूपकादि में जैसे सोपपति कल्पना रहती है अर्थात् आकाशसरोवरे चन्द्रः कमलं भवति तारासमूहः बुदबुदव्यूहः इत्यादि स्थलों में चन्द्र में कमलत्व और तारासमूह में बुद्बुद्व्यूह के आरोप की उपपत्ति के लिए आकाश में सरोवरत्व का आरोप करते हैं, उस प्रकार की सोपपतिक कल्पना का इसमें अभाव सा रहता है। इसमें कल्पना का लेखमात्र रहने से इसका 'लेश' नाम रखा गया है। जैसे अखिलेषु विहंगेषु हन्त स्वच्छन्दचरिषु शुक पंजरबन्धस्तै मधुराणाँ पिरां फलम्'[२०३] के पूर्वार्द्ध में सभी पक्षियों में मधुरवाग्मित्व के अभाव रूप दोष को गुण के रूप में तथा शुक में मधुर वाक् शक्ति को दोष के रूप में दर्शाया गया है। 'अत्र सर्वपक्षिणाः संभवः'[२०४] के द्वारा टीकाकार ने बताया है कि यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा भी हो सकती है। इस कथन में ऐसा लगता है, मानो भट्ट जी इसका अन्तर्भाव अप्रस्तुत प्रशंसा में मानते थे। परन्तु अप्रस्तुत प्रशंसा में अप्रस्तुत की स्तुति से प्रस्तुत की स्तुति का अप्रस्तुत की निन्दा से प्रस्तुत की निन्दा ही प्रगट होती है। यहाँ तो दोष के गुणत्व और गुण के दोषत्व कथन में चमत्कार है। व्याजस्तुति को भी यहाँ नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाँ अन्य पक्षियों की स्तुति के व्याज से पुत्र की निन्दा करने या शुक की निन्दा से पुत्र की स्तुति करने में तात्पर्य नहीं है, किन्तु पुत्र के दर्शन के लिए उत्कण्ठित पिता गुणवान् होने के कारण अन्य अगुणी सभासदों की तरह राजा के द्वारा अवकाश न प्राप्त करने वाले पुत्र के गुण-दोष को क्रमशः दोष-गुण को क्रमशः दोष-गुण के रूप में वर्णित करना ही है।

६६. मुद्रा अलङ्कार :—

प्रस्तुत अर्थ के प्रतिपादन के लिए जहाँ ऐसे शब्दों का विन्यास किया जाता है, जिसने सूचनीय अर्थ 'पद्य का छन्द, नाटक के पात्रों के नाम आदि)। सूचित हो जाता हैं, वहाँ मुद्रालङ्कार होता है। इस तरह 'प्रकृतार्थे प्रकतार्थनिवेशनम् मुद्रा' यह लक्षण बनता है। जैसे **नितम्बगुर्वी तरुणी हग्युग्मविपुला च सा**[२०५] में प्रकृत अर्थ

---

२०२. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।१३७ वृत्ति

२०३. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।१३७ वृत्ति

२०४. अत्र सर्वपक्षिणामवाग्मित्वदोषो गुणत्वेन शुकस्य वाग्मित्वगुणो दोषत्वेन च वर्णितः। अप्रस्तुतप्रशंसाप्यत्र संभवति। —वही, १।१३७ वृत्ति

२०५. वही, १।१३८ उ०

(नायिका) का प्रतिपादक पद 'हग्दुग्मविपुला' यहाँ विर्तमान अनुष्टुप् छन्द के एक विशेष प्रकार की सूचना देता है। इसीलिए 'मुद्रालङ्कार' होता हैं। जहाँ हलायुध-रचित छन्दशास्त्र की वृत्ति में जो छन्द जिसका उदाहरण, उसका नाम सूचित हुआ है। वृतरत्नाकर में 'मन्दाक्रान्ता बहुतरं रसं नोददातीक्षुयष्टिः' इत्यादि उदाहरणों में यही अलङ्कार है। इसी तरह 'स्वप्नवासबदत्तम्' में जो मंगल श्लोक है, उसमें पात्रों के नाम की सूचना से 'मुद्रा' अलङ्कार ही है।

६७. रत्नावली अलङ्कार :—

क्रमिक (क्रमप्राप्त) अप्रस्तुत वस्तुओं के न्यास को रत्नावली कहते हैं। **'गौणो यं...साहश्यानुगमात्।**[२०६] 'रत्नावली' यह नाम एक आभूषण का है। तत्सदृश होने के कारण इस काव्यालङ्कार को यह नाम दिया गया है। इसीलिए इस प्रयोग को **अग्निर्माणवकः** की तरह गौण लाक्षणिक मानना चाहिए। जैसे **चतुरास्यः—महीपते** में यहाँ हे महीपते त्वं **चतुरास्यः...इतिहलायुधः**[२०७] के अनुसार—हे राजन् आप चतुरास्य, (सुन्दर मुखज्ञ लक्ष्म्याः पतिः (धनपति) और सर्वज्ञ सबकुछ जानने वाले हैं, इस अर्थ के साथ यह प्रतीत होता है कि आप ब्रह्मा (चतुरास्य) लक्ष्मीपति विष्णु तथा सर्वज्ञ शिव हैं। इस तरह श्लिष्टरूपक के साथ-साथ क्रमशः ब्रह्माविष्णु और शिव जैसे अप्रस्तुत वस्तुओं के उपन्यास होने से रत्नावली है।

मुद्रा में 'सूच्यार्थस्य प्रकृतान्वयो नास्ति इह सो स्तीति भेदः[२०८] सूच्यार्थ का प्रकृतार्थ में अन्वय नहीं होता है। इसमें अन्वय होता है। यही दोनों में भेद है।

६८. तद्गुणालङ्कार :—

स्वगुणत्याग पूर्वक परकीय गुण ग्रहण में तद्गुण होता है। जैसे नायिका प्रति नायक के कथन—तेरी बुलाकी के मोती अधर कौं (रक्त) कान्ति से पद्मराग मणि के समान बन गया है' में सफेद मोती ने स्वगुण त्याग पूर्वक अधर के गुण (रक्तत्व) का ग्रहण किया है। अतः स्तद्गुण है। यहाँ गृह्यमाण गुण अधर की रक्तिमा में मोती के गुण से उत्कृष्टता अर्थवश सिद्ध हो जाती है। इसीलिए लक्षण में उसका उल्लेख नहीं किया गया है।

अत्र गृह्यमाणगुणस्योत्कृष्टत्वमर्थसिद्धमिति नोक्तम्[२०९]

---

२०६. गौणोऽयं रत्नावलोशब्दः यथा रत्नपंक्तिः सुवर्णे खचिता भवति तथा प्रस्तुतार्थपंक्तिः प्रस्तुतवाक्ये निवेशिता यत्र भवतीति सादृश्यानुगनात्।
—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१३९ वृत्ति

२०७. चतुरास्य पतिर्लक्ष्याः सर्वज्ञस्त्वं महीपते। —वही, १।१३९ उ०

२०८. वही, १।१३९ वृत्ति

२०९. वही, १।१४० वृत्ति

६९. पूर्वरुपालङ्कार :—

स्वगुणस्य परेण तिरोहितस्य पुनःसंप्राप्तिः पुर्वरूपम् । पूर्व प्राचीनं रूपं यस्मिन्निति व्युत्पते:[२१०]

जैसे हरकण्ठाशुलिप्तोपि शेषस्त्वद्यसा सितः[२११] हे राजन् शिव (नीलकण्ठ) के कण्ठ की नील प्रभा से लिप्त होने से शेषनाग वासुकी जो महादेव के गले का हार बना हुआ है और सफेद रङ्ग का था, नील बन गया था, परन्तु वह तेरे यश से पुनः सफेद हो गया है । में पूर्वरूपालङ्कार है । कीर्ति को कवि श्वेत मानकर वर्णन करते हैं—अमूर्तस्यापि यशसः सित्स्वं कवयो वर्णयन्ति ।[२१२] जैसे वाग्भट्ट ने लिखा है कि अप्यहरणां सितां कीर्तिमकीर्ति च तवो न्यथा इति । त्रिबधनीयादिति शेषः[२१३] पूर्व रूप का एक प्रकार वह भी माना जाता है, जहाँ वर्ण्यमान पदार्थ में विकार आने पर भी किसी कारण विशेष से पूर्वावस्था लौटकर आ जाती है । जैसे—'दीपे निर्वापितेप्यासीत्काचीरत्नैर्महन्मः में ।

राज प्रासाद में (सुरतलज्जा से) प्रेरित होकर दीप के बुझाने पर भी कांची के रत्न के प्रकाश महाद् प्रकाश बना रहा था ।[२१४] यहाँ दीप के प्रकाश में विकार (रूपान्तर) आने पर रत्न के तेज से गृह में पूर्वावस्था बनी रही, यह दिखाया गया है । विशेषालङ्कार में (का० ९८ में वर्णित विशेष के प्रथम प्रकार में प्रकृत वस्तु (सूर्य किरण) का स्थानान्तर (दीप) में अवस्थान का वर्णन चमत्कारी होता है । किन्तु इस (पूर्वरूप के प्रकार) में दूसरी वस्तु से कार्य-सिद्धि का वर्णन चमत्कारक है ।

७०. अतद्गुणालङ्कार :—

सम्पर्क प्राप्त अन्य के गुणके अग्रहण में अतद्गुण होता है ।[२१५] ऐसा इसलिए होता है कि स्वकीय गुण परकीय गुण के विपरीत तथा प्रबल होता है । जैसे हे प्रियः रागयुक्त मेरे हृदय में मेरे द्वारा चिरकाल से रखे जाने पर भी तू अनुरक्त नहीं हुआ ।[२१६] रागयुक्त (रङ्गयुक्त) पात्र में चिरकाल से स्थापित वस्तु रक्त हो

---

२१०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।४१, वृत्ति
२११. वही, १।१४१, उ०
२१२. वही, १।१४१
२१३. वही, १।१४१ वृत्ति
२१४. वही, १।१४२ उ०
२१५. पही, १।१४२ वृत्ति
२१६. वही, १।१४३ वृत्ति में उदाहृत

जाती है, परन्तु यहाँ नायक ने रागवती के हृदय में चिरकाल से रहकर भी राग (प्रेम) युक्त नहीं हुआ। अतः संपर्की के गुण का अङ्गीकार वर्णन से अतद्गुण है। यद्यपि रङ्गयुक्त पात्र और रागी हृदय तथा लाल होना और अनुरागी होना अलग-अलग तत्व हैं तथा उनमें शब्द भेदजन्य अभेदा रोप किया गया है। इसीलिए श्लिष्टरूपक है और तन्मूलक अतद्गुण है। **अत्र रागिणि चेतसि निहितस्य रागाभाववर्तनमदद्गुणः। विशेषोक्तिसंकीर्णोऽयम्।**[२१७] इसके द्वारा यह बताया गया है कि कारणराग के रहने पर भी रक्त नहीं होने से यहाँ विशेषोक्ति भी है। अतः यहाँ विशेषोक्ति का भी सङ्कर है।

७१. **अनुगुणालङ्कार :—**

पहले विद्यमान गुण अगर परकीय (समान गुणक) पदार्थ के सम्पर्क से पढ़कर जाता है तो अनुगुण होता है। यहाँ नामस्थ गुण का अर्थ उपकारक किया गया है। अतः इसलिए गुणम् (उपकारकम्) अनुगच्छति इति अनुगुणः यह व्युत्पति मानी गई हैं। यह व्युत्पत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि गुण का अर्थ उपकारक नहीं होता है। उस व्युत्पति में समास विधायक कोई सूत्र नहीं है। इसीलिये अनुरूपं यथा स्यात् तथा गुणमति इति अनुगुणः यह व्युत्पति माननी चाहिये। गणित की प्रक्रिया में 'गुणा' करने पर संख्या की वृद्धि की तरह इस अलङ्कार में भी विद्यमानतत्व कई गुना हो जाते हैं, अतः यह व्युत्पत्ति अभिप्राय को प्रगट करने में सक्षम है। '**नीलोत्पलानि दधते कटाक्षैरतिनीलताम्**'[२१८] कर्णाभरण के रूप में प्रयुक्त नीलकमल कटाक्ष (वक्रपेक्षण) से अतिशय नीले हो जाते हैं। यहां काजल श्यामल भौंह, पलक तथा पुतलियों से नीले कटाक्ष के सम्पर्क से कर्णभरण के नीलोत्पल में उत्कर्ष का वर्णन हुआ है। अतः अनुगुण हैं। यहाँ नीलोत्पल में स्वतः सिद्ध गुणों में परसान्निध्य से जल्दी कार्योत्पति चमत्कारक होती है। जैसे **उत्कण्ठिता...भानुमान्** में। इसलिए दोनों को अलग-अलग माना गया है। **समाध्यलङ्कारे च परसांनिध्याज्झटिति कार्योत्पतिरिति ततो भेदः**[२१९] इसे नागेश ने तद्गुण माना है। टीकाकार को तद्गुण से इसका अन्तर बताने की आवश्यकता इसीलिए नहीं प्रतीत हुई कि इस ग्रन्थ में दोनों के लक्षण-भिन्न-भिन्न है। तद्गुण में एक वस्तु अपना गुण छोड़कर दूसरे का गुण ग्रहण करती हुई बताई जाती है। जैसे—**पद्मरागायते त्विषा** में। सफेद मोती को अधर की कान्ति से लाल हुआ बताया गया है। अनुगुण में नीलोत्पल ने अपने गुण को त्यागा नहीं है, किन्तु परसंगति से उसे बढ़ाया है। दूसरा भेद यह भी है कि तद्गुण में विषय रूप रङ्ग का प्रभाव दिखाया जाता है। इसमें समरूपरङ्ग का।

---

२१७. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१४३ वृत्ति

२१८. वही, १।१४४ उ०

२१९. वही, १।१४४ उ०

७२-७३. मीलित, सामान्य, उन्मीलित, विशेषक अलङ्कार—

इन चार अलङ्कारों के लक्षणों और उदाहरणों की व्याख्या करने तथा लक्षणों का उदाहरणों में समन्वय दिखाने के अतिरिक्त भट्ट जी ने कोई विशेष बात नहीं कही है।

७६. गूढोतरालङ्कार :—

गूढोतरालङ्कार में आकूत (रहस्य) भरा उत्तर दिया जाता है। जैसे **यत्रासौ वेतसी पान्थ तत्रेयं सुतरां सरित्** में यहाँ नायिका से जब कोई पथिक पूछता है कि यह नदी कहाँ पार करने योग्य है तो वह कहती है कि जहाँ वह वेतरी दिखाई पड़ती है, वहाँ नदी उथली है और सुख से पार करने योग्य है। यहाँ यह वेतसी 'निकुंज 'आवयोः संकेतस्थानम्' यह गूढ़ रहस्य प्रकट होता है। यद्यपि यहाँ वाच्य अपने को अप्रधान बनाकर पूर्वोक्त अर्थ की प्रतीति कराता है। अतः ध्वनित है तथापिध्वनि पूर्वोक्त अलङ्कार प्रतीत होती है। अतः इस अर्थ में अलङ्कारत्व नष्ट नहीं हुआ। यह प्राचीन आलङ्कारिकों का मत है।
७७. तक की टीका मूल की व्याख्या मात्र है। १५६ संख्यक अलङ्कार की टीका में **झषं मारयित्वा तिष्ठति** इस मुहावरे का प्रयोग हिन्दी लोकोक्ति का अनुवाद है।

७८. वक्रोक्ति अलङ्कार :—

वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकल्पनम्[२२०] अयरार्थ (दूसरे अर्थ) की कल्पना जहाँ श्लेष या काकु के आधार पर की जाती है, वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार होता है। तात्पर्य यह है कि वक्ता का विवक्षित अर्थ कुछ और होता है, लेकिन श्रोता उसके विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ मान बैठता है। भिन्नार्थक मानने का कारण है—श्लेष और काकु। इसलिए इसके दो भेद होते हैं। श्लेषवक्रोक्ति और काकुवक्रोक्ति। यह अर्थ सरल था। परन्तु भट्ट जी ने **अपरार्थप्रकल्पदं अपरस्पर-विवक्षिताभिन्नार्थस्य प्रकल्पनं संपादनं वक्रोक्तिः**[२२१] में अर्थ को पेचीदा बना दिया है। अपरस्पर विवक्षित भिन्नार्थस्य कल्पनं में 'अपरस्पर' का 'अ' गलत है। परस्पर वक्ता और श्रोता के विवक्षित भिन्न (अविवक्षित) अर्थ की कल्पना वक्रोक्ति है। यही कहना पर्याप्त था। 'अ' का न का सम्बन्धं मानने से एक भिन्न और जुड़ जाएगा। इस तरह अर्थ हो विवक्षित भिन्न-भिन्न अर्थात् विवक्षित अर्थ की कल्पना वक्रोक्ति है। यह लक्षण असंगत ही माना जाएगा। प्रथम का उदाहरण **मुञ्च मानन्दिनं प्राप्तं**' मान छोड़ो दिन हो गया है, नायक की इस अर्थ के विपरीत

---

२२०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१५८ पू०
२२१. वही, १।१५८ वृत्ति

अर्थ की—**मानन्दिनं मुञ्च** की—कल्पना श्लेष के आधार पर करके नायिका कहती है—नेह नन्दी हरान्ति' के तुम जो नन्दी को नहीं छोड़ने (खोलने) की बात कहते हो वहाँ यह घटित नहीं होती क्योंकि नन्दी यहाँ नहीं है। नन्दी तो शिव के बैल का नाम है, वह तो शिव के पास होगा। अतः उसे न खोलना यो खोलना शिव के हाथ में है, मुझे नही खोलने के लिए क्यों आज्ञा देते हैं। इसीलिए यहाँ वक्ता उक्तिः या वक्तुः विवक्षितार्थ विपरीता उक्ति है या कुटिल व्यक्ति की उक्ति है। अतः वक्रोक्ति है।

काकुवक्रोक्ति का स्पष्ट उदाहरण वेणी संहार का वह पद्य जिसमें क्रोधी भीम कहता है—**मथ्नामि कौरव शतम् समरे न कोपात्** इसमें 'न मथ्नानि' में 'न' का प्लुत उच्चारण और मथ्नामि और म तथा थ्ना का खींच प्रसारण के साथ उच्चारण ही काकु है क्योंकि **भिन्न कण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्याभिधीयते** इस तरह इसका अर्थ होता है 'मन्यनाम्येव' मूलका काकुवक्रोक्ति उदाहरण में 'नैवोचितोऽयम् न कार और 'एव' कार में वृद्धि सन्धि के कारण प्लुत उच्चारण विपरीतार्थ द्योतक है। 'उचित एव' यह अर्थ आता है। अतः काकुवक्रोक्ति है। इनमें श्लेषवक्रोक्ति शास्त्र सिद्ध है और काकुवक्रोक्ति ऐच्छिक है।

यहाँ एक प्रश्न जो उठता है कि वक्रोक्ति को अन्य आलङ्कारिकों ने शब्दालङ्कार माना है, फिर यहाँ उसे अर्थालङ्कार क्यों मानते हैं। मु च मानन्दिनम् इत्यादि में वह अलङ्कार शब्द विशेष के साथ जीता है और शब्द विशेष के साथ मारता है तो शब्द परिवर्तन सहिष्णु है और शब्द के साथ उसका अन्वय व्यतिरेक है तब तो उसे शब्दालङ्कार ही मानना चाहिए। अप्पय ने इस ग्रन्थ में शब्दालङ्कार का निरूपण नहीं किया है। अतः इसे अर्थालङ्कार मानकर ही यहाँ उन्होंने स्थान दिया है। इस तरह वक्रोक्ति के शब्दलङ्कारत्व या अर्थालङ्कारत्व के निर्णय के लिए टीका में कुछ लिखना आवश्यक था। इस विषय में कुछ नहीं लिखना टीका की कमी है।

बात यह है कि अप्पय शब्दश्रवणमात्र से प्रतीत होने वाले अलङ्कार को शब्दालङ्कार मानते हैं तथा अर्थ बोध के बाद प्रतीत होने वाले अलङ्कार को अर्थालङ्कार। वक्रोक्ति या सभंग तथा अभंगश्लेष की प्रतीति शब्दमात्र के श्रवण से नहीं होती है, किन्तु अर्थबोध के बाद ही होती है। अतः उन्होंने इन दोनों अलङ्कारों को अर्थालङ्कारों में ही गिना है। अनुप्रास यमक आदि अलङ्कार शब्दश्रावणमात्र से प्रतीति गोचर हो जाते हैं। अतः ये ही अलङ्कार अप्पय के अनुसार शब्दालङ्कार में आते हैं।

इस विषय पर आशाधरभट्ट चुप हैं। इसलिए अध्येता की जिज्ञासा यहाँ ठीक से शान्त नहीं होती।

७९. **स्वाभावोक्ति अलङ्कार :—**

स्वभावोक्तिः स्वभास्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम् ।
कुरंगरुत्तरङ्गाक्षैः स्तब्धकर्णेरुदीक्षिसम् ॥[२२२]

उपरोक्त पद्य में मृग जाति के देखने के स्वभाव का वर्णन है ; अतः स्वाभावोक्ति है । प्राचीन आलङ्कारिक उसे 'जाति' कहते हैं । **अतएव स्वाभावो... मुक्तम् ।** स्वाभावोक्ति अलङ्कार्य है या अलङ्कार, इसका विचार नहीं किया गया है ।

८०. **उदातालङ्कार :—**

टीकाकार ने इसके लक्षण और उदाहरण—**उदात्,...तत्वतः (का० १६१ १६२)** में क्रमभंगदोष दिखाया है । लक्षण में उदातालङ्कार के दो भेद बताये गए हैं । (१) ऋद्धिवर्णनप्रयुक्त उदातालङ्कार (२) अन्योपलक्षणाध्यचरितवर्णनप्रयुक्त उदातालङ्कार । उदाहरण इस क्रम से नहीं दिया गया है । पहले द्वितीय भेद को **सानौ शिखरे तत्प्रसिद्धं धूर्जटिकिरीटिनोः**[२२३] में दिखाकर बाद में **रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः, शतो लङ्केश्वरः कृच्छादा जनेयेन तत्वतः ।**[२२४] भेद को उदाहृत किया गया है । टीकाकार लिखते हैं **विलोमक्रमेणोदाहरणम्**" ऐसा क्यों किया गया है, इसके कारण पर प्रकाश नहीं डाला गया है । कारण यह था कि द्वितीय का उदाहरण विस्तृत वर्णन की अपेक्षा रखता था जो आर्ध श्लोक में नहीं हो सकता था । अतः इस विलोम क्रम को अपनाया गया है । द्वितीय उदाहरण लक्षणपरक श्लोक के उत्तरार्द्ध में देकर सम्पूर्ण द्वितीय श्लोक में प्रथम भेद का उदाहरण दिया गया है । **सूचीकटाहन्याय** से क्रम का त्याग किया जाना लोकसिद्ध है और उसे दोषाबद्ध नहीं माना जाता है ।

द्वितीय उदाहरण सम्बन्धातिशयोक्ति' में अन्तर्भूत है । इसलिए भी इसे नगण्य समझकर इस उदाहरण को बाद में दिया गया है, यह भी सम्भव है ।

८१. **अत्युक्तिः अलङ्कार :—**

अद्भुत अतथ्य शौर्य औदार्य आदि के वर्णन में अत्युक्ति अलङ्कार होता है ।[२२५] इसका उदाहरण है, हे राजन् ! आपने जब देना प्रारम्भ किया; इतनी सम्पति दी कि याचक कल्पशाखी बन गये ।[२२६] याचकों के पास इतनी सम्पति हो गई कि वे भी दूसरों के मनोरथ पूर्ण करने लगे । कितना भी कोई दान देगा तो याचक कल्पवृक्ष के समान सबके मनोरथ पूर्ण करने लगे । कितना भी कोई दान

---

२२२. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१६०
२२३. वही, १।१६२ वृत्ति
२२४. वही, १।१६३
२२५. अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्योदार्यादिवर्णनम् । —वही, १।१६४ पू०
२२६. त्वयि दातरि राजेन्द्र याचकाः कल्पशाखिनः
—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।१६४ पू०

देगा तो याचक कल्पवृक्ष के समान मनोरथपूर्ण करने वाले नहीं हो सकते। यह अतथ्य वर्णन है तथा राजा के अद्वितीय औदार्यवर्णन आश्चर्यजनक है। अतः अत्युक्ति अलङ्कार आशाधरभट्ट ने लिखा है—

अत्र राज्ञः कल्पशाखितुल्यत्वेनाश्चर्यं
याचकानां तु तथात्वे चित्रमेवेत्युत्युक्तिः।[२२७]

अर्थात् राजा में कल्पवृक्ष की समाता का वर्णन ही आश्चर्यजनक है और याचक को कल्पवृक्ष कहना तो अत्यन्त आश्चर्यजनक है ही। **सम्बन्धा...चमत्कारकारि** के द्वारा टीका में बताया गया है कि सम्बन्धातिशयोक्ति में **प्रासाद आकाशं चुम्बति'** में प्रासाद और आकाश का संयोग सम्बन्ध बताना अतथ्यमात्र है किन्तु अत्युक्ति में अतथ्य का अभिधान भी चमत्कारी होता है। क्योंकि कवि की सृष्टि नियतकृत नियमरहिता होती है। यही इनमें भेद है।

उदाहरण की व्याख्या कुछ लोग इस प्रकारु करते हैं कि हे राजन्! आपको दान करते हुए देखकर कल्ववृक्ष भी याचक बन गये। कल्पवृक्ष ही जब याचक बन गये तो अन्य धनी-मानी तो याचक बन ही गये। यह अर्थापति भी यहाँ प्रकट होती है। इससे राजा के आश्चर्यजनक औदार्य की अभिव्यक्ति होती है।[२२८]

८२. निरुक्ति अलङ्कार :—

व्यक्तिवाचक संज्ञा में व्याकरण की व्युत्पत्ति की कल्पना करके उस नाम में अन्य अर्थ की कल्पना करना निरुक्ति है। जैसे चन्द्रमा का नाम 'दोषाकार' है। 'दोषा' रात्रि, निशा, ये पर्याय हैं। इसलिए चन्द्रमा को निशाकर कहते हैं और दोषाकर भी। इस नाम का यौगिक अर्थ दिखाती हुई विरहिणी कहती है कि हे चन्द्र आप मुझे सन्ताप दुःख आदि देते हैं। इन कार्यों से ऐसा लगता है कि आप **सचमुच दोषाकर, दोषाणाम् आकरः** दोषों की खान है)। **दोषा (रात्रि अर्थ में अव्यय) करोतीति दोषाकरः चन्द्र** यह प्रसिद्ध अर्थ है।[२२९] दोषाणाम आकरः यह भिन्न अर्थ यहाँ व्युत्पति भेद से कल्पित किया गया है। इसीलिए निरुक्ति अलङ्कार का लक्षण घटित हुआ।

चन्द्रालोक ने इसे निरुक्त नाम का लक्षण माना है—

निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नः सत्यं तथा नृतम्।
ईदृशैश्चरिते राजन सत्यं दोषकरी भवान्॥ इति [२३०]

---

२२७. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१६४ वृत्ति

२२८. केचित् कल्पशाखिनोपि याचका भवन्तीत्यन्वयं मन्यन्ते। कल्पद्रुमाणामपि याचकत्वे कैमुतिकन्यायेन सर्वेषां याचकत्वमर्थसिद्धमिति दानात्युक्तिः।
—वही, १।१६४ वृत्ति

३२९. अत्र दोषेति रात्रिवाचकमव्ययम्। दोषा करोतीति दोषाकर इति प्रसिद्धोर्थः
—वही, १।१६५ वृत्ति

२३०. जयदेव : चन्द्रालोक, पृ० ३१५

८३. प्रतिषेधालङ्कार :—

प्रसिद्धस्य (अनुक्तसिद्धस्य) निषेधस्यनुकीर्तनं प्रतिषेधः प्रसिद्ध निषेध के कथन में प्रतिषेध होता है। जैसे शकुनि के प्रति अर्जुन की उक्ति—हे कितव स्युत-परायण। शकुने यह स्यूत जुआ का खेल नहीं है, जहाँ पाशों का खेल होता है। यह तो तेज बाणों का खेल युद्ध है। यहाँ युद्ध में स्यूतत्व का अभाव कथन के बिना भी प्रसिद्ध है। उसमें स्यूतत्वा भाव बताने से यह व्यञ्ग्य प्रतीत होता है कि तुझे स्यूत कार्य में निपुणता प्राप्त है, युद्ध में नहीं। इस तरह टीकाकार इसका अर्थभाव ध्वनि में करते हैं।[231]

८४. विधि अलङ्कार :—

इसके लक्षण कथन के बिना भी ज्ञात वस्तु सिद्ध कहलाती है, उस ज्ञात वस्तु का कथन विध्यलङ्कार कहलाता है। इसमें अलङ्कार पद का प्रयोग नहीं करने पर भी अलङ्कार प्रकरण में उल्लेख के कारण प्रकरणवश आया जाता था, उसका प्रयोग करके लेखक सिद्ध करता है कि चमत्कारकविधि में ही अलङ्कारत्व माना जाता है। केवल विधि में नहीं। जैसे अग्निहोत्रं जुहोति में यद्यपि मीमांसा के अनुसार अज्ञातार्थ ज्ञापक अग्निहोत्र कर्मक विधि होने से विधि है तथा प्रकरणसिद्ध हवन रूप वस्तु का जो सिद्ध है, विधान है, तथापि उसे चमत्कारहीनता के कारण अलङ्कार नहीं माना गया। **पञ्चमोदञ्चने काले कोकिलो कूवेत्**[232] में कोकिल को कोकिलत्व स्वतः सिद्ध है। उसका वसन्त में पुनर्विधान उसकी मनोहरता व्यक्त करता है। इसीलिए चमत्कारी है। व्यञ्ग्य यहाँ वाच्य सिद्ध्यङ्ग है।

८५. हेतु अलङ्कार :—

कारक या ज्ञापक हेपु का कार्यया ज्ञाप्य के साथ वर्णन को हेतु अलङ्कार कहते हैं। जैसे **असावुदेति शतांशुर्मानच्छेदाय सुभ्रुवाम्**।[233] सुभ्रुओं सुन्दरियों के मानच्छेद के लिए यह शीतांश उग रहा है। यहाँ यद्यपि सुभ्रु शब्द के द्वारा भ्रू की सुन्दरता बतायी गई है; तथापि लक्षण्या सर्वाङ्ग की प्रशंसा माननी चाहिए।[234] इसलिए उसका अर्थ 'सुन्दरी' करना चाहिए। मान को प्रकट करने के लिए भौंह का उपयोग सर्वाधिक होता है। इसलिए प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से उसी

---

२३१. अत्र युद्धस्य द्यूतत्वा भाव उक्ति विनापि प्रसिद्धः तरूस पुनर्निषेधेन तव द्यूतमात्रे कौशल्यमस्ति न तु युद्धे इति ध्वनयति।
—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका ,१।१६६ वृत्ति

२३२. वही, १।१६७ उ०

२३३. वही, १।१६८ उ०

२३४. लक्षणया सर्वाङ्गप्रशंसा बोध्या। —वही, १।१६८ वृत्ति

का उपादन हुआ है । भ्रकुटी पर मानच्छेद का सर्वाधिक प्रभाव भी पड़ता है। इसलिए भी उसका नाम मुख्यत: लिया गया है ।

यहाँ विचारणीय है कि टीकाकार ने लक्षणा कैसे बतायी ? क्या मुख्यार्थ बाध है ? क्योंकि चन्द्र केवल सुभ्रुओं का ही मानच्छेद नहीं करता अपितु समस्त अपने आपको नायक के गुण तथा रूप में सुन्दर समझने वाली का मानच्छेद करता है । अतः यहाँ मुख्यार्थ में अन्वयानुपपति या तात्पर्यानुपपति के कारण बाध है। सुभ्रू और सकल सुन्दरी में व्यष्टि और समष्टिभाव होने से अवयवावयविभाव सम्बन्ध भी है । टीका में फलार्थक प्रतिषेध को प्रयोजन बताया गया है ।[२३५] अतः लक्षणा हो सकती है । यहाँ 'एव' के अध्याहार के कारण लुप्तोत्प्रेक्षा नहीं है ।[२३६] मानो मानच्छेंद के लिए ऐसा अर्थ नहीं है । अतः लुप्ता हेतुत्प्रेक्षा नहीं हैं । सामर्थ्य समर्थक भाव नहीं होने से काव्यलिङ्ग भी नहीं है । कूल का उदाहरण 'कारकहेतु' का हैं । ज्ञापक हेतु वाले हेतु अलङ्कार का उदाहरण टीकाकार नया बनाकर प्रस्तुत करते हैं । कुमुदानि विकसन्ति कामिनी सज्जयितुम्[२३७] कुमुद रात में खिलता है, उसे देखकर रात का आगमन समझकर तथा यह जानकर कि कुमुद अपने प्रियतम के लिए अपने आपको विकास के द्वारा सजा रहा है तो हमें भी अपने को सजाना चाहिए । इस तरह कुमुद विकास कामिनी के सजाने का ज्ञापक हेतु है। दोनों के (हेतु और हेतुमान में) युगवद् वर्णन से यहाँ हेतु अलङ्कार हुआ है । मेरे विचार में यदि कुमुदिन्यः पाठ कुमुदानि के स्थान में होता तो कामिनी के साथ लिङ्गसाम्य के कारण उदाहरण अधिक उपयुक्त होता ।

हेतु और हेतुमान् (साध्य और साधन) में अभेद वर्णन को भी कुछ आलङ्कारिकों ने हेतु अलङ्कार कहा है ।[२३८] मूलोक्त लक्षण में 'केचित्' पद से कौन-कौन आलङ्कारिक लिये जाते हैं, टीकाकार ने इस अवश्य कथनीय तत्व पर प्रकाश नहीं डाला है। उद्भट्टादि आलङ्कारिकों ने पूर्वोक्त स्थिति में हेतू अलङ्कार माना है ।

उद्भट्ट लिखते हैं--**हेतुमता सह हेतुरभिधानमभेदता हेतुः** ।[२३९] जैसे

---

२३५. तथोरकवाक्ये विशेषणं फलान्तरनिषेधार्थम् ।
—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१६८ वृत्ति

२३६. न चात्र लुप्तोत्प्रेक्षा शंक्या एवकाराध्याहारात् ।
—वही, १।१६८ वृति

२३७. वही, १।१७८ वृत्ति

२३८. वही, १।१६६ पृ०

२३९. उद्भट्ट : काव्यालङ्कारसारसंग्रह—हेतु अलंकार (कुवलयानन्द) अलङ्कार सुरभि टीका में उद्धृत पृ० २६७

लक्ष्मीविलासा विदुषां कटाक्षा वेंकटप्रभो ।[२४०] यहाँ वेंकटेश्वर प्रभु के कटाक्ष हेतु को और विद्वानों के लक्ष्मी-विलास को अभिन्न बताया गया है। इसीलिए लक्षरग समन्वय होता है।[२४१] अभेदोक्ति में शुद्धा लक्षरगा है—**आयुर्घृतम्** की तरह लक्षरगा का प्रयोजन है[२४२]—कार्य में शीघ्रतातिशय प्रतिपादन। **कटाक्षाः लक्ष्मी-विलासाः** का अभेदारोप होने से रूपक में इसका अन्तर्भाव मानने के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। यहाँ कारण और कार्य की शीघ्रातिशय प्रतिपादन रूपव्यङ्ग्यजन्य चमत्कार रूपक से अधिक है।[२४३] अतः हेतु अलङ्कार ही माना गया है। **यन्मुखेक्त चमत्कारातिशयः तन्मूलकालङ्कारादिर्मन्यते इति आलङ्कारिकसिद्धान्तः।** इसीलिए दीपक स्थल में उपमा नहीं मानते हैं। इसे अतिशयोक्ति भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि कार्यकारणभावमूलक अतिशयोक्ति के भेद अग्रामतातिशयोक्ति में हेतु और कार्य का सहभाव रहता है जैसे—**आलिव**[२४४]**......ते मैं।** चपलातिशयोक्ति में हेतु के प्रसङ्ग से ही कार्योत्पत्ति का कथन रहता है। जैसे—**यास्यामीर्दुमिका में।**[२४५] अत्यन्तातिशयोक्ति में कारण से पहले कार्य की उत्पत्ति बताई जाती है। जैसे **अग्रे......सा**[२४६] में। इस हेतु अलङ्कार में तो कार्य और कारण में अभेदरूपजन्य तथा कार्य की अतिशयशीघ्रतासम्पृक्त उत्पत्ति में चमत्कार है।

परिणाम में आरोप क्रियार्थ होता है अर्थात् परिणाम वहाँ होता है, जहाँ उपमान स्वयं क्रिया में अन्वय की योग्यता नहीं रखता है। वह उपमेय रूप में परिणत होकर ही क्रिया में अन्वित हो पाता है। जैसे प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते

---

२४०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।१६९ उ०

२४१. वही, १।१६९ वृत्ति

२४२. अभेदोक्तिश्च कार्यशैघ्र्यप्रत्यायनाय।

—वही, २।१६९ वृत्ति

२४३. न चायं रूपकेऽन्तर्भवति, ततोऽपि विच्छित्तिविशेषसद्भावात्।

—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका १।१६९ वृत्ति

२४४. आलिङ्गन्ति समं देव ज्यां शराश्च पराश्च ते।

—वही, १।३९ उ०

२४५. यास्यास्मीत्युदिते तन्वया बलयो भवदूर्मिका।

—वही, १।३९ उ०

२४६. अग्रे आदौ। अग्रमाद्ये वने प्राप्ये इति विश्वः।

—वही, १।४१ वृत्ति

१४७. नाप्यतिशयोक्तौ, तद्भेदेभ्यो वैलक्षण्यसंभवात्।
नापि परिणामे, क्रियाया अतिबन्धनादित्यलमति विस्तरेण॥

—वही, १।१६९ वृत्ति

मदिरेक्षणा में । यह वीक्षण क्रिया में अब्ज का करणकारक के रूप में अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि कमल से देखा नहीं जाता है । इसीलिए दुगभिन्न् बनकर ही **दृग्भूतेन अब्जेन वीक्षते**' इस रूप में उपमान का उपमेयाभेद परिणति वहाँ क्रियान्वयन के लिए आवश्यक होती है । हेतु में यह स्थिति नहीं है । अतः यह परिमाणालङ्कार से भिन्न अलङ्कार है ।[२४८]

(ख) उद्दिष्टालङ्कार प्रकरणगत

८६. **रसवदालङ्कार**—

शृङ्गारादि रस जब सजातीय या विजातीय रस का अङ्ग (उपकारक) बनकर आता है तो रसवदालङ्कार होता है । जैसे **अहो......वशीकृत**:[२४९] में । यहाँ पार्वती से वशीकृत शम्भु भी स्पर्श सुख के लोभ से उनके शरीर से संश्लिष्ट हो गए । शंभु की भी जब यह स्थिति है कि काम विजयी होकर भी काम मुग्ध हो गए तो अन्य जनों की बात ही क्या इस कथन में अहो के द्वारा विस्मयस्थायीभाव और उससे आक्षिप्त विभावादि से व्यक्त होकर अद्भुत मुख्य है । उसका अङ्ग शृङ्गार अङ्ग है । इसीलिए रसवदालङ्कार है ।

यहाँ शृङ्गार का अनुभाव-आश्लेष-मात्र आ सका है और अन्य विभावादि का आक्षेप मानकर 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रसनिष्पत्तिः मान सकते हैं । अतः श्लोकार्ध में दिया गया उदाहरण अपूर्ण ही समझना चाहिए । रस का लक्षण तथा स्थायी भावों का परिगणन के लिए काव्यप्रकाश के श्लोक उद्धृत करके भट्ट जी ने संतोष किया है ।

एक बात यहाँ मम्मट से विपरीत और सङ्गीतरत्नाकर के अनुसार यह बताई गई है कि नाट्य में भी नौ रस होते हैं—**नव नाट्ये रसा स्मृताः** ।[२५०]

८७. **प्रेयो अलङ्कार** :—

देवादि विषयक रति और व्यभिचारीरूप अभिव्यञ्जित निर्वेद आदि ३३ भाव जहाँ सजातीय या विजतीय भावों के अङ्ग होते हैं वहाँ प्रेय अलङ्कार होता है । जैसे **धिक् तारुण्यमिदं यत्र प्रिया दैवेन दूरिता** ।[२५१] मेरे इस तारुण्य को धिक्कार है, जिसके लिए दुर्भाग्य से मुझे प्रियतमा से दूर रहने को बाध्य किया है । यहाँ निर्वेद (आत्मग्लानि) रूपी भाव मुख्य है और उसका अंग विजातीय बिप्रलम्भ शृङ्गार है । अतः प्रेय है ।

---

२४८. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, २।२ वृत्ति

२४९. अहो स्यूतशरीरार्धः शंभुर्देव्या वशीकृतः ।

—वही, २।२ उ०

२५०. वही, २।२, वृत्ति में उद्धृत काव्यप्रकाश

२५१. वही, २।३ उ०

८८. ऊर्जस्वी अलङ्कार :—

ऊर्जस्वी अलङ्कार में रसाभास या भावाभास दूसरे का अङ्ग होता है। अनौचित्येन प्रवृत रस को रसाभास और भाव को भावाभात कहते हैं। जैसे— **पारदारस्तनपर्शी दिशा पश्यति कम्पितः।**[२५२] पर स्त्री के स्तन का स्पर्श करने वाला कोई कामुक, कांपता हुआ इधर-उधर देखता है कि कहीं कोई देख न ले। कम्पन रूप अनुभाव और इधर-उधर देखने से आक्षिप्त शङ्का रूप संचारीभावता कामुक विभाव से अभिव्यक्त भयस्थायी की भयानक रस में परिणत होने से यहाँ भयानक रस मुख्य है, इसका अङ्ग शृङ्गार रसाभास है। अतः ऊज्वसी अलङ्कार है।

८९. समाहित अलङ्कार :—

भाव की शान्ति जब रसादि का अङ्ग होती है तो समाहित अलङ्कार होता है। जैसे **मुक्तमाना स्वयं साभूर्तजिता घनर्गजितेः**[२५३] से बादल के गर्जन से डरी हुई सी वह तायिका स्वयं मान से रहित हो गई। यहाँ 'तर्जिता गम्योत्प्रेक्षा है।[२५४] नायिका जो रूठी हुई थी बादल के गर्जन से डर सी गयी और नायक से स्वयं लिपट गई। यहाँ अमर्षनामक भाव की शांति शृङ्गार के अङ्ग हैं। अतः समाहित है। वहाँ प्रहर्षण अलङ्कार भी है।

९०. भावोदय अलङ्कार :—

भाव का प्रादुर्भाव यदि दूसरे के अङ्ग रूप मे वर्णित हो तो भावोदय होता है। **सा प्रियं वीक्ष्य नम्रास्या नाशकद्वक्तुमीप्सितम्।**[२५५] प्रिया प्रियतम को देखकर लज्जा से नम्र मुख होकर अपना मनोरथ प्रकट नहीं कर सकी। यहाँ नायिका मुग्धा है। जिसका लक्षण है **समाधिकलज्जावती मुग्धा** लज्जा भाव की उत्पत्ति शृङ्गार रस का अङ्ग है।

९२. भावसन्धि अलङ्कार :—

दूसरे भाव के अङ्गभूत दो भावों का योग भावसन्धि कहलाता है। जैसे— **यान्ती वेलां प्रतीक्षन्ती विलम्ब्य प्रियमा सा**[२५६] में। वह प्रियतमा प्रियतम के पास जाती हुई और मिलन की वेला (समय) की प्रतीक्षा करती हुई विलम्ब से प्रियतम को प्राप्त कर सकी। यद्यपि उसमें मिलने की उत्कण्ठा थी तथा वेला के बिना जाने से केलि-गृह में समागम नहीं होगा। यह सोचकर विलम्ब से वहाँ पहुँची। यहाँ उत्सुकता और शङ्का दोनों भावों की सन्धि शृङ्गार का अङ्ग है।

---

२५२. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका; २।४, उ०
२५३. वही, २।५ उ०
२५४. वही; २।५ वृत्ति
२५५. वही, २।६ उ०
२५६. वही, २।७ उ०

यहाँ उदाहरण में **प्रतीक्षन्ती** में शतृ प्रत्यय अपाणिनीय है। ईक्ष धातु आत्मनेपदी है। अतः शानच् होना चाहिए और 'प्रतीक्षमाणा लिखना चाहिए। भट्ट जी जैसे पाणिनीय व्याकरण के मर्मज्ञ से यह गलती कैसे हुई, समझ में नहीं आता। **दुर्गाशप्तशती** में **प्रतीक्षिष्यामि** की तरह अनुदातेत् लक्षणमात्मनेपदमनित्यम् की इस परिभाषा से यदि चाहें तो इसकी साधता सिद्ध कर सकते हैं। यहीं व्याख्या भाग में 'केलिगृहो' में पुंलिग भी गलत है। **केलिगृहे** ठीक प्रयोग था।

९२. भावशवलता अलङ्कार :—

बहूनां भावानां परांगता स्यार्ताह भावशवलत्वं नामालंकारः।[२५७] के द्वारा बताया गया है कि बहुत से भाव अगर परांग होते हैं तो भाव-शवलता मानते हैं। लक्षण में 'बिना परस्परोपमर्दन का निवेश होना चाहिए। जैसे '**धिङमां भोगरतं सन्तः किं वक्ष्यन्ति त्यजामि तान्** इस विरक्त की उक्ति में प्रधान शान्त रस है, उसमें 'निर्वेद शङ्कामतीनाम् अङ्गत्वम् निवेद शंका और मति ये भाव अङ्ग हैं। यहाँ निर्वेद को अङ्ग मानना मम्मट आदि आलङ्कारिकों के मत से विरुद्ध है क्योंकि शान्त रस का निर्वेद स्थायीभाव है। जो 'शम' को शान्त रस का भाव मानते हैं, उनके मत से यह वाक्य ठीक हो सकता है।

९३, प्रमाणालङ्कार :—

प्रमाकरणं प्रमाणम् प्रभा (यथार्थ ज्ञान) के साधकतम साधन को प्रमाण कहते हैं। प्रमीयते ज्ञायते अनेन इस विग्रह में 'प्र' पूर्वक 'मा' धातु से ल्युट् प्रत्यय करके यह शब्द सिद्ध होता है। इनकी संख्या अलग-अलग दर्शनों में अलग-अलग मानी गयी है।

चार्वाक एक प्रमाणवादी है, वह केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। सांख्य योग प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों को मानता है। गौतम के न्याय दर्शन उपमान को सम्मिलित करके चार प्रभाकर ने अर्थापत्ति को और बढ़ाकर पाँच कुमारिल तथा वेदान्ती ने अभाव (अनुलब्धि) को स्वीकार कर ६ पौराणिकों ने ऐतिह्य और सम्भव को और जोड़कर आठ प्रमाण मानते हैं।[२५८]

---

२५७. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका; २।८ वृत्ति

२५८. प्रत्यक्षमात्रं चार्वाका बौद्धा विशेषिका द्वयम्।
सांख्यायोगा स्वयं चैव न्याये चैव चतुष्टयम्॥
पंच प्रभाकरा भाट्टा तथा वेदान्तिनश्च घट्।
पौराणिकास्तथा चाष्टौ प्रमाणान्यत्र न चते॥

दर्शनमीमास आचार्य विश्वेश्वर तथा तर्कभाषा विश्वेश्वरकृतटीका, पृ० १२८ पर उद्धृत

सभी शास्त्रों तथा दर्शनों में स्वीकृत आठों प्रमाणों को आधार बनाकर अप्पय ने **अष्टौ प्रमाणालंकारा प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात् एवं पञ्चदशान्यानत्यलंकारान् विदुर्बुधाः** सात रसवदादि और आठ प्रमाणालङ्कार इस तरह १४ अलङ्कारों को अन्य विद्वानों ने माना है। इससे प्रतीत होता है कि इन्हें वे अलङ्कार नहीं मानते थे। रसवदादि के अलङ्कारत्व की अस्वीकृति पर प्रकाश डाला जा चुका है। प्रमाण प्रमेय के साधक होते हैं। इनमें चमत्कार नहीं होता **स्थूलो यं कुरूपो देवदत्त पर्वतो वह्निमान् धूमात्** इत्यादि वाक्यों को चमत्कारहीन होने पर कौन अलङ्कार कहेगा; जहाँ कुछ चमत्कार दिखाई पड़ा, उसको काव्य विशेषण लगाकर काव्यलिङ्ग काव्यार्थापत्ति नाम देकर अलङ्कार माना ही गया है। इह तरह यदि प्रत्यक्ष प्रमाण केवल प्रमेय साधक होगा तो उसे अलङ्कार नहीं कहा जा सकता। हाँ यदि उसमें चमत्कार पाया जाएगा तो अलङ्कार हो सकता है।

९४ प्रत्यक्षालङ्कार :—

इन्द्रिय जन्य ज्ञान के वर्णन में प्रत्यक्षालङ्कार होता है। जैसे—दे देव ! जिसका वर्णन सुनकर, जिसे छूकर, देखकर, चखकर और सूँघकर लोग प्रसन्न होते हैं, वह घृतपक्व शष्कली (लोक में मालपूआ या सोहारी के नाम से प्रसिद्ध मैं तुझे नैवेद्य के रूप में) अर्पित करता हूं।[२५९]आशाधरभट् के अनुसार यहाँ श्रावण त्वाचन, रासन, चाक्षुष, घ्राण और मानस इन ६ प्रकार के प्रत्यक्षों का वर्णन है। अतः प्रत्यक्षालङ्कार है।[२६०] परन्तु मेरे विचार में यह उक्ति चमत्कारविहीन है। इसलिए यहाँ अलङ्कार नहीं है। अप्पय ने इसको दो उदाहरण शिशुपालवध से दिए हैं जिनमें प्रथम में 'रेवत पर्वत पर घटित यादवों मद्यपानादि विलास का[२६१] और द्वितीय में जलविहार का वर्णन हुआ है।[२६२] अतः वे चमत्कारी वर्णन उदाहरण हो

---

२५९. प्रत्यक्षमिन्द्रियज्ञानवर्णनं षड्विधं तु तत्
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च रसित्वाघ्राय यां जनः
मोदते घृतपक्वां तां शष्कुलीमर्पयामि ते ॥
—आशाधरभट्ट कुवलयानन्दकारिका २।९

२६०. तच्च षड्विधम्। श्रौवत्वाच्चाक्षुषरासनघ्राणजमानसभेदात्।
—वही, २।९ वृत्ति

२६१. क्रान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे भग्नबालसहकारसुगन्धौ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते निर्ववारमधुनीन्द्रियवर्गः ॥
—माघ : शिशुपालवध, १०।३

२६२. किं तावत्सरसि सरोजमेतदारा-
दाहो स्विन्मुखमवभासते युवत्याः।
संशय्य क्षणमिति निश्चिताय कश्चि-
द्विव्वोवैर्वकसहवासिनां परोक्षैः ॥ —वही, ८।२९

सकते है, परन्तु आशाधर निर्मित पद्य में चमत्काराभाव है। अतः यह अलङ्कार के उच्च आसन पर नहीं बैठ पाता।

दूसरा दोष इस वर्णन में यह है कि सूँघी हुई तथा चखी हुई (आस्वादित) वस्तु देवता को नहीं चढ़ाई जाती है। यहाँ आघ्रात तथा आस्वादिति शुष्कुली का देवता को अर्पण वर्णित है। **या और ता** वस्तु के अभेद प्रतिपादक माने जाते हैं। अतः जो आघ्रात तथा आस्वादित है उसी शष्कुली का समर्पण शब्द मर्यादा से प्रतीत होता है। यदि तदेवेदं कार्षापणं मयाद्य भवते प्रतिदीयते यद्भवतो नीत्वा मथुरायां मया पुष्पं क्रीतम्' इस वाक्य की तरह यत् तत् शब्द का प्रयोग प्रत्यभिज्ञा माने तो पूर्वोक्त दोष का समाधान हो सकता है, परन्तु चमत्काराभाव के कारण इसे अलङ्कार कैसे कहा जा सकता है।

९५. **अनुमानालंकार :—**

इसका शीर्षक 'प्रतीत्य लङ्कार किया गया है।[२६३] यह गलत है। लक्षण-श्लोक में (प्रतीतिर्लिगिनो—तात् में) प्रतीति पद उद्देश्य है, अनुमानविधेय। इसलिए इसका शीर्षक 'अनुमानालङ्कारः होना चाहिए। **व्यभिचारादि...अनुमानम्** के द्वारा बताया गया है कि हेत्वाभास के पाच भेदों से रहित हेतु से साध्य का ज्ञान अनुमानालङ्कार कहलाता है। लक्षण में चमत्कारी' पद का निवेश 'प्रतीति' के विशेष के रूप में अवश्य होना चाहिए **निश्वासात् सोष्मणो इति हृदि कामाग्निरस्ति ते**[२६४] गर्म निश्वास से जान पड़ता है कि तेरे हृदय में कामाग्नि मौजूद है। यद्यपि यहाँ निश्वास में सोष्मणः विशेषण लगा है, अतः हेतु व्याप्यत्वा सिद्ध नामक हेत्वाभास बन गया है और दुष्ट हेतु है। ठीक उसी तरह जैसे पर्वतो धूमवान् आर्द्रेन्धनसयुक्त-वह्नेः में वह्नि रूप हेतु ! इस तरह **अदूषितात् लिङ्गात** इस अंश के घटित नहीं होने से अव्याप्ति दोष नहीं मानना चाहिए। क्योंकि यहाँ साध्य भी विशेषण विशिष्ट 'कामाग्नि' है इसीलिए हेतु को भी **विशेषण विशिष्ट सोष्मणः** निश्वासात् होना ही चाहिए। अतः टीकाकार ने लिखा है—**च चात्र लिंगं दोषवदिति शंक्यम्।**

विलक्षणस्य लिंगिनो विलक्षयति गौचित्यात् ।।
यथा तप्ततोयस्थवह्नेरुष्मण इति दिक्।[२६५]

९६. **उपमानालंकार :—**

साहश्याद्वस्तुनो मानमुपमानं प्रकीर्तितम्[२६६] कारिका और उसकी व्याख्या

---

२६३. प्रतीतिर्लिङ्गिनो लिंगादनुमानमदूषितात् ।
—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका २।१० पू०

२६४. वही, २।१० वृत्ति

२६५. वही, २।१० वृत्ति

२६६. वही, २।११ पू०

सादृश्याद्वर्ण्य...प्रकीर्तिम् के अनुसार वर्ण्य मान सादृश्य के कारण जानना कि प्रकृत वस्तु का यही नाम है। उपमानालङ्कार कहलाता है। जैसे जब कोई हिंगुलाम्बिका का ज्ञान यह कहकर कराता है—पद्मराग की चमक वाली वस्तु हिंगुल कहलाती है और तद्वर्णा होने से अम्बिका किसी मन्दिर में स्थापित देवी हिंगुला कहलाती है, तो यहाँ उपमान है।

९७. शब्दालंकार :—

श्रुति आदि वाक्यों से होने वाले निश्चयात्मक ज्ञान के कारण को शब्द प्रमाण कहते हैं, ऐसे चमत्कारी वर्णन में शब्दालङ्कार होता है। जैसे **साम्बशंभुः परं ब्रह्म कैवल्योपनिषच्छ्रुतेः**[२६७] कैवल्य (अद्वैत) प्रतिपादक—उपनिषद् के वाक्यों से हम जानते हैं कि पार्वती सम्पृक्त शंभु ही ब्रह्म हैं, में।

अप्पय ने कुमारसम्भव से अधिक प्रभावोत्पादक तथा चमत्कारी उदाहरण दिया है।[२६८] पार्वती ब्रह्मचारी से कहती है कि तुमने शिव के दोषों को बताते हुए उन्हें जो अलक्षिताजलिः कहकर अलक्ष्यजन्मा कहा है यह एक कथन यथार्थ है क्योंकि जिस शिव को वेदादिशास्त्र ब्रह्मा का भी कारण बताते हैं, उनकी उत्पत्ति और कुल को जान सकता है। यहाँ यो प्रह्माण विद्धाति पूर्वम्' इस श्रुतिवाक्य को शब्द प्रमाण के रूप में रखा गया है।

९८. ऐतिह्य अलंकार :—

'इति प्रसिद्धम् इति ऐतिह्यम् किम्वदन्ती' जनश्रुति का प्रमाण रूप में वर्णन से ऐतिह्य प्रमाणालङ्कार होता है। जैसे—'**तिलमात्रमिदं लिंगं वर्षवर्षं विदुर्जनाः**[२६९] अर्थात् लोग कहते हैं कि यह शिवलिंग प्रतिवर्ष एक-एक तिल बढ़ता है।

९९. अर्थापति अलङ्कार—

अन्यथा असिद्ध अर्थ की कल्पना में अर्थापति होती है। जैसे 'गङ्गा पतिव्रता **साक्षादन्यथाग्नि विशेत्कथम्**' अर्थात् पतिव्रता सभी गङ्गा है, यदि ऐसा न होता तो यह आग में प्रवेश करके कैसे नहीं जलती। गङ्गा मानने पर उसका वह्नि प्रवेश सम्भव हो जाता है।

१००. अनुपलब्धि अलङ्कार :—

इसका शीर्षक '**अलंक्रियालङ्कारः**' दिया गया है, जो गलत है। टीका में

---

२६७. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, २।११ उ०

२६८. विवक्षता दोषमपि.....
—कालिदास: कुमारसंभव ५।८१ और अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द पृ० २७८ (अलङ्कारसुरभि टीका)

२६९. आशाधरभट्ट : कु० का० २।१३ उ०

बताया गया है कि अनुपलब्धि अभाव को कहते हैं। आशाधरभट्ट ने अनुपलब्धि का अर्थ अत्यन्ताभाव किया है, परन्तु वह गलत हैं। यह सब अभावमात्र का वोधक है। अभाव के सारे प्रकार प्रागभावादि को अनुपलब्धि कहते हैं।[२७०] अभाव के एक प्रकार अत्यन्ताभाव को ही नहीं। किसी वस्तु के अभाव ज्ञान के लिए अनुलब्धि को प्रमाण माना जाता है। जहाँ अनुपलब्धि प्रमाण काव्य में प्रस्तुत किया जाता है, वहाँ यह अलङ्कार होता है। जैसे हे राजन्। आपको अपयश नहीं है' यह लोकवाणी सत्य है क्योंकि वह कहीं नहीं सुनने में आया। यदि अपयश होता तो कहीं-न-कहीं सुनने में अवश्य आता।[२७१] अभाव ज्ञान के लिए इसे वेदान्ती ने प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। नैयायिक इसका अनुमान में अन्तर्भाव करते हैं—

१०१. सम्भवालङ्कार :—

संभव यदि वर्णनीय अर्थ का निर्णायक बनता है तो संभवालङ्कार मानते हैं जैसे—इन्द्र राजा भी हो सकता है क्योंकि कर्मगति विचित्र होती है।[२७२] कहा भी है—**पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः। अत्र चत्वारि प्रमाणानि कारणादादीनां। षट् वैदान्तिनां अष्टौ मीमांसकानामालंकारिकायां चेति प्रसिद्धः पन्थाः।**[२७३] इन वाक्यों के द्वारा आशाधरभट्ट ने कहा है—कणादि चार, वेदान्ती आठ और मीमांसक आठ प्रमाण मानते हैं। मीमांसकों के विषय में यह कथन गलत है क्योकि वे ६ प्रमाण ही मानते हैं।[२७४]

ऐसा प्रतीत होता है कि मीमांसक ने श्रुति लिङ्ग वाक्यप्रकरण स्थान समाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् में उत्तरोत्तर को दुर्बल माना है। इनमें से श्रुति और लिङ्ग को प्रमाण मानकर आशाधरभट्ट ने मीमासकों के द्वारा आठ प्रमाण मानने की बात कहीं है। इसीलिए वेकाडिका २।१९ की व्याख्या में श्रुतिलिङ्ग को प्रमाणालङ्कार ही मानते हैं। इस पर विचार आगे किया जाएगा।[२७५]

---

२७०. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, २।१८ उ०

२७१. प्रमाणत्वेन निर्दिष्टानुपलब्धिरलं क्रिया।
अयशस्तस्य नास्तीति सत्यं यन्न श्रुतं क्वचित्॥
—वही, २।१५

२७२. संभवः स्यादलंकारः प्रमाणत्वं प्रयति यः।
स्यान्मे कदाचिदिन्द्रत्वं चित्रा कर्मगतिर्यतः॥
आशाधरभट्ट : कु० का० २।१६

२७३. वही, २।१६-१२७ वृत्ति

२७४. द्रष्टव्य पूर्वोल्लिखित टिप्पणी सं० २५८

२७५. द्रष्टव्य प्रस्तुतशोधप्रबन्ध पर का० २।१९

१०२. स्मृति अलङ्कार :—

स्मृति को भी अप्पय ने प्रमाणालङ्कारों में स्थान देते हुए कुवलयानन्द की वृत्ति में स्थान दिया है।[२७६] जहाँ मनुस्मृति आदि को प्रमाण के रूप में उपन्यस्त किया जाता है, वहाँ उन्होंने मनुस्मृति अलङ्कार माना है। 'उदाहरण के रूप में यह श्लोक उद्धृत किया है—

बलात् कुरुत पापानि सन्तु पात्यकृतानि वः।
सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत्॥[२७७]

कोई नास्तिक अपने मत की पुष्टि के लिए मनु के वचनों को उद्धृत करते हुए कहता है कि हे मनुष्यों। बलपूर्वक तुम पाप करो, तुम्हें कोई बुरा फल नहीं होगा, क्योंकि बल से किए हुए कर्मों को मनु ने 'अकृत कर्म कहा है। यहाँ स्मृति को प्रमाण रूप में उद्धृत होने से स्मृति अलङ्कार माना गया है।

वेदादि शास्त्र को लोकानुकरणी अर्थ की ओर स्मृति में धर्मशास्त्र को लोकानुकरणी अर्थ की ओर स्मृति में धर्मशास्त्र को लोकाननुकरणीय तथा स्वाभिमतार्थ की सिद्धि के लिए प्रमाण रूप में रखा जाता है। यह दोनों में भेद है।

आशाधरभट्ट ने कु० कारिका में 'स्मृति' का निरूपण नहीं किया है। इसका कारण यह है कि वे इसका अन्तर्भाव शब्द प्रमाणालङ्कार में ही मानते हैं। उनके विचार में किसी स्मृति के अर्थ का अनर्थ करके लोकाननुकरणीय अर्थ का प्रतिपादन काव्य को उसके प्रयोजन-कान्तासम्मितोपदेश से च्युत करता है। इसीलिए सदर्थ प्रतिपादक स्मृति ही काव्य में उपादेय है और उसका अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में ही हो जाता है। अतः आशाधरभट्ट ने इसका अलग से निरूपण नहीं किया और शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव बताया है।[२७८]

श्रुति लिङ्गादि को भी कुवलयानन्द में अलङ्कार माना गया है। अतः आशाधरभट्ट ने २।१७ कारिका में उनका भी संक्षेप से निरूपण करने का संकेत किया है।

१०३. श्रुति अलंकार :—

मीमांसक ने अर्थ की प्रतीति में सबसे प्रबल माना है—**श्रुतिलिङ्ग वाक्य-प्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्** के द्वारा श्रुति का प्राबल्य स्वीकार किया गया है।

---

२७६. अप्पयदीक्षित कुवलयानन्द (अलङ्कारसुरभि टीका) पृ० २७९
२७७. वही.
२७८. द्रष्टव्य प्रस्तुतग्रन्थ पर का० २।१९

प्रकृतार्थस्य...श्रुति प्रकृत (वर्णनीय-प्रतिपाद्य) अर्थ का शब्दविशेष को प्रमाण मानकर समर्थन में प्रसन्न होकर श्रुति नामक अलङ्कार होता है। जैसे हे देव शिव आप भक्तों के मृत्यु हर्ता हो क्योंकि आपका नाम मृत्युञ्जय है।[२७९] यहाँ यद् यस्मात् मृत्युञ्जयोसि मृत्युञ्जय के इस शब्दवाच्यात्मक प्रमाण से 'तुष्टो भक्तानां मृत्युं हरसि' इस प्रकृतार्थ का निर्वाह (समर्थन) वर्णित है। अतः श्रुति है। यदि आप में मृत्यु हरण की शक्ति नहीं होती तो आप मृत्यु जय नहीं कहलाते। 'मृत्युं हरसि' का तात्पर्य मोक्षं ददासि' किया गया है, क्योंकि शिवभक्त की भी मौत होती ही है।

१०४. **लिंगालङ्कार :—**

वर्णनीय वस्तु के किसी चिह्न को प्रकृतार्थ की सिद्धि में उपयोगी मानकर वर्णन करना लिङ्गालङ्कार कहलाता है।[२८०] जैसे शङ्कर तीनों नेत्रों से त्रिलोक के साक्षात् द्रष्टा और नित्यद्रष्टा प्रतीत होते हैं। यहाँ वर्णनीय (शिव) तीनों लोक के साक्षात् द्रष्टा हैं। सतत् द्रष्टा हैं। इस वर्णनीय अर्थ में वर्ण्य शिव में दृश्यमान चिह्न त्रिनेत्रत्व का उपन्यास है। अतः लक्षण समन्वय होने से लिङ्गालङ्कार है। साक्षी शब्द **साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्**[२८१] इस सूत्र से साक्षात् द्रष्टा अर्थ में निपातन के द्वारा सिद्ध हुआ है।

यहाँ लिङ्ग शब्द चिह्नवाची है। अनुमान में लिङ्ग शब्द हेतु (पक्षसत्व सपक्ष सत्व विपक्ष व्यावृत्तिविशिष्ट हेतु वाची होता है। अतः इसका अन्तर्भाव अनुमान में नहीं किया जा सकता।

वाक्यप्रमाणालङ्कार का दिग् दर्शन शब्द प्रमाण के निरूपण के प्रसङ्ग में किया गया है।[२८२] उसमें ही मीमांसक का वाक्य अन्तर्भूत हो जाता है। मीमांसकोक्त (वाक्य) शब्द प्रमाण ही है इतना ही उसे श्रोत स्मार्त और पौराणादि भेद होते हैं। इसीलिए स्मृति का अन्तर्भाव शब्द प्रमाण में ही मानना चाहिए। अतः कुवलयानन्द में इसका निरूपण होते हुए भी मैंने (भट्ट ने) इसके लिए अलग कारिका नहीं बनाई है।

---

२७९. प्रकृतार्थस्य शब्देन निर्वाहो यत्र सा श्रुतिः
मुत्युं हरसि भक्तानां तुष्ये मृत्युं जयो सि यतः
—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका २।१८

२८०. तल्लिगं नाम यत्र स्याद्वर्ण्यचिह्नी प्रमाणता।
त्रिलोक्याः शंकरः साक्षी त्रिभिर्नेत्रैः प्रतीयते
—वही, २।१९

२८१. वही, २।१९ वृत्ति पर उद्धृत अष्टाध्यायी

२८२. द्रष्टव्य ग्रन्थ टिप्पणियाँ २६६, २६७, २६८ (षष्ठ अध्याय)

मीमांसकों के द्वारा वर्णित प्रकरणस्थान और समाख्या प्रमाणों में अलङ्कारत्व नहीं है क्योंकि कुवलयानन्द में इनका उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण यह है कि इनमें सप्रयत्न वर्णन करने पर भी चमत्कार नहीं आता।

१०५. आचारालङ्कार :—

वर्णनीय प्रकृत अर्थ के समर्थन के लिए शिष्टाचार का प्रमाण रूप में उपन्यास आचारालङ्कार कहलाता है। जैसे काशी में गोपालक किसी नीच जाति के घर में जमाया गया दही भी ग्राह्य है, क्योंकि काशी में पण्डितलोग उसे खाते हैं।[२८३] यहाँ गोप शब्द गोपालक नीच जाति का बोधक है—टीकाकार लिखते हैं—**गोपस्य नीचजातेरपि...दधि काश्या ग्राह्यमेवान्यत्र तु नेत्यर्थः यतस्तत्र सूरयः पण्डिता अपि तद्भक्षन्ति तस्मात् यद्यदाचरति श्रेष्ठः इति न्यायेन सर्वेषामपि तद्भक्षणे दोषो नास्तीति भावः।**[२८४] यह देशाचार, ग्रामाचार, कुलाचार आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है।

१०६. आत्मतुष्ट्य अलङ्कार :—

जहाँ आत्मतुष्टि संदेह को बताकर किसी निर्णय पर पहुँचती है, वहाँ आत्मतिुष्ट नामक अलङ्कार माना जाता है। जैसे सीमन्तोन्नयन संस्कार कब करना चाहिए। षष्ठ मास में या अष्टम मास में इस सन्देह को हटाते हुए कोई यह निर्णय करता है कि अष्टम मास में ही सीमन्तोन्नयन करना चाहिए क्योंकि मुझे यही युक्त होने से रुचता है।[२८५] सदसदविवेकी पण्डितों की आत्मतुष्टि को ही प्रमाण मानना चाहिए। सब की आत्मतुष्टि को नहीं। याज्ञवल्क्य स्मृति में षष्ठ या अष्ठम मास में सीमान्तोन्नयन का विधान होने से छठे तथा आठवें दोनों मासों में उसे करने की वैकल्पिक गुंजाइश है। तथापि आठवें मास में नियम पालन में अधिक सौकर्य देखकर अष्टम मास को अधिक उपयुक्त माना गया है। छठे मास में नियम का पालन कठिन है। इसी तरह 'गर्भाष्टमे ष्टमे वाब्दे ब्राह्मणस्यो पनायनम्—इस स्मृति वाक्य के अनुसार गर्भाष्टम् (सत्तम) तथा अष्टम वर्ष में ब्राह्मण के उपनयन

---

२८३. प्रकृतार्थोपयोगित्वं यत्राचारस्य तत्र सः।
गोपस्यापि दधि ग्राह्यं काश्यां भक्षन्ति सूरयः॥
—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका २।२०

२८४. वही, २।२०वृत्ति

२८५. आत्मतुष्टिरलंकारो यत्र स्यान्निर्णयस्तया
अष्टमे मासि सीमन्तो युक्तो मह्य हि रोचते॥
—वही, २।२१

का विधान है, परन्तु आत्मतुष्टि के आधार पर अष्टम वर्ष को ही उपनयन के लिए उपयुक्त माना गया है।[२८६] कुवलयानन्द में अभिज्ञानशाकुन्तलम् का पद्य उदाहरण के रूप में उद्धृत है—

असंशयं क्षत्रपरिग्रह क्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तकरणप्रवृत्यः ।।[२८७]

शकुन्तला निःसन्देह क्षत्रिय के द्वारा पाणिग्रहण करने योग्य हैं। यह ऋषि कन्या नहीं है, किन्तु क्षत्रिय कन्या है, क्योंकि मेरा पवित्र मन इसके प्रति आकृष्ट हुआ है। संदिग्धस्थिति में क्या करना चाहिए, क्या नहीं, यह स्थिति आने पर सज्जनों की अन्तःकरण की प्रवृत्ति ही निश्चायक होती है। यहाँ दुष्यन्त ने आत्मतुष्टि के आधार पर शकुन्तला के परिगृह को उचित ठहराया है।

इन प्रमाणालङ्कारों में सर्वत्र प्रकृत अर्थ का समर्थन किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ता है ही। अतः ये काव्यलिङ्ग के ही प्रपञ्च हैं। अतः इनको काव्यलिङ्ग का प्रभेद ही मानना चाहिए। इस तरह आशाधरभट्ट ने इन्हें काव्यलिङ्ग का प्रपञ्च सिद्ध कर दिया है तथा सबके नामों के साथ काव्यशब्द का सम्बन्ध दिखाकर यह सिद्ध कर दिया है कि इनमें जहाँ चमत्कार होगा वहीं अलङ्कारत्व होगा अन्यथा नहीं।

(ग) परिशेषालङ्कार प्रकरणगत

१०७. परिशेष प्रकरण अलङ्कार :—

आशाधरभट्ट ने इस प्रकरण में संसृष्टि और सङ्कर दो अलङ्कारों के लक्षण भेद तथा उदाहरण कुवलयानन्द की शैली में दिए हैं। अप्पय ने इनके लक्षण और भेद गद्य में तथा उदाहरण काव्यों से उद्धृत किए हैं।

उद्भट्ट ने सर्वप्रथम संसृष्टि और सङ्कर को अलङ्कार माना। जयदेव संसृष्टि और सङ्कर को अलङ्कारों का विन्यास विशेषमात्र मानते हैं। पृथक् अलङ्कार नहीं मानते हैं।[२८८]

अप्पय ने इन्हें नरसिंहवत् अलङ्कारान्तर माना है। जैसे नृसिंह भगवान नृ और सिंह के मिश्रित आकार के थे परन्तु उन्हें न नर माना गया और न सिंह,

---

२८६. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, २।२१ वृत्ति
२८७. कालिदासः अभिज्ञानशाकुन्तलम् ।१।१९
२८८. शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टि सङ्करौ
एतेषामेव विन्यासान्नालङ्कारान्तराण्यमी।
—जयदेव : चन्द्रालोक, ५।११९

किन्तु ये उन दोनों से पृथक् माने गए। क्योंकि हिरण्यकशिपु ने वर मांगा था कि वह न नर के द्वारा मारा जाय न किसी जानवर के द्वारा, न रात में मरे न दिन में, न पानी में, न जमीन पर, न ग्ररूप से मारा जाय, न शस्त्र से। भगवान् नृसिंह न नर थे ग्रौर न ही सिंह। उसे सन्ध्या के समय मारा गया। सन्ध्या दिन राति की सन्धि होते हुए भी न दिन मानी गयी ग्रौर न रात। उसे समुद्र के फेनो की चादर पर मारा गया जो न पानी था, न पृथ्वी, नाकून से मारा जो न ग्रस्त्र था न शस्त्र। इस तरह जैसे नर ग्रौर सिंह के मिश्रण को नर तथा सिंह से पृथक् स्वीकार किया गया, उसी तरह ग्रलङ्कारों की संहति (मिश्रण) को पृथक् ग्रलङ्कार मानना युक्तियुक्त है।

ग्रप्पयदीक्षित कहते हैं—ग्रथैतेषामलंकाराणां यथ स सम्भवं क्वचिन्मेलने लौकिकानामलङ्काराणां मेलन इव चारुत्वाशयोपलम्भान्नरसिंहन्यायेन पृथगलंकारावस्थितौ तन्निर्णयः क्रियते। तत्र तिलतण्डुलन्यायेन स्फुटाबः स्य भेदालंकारमेलने संसृष्टिः। नीरक्षीरन्यायेनास्फुटभेदालंकारमेलने संकरः। स (संकरः) चांगुगिभवेन सम्प्राधान्येन सन्देहेन एकवायकनुप्रवेशेन च चतुर्विधः। एवं नृसिंहाकाराः पञ्चालङ्काराः इति।

तात्पर्य यह है कि जैसे लौकिक ग्रलङ्कारों—हार कुण्डल ग्रादि के मिश्रण में सौन्दर्यातिशय प्रतीत होता है तथा केवल मोतियों से गुम्फित हार की ग्रपेक्षा प्रवाल ग्रौर मोतियों को मिलाकर बनाए गए हार में विशेष शोभा दिखाई पड़ती है। वैसे ही पूर्ववर्णित शुद्ध उपमादि के उदाहरण की ग्रपेक्षा इनके मिश्रण वाले उदाहरणों में विशेष चारुता की ग्रनुभूति होने से नरसिंह न्याय से मिश्रित ग्रलङ्कारों को शुद्ध ग्रलङ्कार से पृथक् ग्रलङ्कार मानना उचित है। इसीलिए इनका निरूपण करना ग्रावश्यक है। जब यह मिश्रण तिल ग्रौर चावल मिश्रण के समान होता है, तब दोनों ग्रलङ्कारों का भेद स्फुट रहता है, वहाँ संसृष्टि मानी जाती है दूध ग्रौर पानी के मिश्रण की तरह जहाँ मिश्रण रहता है, वहाँ नीर रहता है, ऐसे मिश्रण में सङ्कर माना जाता है। इस सङ्कर में मिश्रण की चार स्थितियाँ होती हैं (१) ग्रङ्गाङ्गिभाव से मिश्रण ग्रर्थात् एक ग्रलङ्कार ग्रंग (सहायक) रहता है, दूसरे का ग्रौर दूसरा ग्रङ्गी प्रधान रहता है। इसको ग्रङ्गागिभाव सङ्कर कहते हैं। (२) समप्राधान्य सङ्कर। इसमें दोनों ग्रलङ्कार तुल्य चमत्कार रखते हैं। इसीलिए दोनों की समान प्रधानता रहती हे। (३) सन्देह सङ्कर जहाँ मिश्रित ग्रलङ्कारों में किसे प्रधान माने ग्रौर किसे गौण, इसका निर्णायक प्रमाण नहीं रहता है। इसलिए संदेह रहता है। (४) एक वाचकानुप्रवेश—जहाँ दो ग्रलङ्कार एक ही वाचक शब्द में प्रविष्ट रहते हैं। इन पाँचों ग्रलङ्कारो को नृसिहाकार की तरह पृथक् ग्रलङ्कार मानना चाहिए।

आशाधरभट्ट ने परिशेष प्रकरण में इन अलङ्कारों का निरूपण कुवलयानन्द की शैली में किया है। नये पद्य बनाकर अनुष्टुप् छन्द के पूर्वार्द्ध में लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया है। अप्पय ने इसके लक्षण और भेद गद्य में दिए हैं तथा उदाहरण काव्यों से उद्धृत किये हैं। आशाधरभट्ट ने सरलता के लिए कुवलयानन्द के कूल में प्रस्तुत वे उराहरण जिनमें दो अलङ्कारों के मिश्रण से संतुष्टि तथा संकर माने जा सकते थे, ही यथासम्भव प्रस्तुत किए हैं।

कारिका : ३.१, में उन्होंने बताया है कि मुक्ता और प्रवालादि मिश्रहार में जैसे शुद्ध मोतियों तथा केवल प्रवालों के हार से अधिक सौन्दर्य अनुभूत होता है, वैसे ही अलङ्कारो के मिश्रण में चमत्कार विशेष देखकर ऐसे पांच मिश्रालङ्कारों का संक्षेप में निरूपण इस प्रकरण में कर रहा हूँ। इनके मुख्य दो भेद हैं—संसृष्टि और संकर के चार भेद हैं। अतः ये मिश्रालङ्कार पांच प्रकार के हैं।

१०८. संसृष्टि अलंकार :—

तिलतण्डुलन्याय का कथन इन अलङ्कारों में परस्पर निपेक्षता सूचित करता है। जहाँ अलङ्कारों का भेद स्फुट प्रतीत होता हो और वे अलङ्कार परस्पर निरपेक्ष हों वहाँ संसृष्टि मानते हैं। जैसे वह इतनी अंधेरी है मानो तम शरीर के अङ्गों को लीप रहा है।[२८९] इसीलिए मुख, नाक, कान आदि का पृथक् आभास नहीं हो रहा है और मानो आकार काजल बरसा रहा है। इसमें यहाँ दो अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षाओं का परस्पर निपेक्ष तथा स्फुटावभासी मिश्रण होने से संसृष्टि हैं। यह उदाहरण उत्प्रेक्षालंकार के संदर्भ में दिया हुआ है।

१००. संकर अलंकार

क. अङ्गांगीभाव संकर अलंकार :—

नीरक्षीरन्याय से मिश्रित अलङ्कारों में जहाँ एक दूसरे का उपकारक होता है वहाँ अङ्गाङ्गीभाव सङ्कर माना जाता है। अप्पय ने अङ्गागीभाव शब्द में इकार ह्रस्व लिखा है। उसकी व्युत्पति है अङ्ग च अङ्गी चेति अङ्गागिनौ तयोर्भावः सता अङ्गाङ्गिभावः स अस्ति अस्मिन् इति अर्श आदिभ्यो च इति मत्वर्थीयः अत्। दीर्घ ईकार वाला रूपच्वि प्रत्यय करने से बनेगा। **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः** से च्वि प्रत्यय अभूततद्भाव होता है। इसीलिए **न अङ्गम् अनङ्गम् तच्च अङ्ग च इति अनङ्गाङ्ग तयो रङ्गानाङ्गभावः अङ्गानङ्गीभावः बनेगा। यदि अनङ्गम् अङ्गम् भवति अङ्गीभवति अङ्गीभवनम् एव अङ्गीभावः अङ्गस्य अङ्गीभावः अङ्गाङ्गीभावः**

---

२८९. संसृष्टिर्मिश्रतैतेषां तिलतण्डुलवत्तु या
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
—आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका ३.२

ऐसा विग्रह करते हैं तो यह अङ्गीभाव का अर्थ होता है। प्रधान का अप्रधान होना। इस प्रकार अङ्गस्य अङ्गीभाव अङ्गाङ्गीभाव का शाब्दिक अर्थ होगा अप्रधान का प्रधान, प्रधान का अप्रधान होना। यह अर्थ मतप्रलाप के समान बन जाएगा। इसलिए अङ्गाङ्गि भाव में ह्रस्व इकार ही होना चाहिए। उसी से इस अलङ्कार के लिए अभिप्रेत मिश्रण विशेष ज्ञाथ होता है। आशाधर ने लिखा है **च्विप्रत्यया... कर्मधारयः** च्वि प्रत्यय नहीं करे तो इकार ह्रस्व रहेगा जिससे कि छन्दोभंग होता। इसीलिए मैंने च्वि प्रत्ययान्त मानकर दीर्घ ईकार धटित रूप स्वीकार किया है। मेरी यह सलाह है कि छन्दोभङ्ग को मिटाने के लिए ऐसी संरचना की जा सकती थी अङ्गाङ्गिभाव उत्थाप्यो तथापकत्वे तु सङ्करः 'च्विप्रत्यय करके उन्होंने छन्दोभंग को अवश्य दूर किया पर अर्थ का अनर्थ हो गया। इसीलिए 'तत्र दीर्घाभावेन छन्दोभङ्गभयात् च्विप्रत्यान्तपक्षः साधुः तयोर्भाव शब्दे परे च्विप्रत्ययान्तत्वं बोध्वम्' यह ग्रन्थ चिन्त्य है। च्विप्रत्यय भावार्थ के योग में होगा उसके कारण अस्य व्वो से 'ई' आदेश भी होगा पर जो अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है, वहाँ प्रगट हो जाएगा। अतः यहाँ च्विप्रत्यय नहीं मानने में ही औचित्य है। 'अर्थः नित्यं परीक्ष्येत' के द्वारा व्युत्पति को अर्थानुसारी होना चाहिए।

शंखाद्......दद्भुतम् यह पद्य चतुर्थी विभावना (कु० का० ७९) के सन्दर्भ में व्याख्यात है। यहाँ उपमेय (कामिनीकण्ठ) उपमान से निर्गीर्ण है। इसलिए रूपकातिशयोक्ति है। वीणा रूप करण के बिना निनाद (वीणा ध्वनि) रूप कार्य की उत्पत्ति कथन से विभावना है या अकारण से कार्यजन्म वर्णन के कारण चतुर्थी विभावना है। विभावना उत्थाप्य है और उसका उत्थापक रूपकातिशयोक्ति है। अङ्गाङ्गिभाव संकर है। इसमें दोनों अलङ्कार परस्पर साकाङ्क्ष होते हैं।[२९०] संसृष्टि में दोनों निरपेक्ष रहते हैं, यही भेद है।

ख. समप्राधान्य संकर अलङ्कार :—

दोनों मिश्रण प्राप्त अलङ्कार जब परस्पर उपकारक होते हैं तो सम्प्राधान्य संकर होता है। जैसे—**रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बरसैर्वृताः**।[२९१] यह पद्य कु० का० १६३ पर व्याख्यायित है। यहाँ 'ऋद्धि' का उत्कर्षेण वर्णन होने से उदातालङ्कार है और सम्बन्धातिशयोक्ति भी है, दोनों एक-दूसरे के उपकारक हैं तथा तुल्य चमत्कारक हैं। अतः समप्राध्यान्न सङ्कर है।[२९२] इसके उदाहरण में—

---

२९०. अत्र रूपकातिशयोक्तिरुत्थापकत्वं विभावननायाश्चोत्थाप्यत्वमिति परस्पर-साकांक्षकम्। —आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका ३।३ वृति

२९१. वही, १।१६३ पृ०

२९२. अत्रोदात्तस्यातिशयोक्तेरङ्गत्वं तस्याश्चोदात्तालङ्कारस्येति सम्प्राधान्यम्। —वही, ३।४ वृत्ति

ज्ञाते लङ्केश्वरः कृच्छादा जनेयेन तत्वतः' और जोड़ना आवश्यक है। अन्यथा उदाहरण अपूर्ण रहता है।

ग. सन्देह संकर अलङ्कार :—

दो अलङ्कारों में किसी एक के प्राधान्य का साधक या बाधक प्रमाण न रहने पर सन्देह संकर होता है। जैसे 'चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्च चतुर्भुजः' में 'चतुर्भुज' शब्द को देव का विशेषण मानें तो विशेषण के साभिप्राय होने से परिकर अलङ्कार और देव को विशेषण मानकर देने वाला देवता चतुर्भुज है, तो ऐसा अर्थ करके चतुर्भुज को विशेष्य माने तो बिशेष्य के साभिप्राय होने से 'परिकरांकुर' अलङ्कार सिद्ध होता है। एक अलङ्कार के ज्ञापक प्रमाण के अभाव में यहाँ दोनों का सन्देह संकर माना गया है। **अत्र चतुर्भुजस्य देवविशेषणत्वे। परिकरालङ्कारः। सामान्य** विशेषभावसम्बन्धेनोभयोरपि भेदाद्विशेषत्वविवक्षायां तु दातेति **बिशेषणान्बयानुरोधात्परिकांकुर इति भेदकाभावाद्वयोरेकतरस्यातिचश्य**[२६३] इन बाक्यों में पूर्वोक्तार्थ को स्पष्ट किया गया है। आशाधर ने 'परिकरांकुर' को परिकर में अन्तर्भाव माना है। अतः कहते हैं कि आत्मतुष्टि को यदि प्रमाण मानकर सन्देह का निवारण करें तो यहाँ परिकर ही है।[२६४] अतः संदेह संकर का उदाहरण होगा 'गुरु चरण कमलं पश्य' यहाँ रूपक और उपमा का सन्देहसंकर है।

(घ) एक वाचकानुप्रवेशासङ्कर अलङ्कार :—

जहाँ दो या दो से अधिक अलङ्कार एक बाचक शब्द रूप अधिकरण में अनुप्रविष्ट दिखाई पड़ते हैं; वहाँ एकवाचकानुप्रवेश संकर होता है। जैसे **यत्तयामेलनम् तदेतत्काकतालीयमवितर्कितसंभवम्**।[२६५] इस श्लोक (कु० का० ७ पृ० ५ तथा कु० का० ३।६) के काकतालीय शब्द में उपमावाचक शब्द तथा उपमान दोनों का लोप होने से लुप्तोपमा के दो भेद—उपमानलुप्ता और वाचकलुप्ता अनप्रविष्ट हैं। इसका अर्थ है काकागमन के समान कामुक के आगमन को अप्रत्याशित बताया गया है और उसी समय घटित ताल पतन के समान कामिनी के आगमन को बताया गया है। यहाँ काक इव तालमिब इस विग्रह में समासाच्च तद् बिषयात् इस सूत्र के ज्ञापनपश इवार्थ में समास हुआ है—**यत्तयामेलनम** के द्वारा जो कामिनी समागम रूप उपमेय बताया गया है, उसका उपमान है काकागमन तालपतन इन दोनों का सहभाव वह लुप्त है। लोप का कारण, समासाच्च तद्विषात्' इस सूत्र का ज्ञापन है। अतः समास के आधार पर यह उपमान और उपमावाचक पर दोनों का लोप

---

२६३ आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, ३।५ बृत्ति

२६४. आत्सतुष्टिप्रामाण्येन परिकरोदाहरण कृतमिति बोध्यम्।
—वही, ३।५ बृत्ति

२६५. वही, ३।६ उ०

हुआ है। तद्धितार्थ को आधार बनाकर देखें तो अर्थ होता है—काकताल समागम जन्य आस्वाद की तरह कामुककृत कामिनीरति घटित हुई। यहाँ उपमान समागम-जन्य आस्वाद का लोप है।

अत्रैकस्मिन् काकतालीये शब्दे उपमाद्वयं प्रविष्टम्[२६६]

इस तरह इस पद में दो उपमा प्रविष्ट हैं। संसृष्टि में दो अलङ्कारों का आश्रय यद्यपि एक वाक्य होता है, परन्तु एक पद में दो अलङ्कारों का प्रवेश नहीं होता है। यही दोनों में भेद है।[२६७]

(ङ) विचित्र संकर अलङ्कार :—

इसको अप्पय ने संकरसंकर नाम दिया है। आशाधरभट्ट ने इसे 'विचित्र संकर' कहा है। उन्होंने इस नामकरण का कारण बताते हुए लिखा है कि अनेक प्रकार के अलङ्कारों के संकर के आने से इसमें विविध चित्र दिखाई पड़ते हैं।

एवं परस्परं योगे विचित्रः संकरो भवेत्[२६८] **तथा एषां संसृष्ट्यादीनां... सङ्करो भवेत्**।[२६९] इन संसृष्टि और संकर के चार भेदों का एक अधिकरण में विद्यमान होने पर विचित्र नामक संकर अलङ्कार होता है। जैसे **गुरुर्वचसि अर्जुनोऽयं कीर्तौ भीष्मः शरासने**[३००] (**कुवलयानन्दकारिका** ३।७) में। यह राजा वचन में (बोलने में) वाचस्पति गुरु बृहस्पति तथा महान् पटु हैं। कीर्ति में अर्जुन पार्थ (कुन्तीपुत्र तथा स्वच्छ है) धनुर्विद्या में भीष्म (भीष्म पितामह तथा भयंकर) है। यहाँ उल्लेखालङ्कारों तथा मालारूपकों में तुल्यचमत्कार होने से समप्राधान्य संकर है। साथ-साथ श्लेष और रूपक में अङ्गाङ्गिभाव संकर है। इसलिए अनेक संकरों का संकर होने से विचित्र संकर है।

आशाधरभट्ट ने संसृष्टियों के संकर की संभावना का जिक्र अपने लक्षण में किया है, परन्तु उदाहरण जो दिया है, वह सङ्कर का ही है। तथापि 'एवमन्यापि

---

२६६. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, ३।६ वृत्ति

२६७. संसृष्टेस्त्वेकवाक्यसमानाधिकरणे ये शब्दमात्रसामानाधिकरण्यं नास्ति ततो विशेषः। —वही, ३।५ वृत्ति

२६८. वही, ३।७ पू०

२६९. एषां संसृष्ट्यादीनां परस्परं योगे समानाधिकरण्ये सति विचित्रो विचित्र-नामा नानाविधत्वात्संकरो भवेत। —वही, ३।७ वृत्ति

३००. वही, ३।७ उ० एवम् १।२१ उ०

सुधीभिरुदाहार्थम् के द्वारा उसकी सम्भावना व्यक्त की है । मेरे विचार में संसृष्टियों के सांकर्य का उदाहरण—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवा जनं नभः ।
मेघो धनीकरोतीव जगली यमुनेव मे
रात्रिर्मन्ये माषराशिर्दृष्टिर्विपलतां गता
असत् पुरुष सेवेव इक्षौपुष्पप्ररोहवत् ॥

यहाँ मास राशि तक अनेक उत्प्रेक्षाओं के कारण संसृष्टियों के तिलतण्डुल-न्याय से तथा दृष्टिविफलतां गता से लेकर—प्ररोहवत्' तक आई हुई श्रोती तथा आर्थी उपमाओं के उस न्याय से मिश्रण होनेसंसृष्टि सङ्कर है ।

३०१. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका ४।२ उत्तरार्द्ध

सप्तम अध्याय

निर्गलित

क : आशाधरभट्ट : एक कवि

१०वीं शताब्दी के मूर्धन्य काव्यशास्त्री राजशेखर ने 'प्रतिभाव्युत्पतिमांश्च कविः कविरित्युच्यते'[१] द्वारा 'कवि' के लिए एक नियामक निर्धारित किया है, जिसका भाव यह है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति से युक्त होने पर ही वस्तुतः कोई कवि 'कवि' की श्रेणी में समादृत किया जाता है। इस प्रकार कवि को लक्षरणा प्रतिपादित करते हुए आचार्य राजशेखर ने प्रतिभा और व्युत्पति दो महत्त्वपूर्ण भेदों का प्रयोग किया है, जिनका समीक्षरण किए बिना आशाधरभट्ट का कवि-रूप में मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

प्रतिभा की परिभाषा करते हुए राजशेखर ने कहा है—'या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि यथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा' अर्थात् प्रतिभा उस शक्ति या क्षमता विशेष को कहते हैं जो शब्दसमूह, अर्थसमूह एवं अलङ्कारशास्त्र तथा उक्तिमार्ग प्रभृति अन्य काव्य पदार्थों को हृदय में प्रतिभासित करे। आशाधरभट्ट जी शब्दशक्तिविषयक 'कोविदानन्द एवं त्रिवेरिणका' तथा अलङ्कारविषयक ग्रन्थ 'कुवलयानन्दकारिका, के अनुशीलन से शब्द, अर्थ एवं अलङ्कारविषयिरणी प्रतिभा की सुतरां प्रतीति हो जाती है। 'त्रिवेरिणका' के व्यञ्जना प्रकरण के आरम्भ में शक्तिमूलाव्यञ्जना' नामक व्यञ्जना के अन्यतम भेद को आशाधरभट्ट ने एक अधोलिखित पद्य में प्रस्तुत किया है—

आशाधरहृदुत्पन्ना विमला बुद्धिशुद्धिदा।
कोविदानन्दसहजाऽनुग्राह्येषा त्रिवेरिणका॥

अर्थात् आशावरभट्ट के हृदय से उत्पन्न 'विकाररहित' बुद्धि में शुद्धि प्रदान करने वाली कोविदानन्द (नामक ग्रन्थ) के कर्ता (आशाधरभट्ट) के द्वारा रचित त्रिवेरिणका अवश्य ही ग्राह्य है। यहाँ 'आशाधरहृदुत्पन्ना' पद का प्रवोग ग्रन्थकार में प्रतिभा के महत्त्व की स्वीकृति का पुष्कल प्रमारण है। क्योंकि इससे इन्हें यही अभिप्रेत है कि त्रिवेरिणका नामक ग्रन्थ उनके हृदय से उत्पन्न है अर्थात् ग्रन्थ में विवेच्य

१. राजशेखर : काव्यमीमांसा, व्युत्पतिकविपाकाः, पंचमोध्यःयः
२. वहीं, पदवाक्यविवेकः चतुर्थोध्यायः

शब्द, अर्थ एवं शब्द की तीनों वृत्तियों—अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना का सम्यक् स्वरूप उनके हृदय में विद्यमान था, जो प्रतिभा विशेष के कारण ही सम्भव हो सकता है।

त्रिवेणिका में चारु, चारुतर, एवं चारुतम रूप त्रिविध अर्थों का निरूपण ग्रन्थकार की नैसर्गिक प्रतिभा का ही परिचायक है। शब्दशक्तिविषयक ग्रन्थ 'कोविदानन्द' की रचना अनुष्टुप छन्द में ही की गई है, शब्द की दूसरी वृत्ति लक्षणा के लिए इन्होंने 'भक्ति' पद का प्रयोग किया है। आशाधरभट्ट अनन्य शिवभक्त थे। अतएव काव्यात्मक कोविदानन्द के 'अभिधानिरूपण' नामक परिच्छेद में 'संकेतस्मारक' या शक्तिनियामकों के भेद-प्रभेदों के निरूपण-प्रसङ्ग में शिवपरक अर्थवान् पदों का अबाध प्रयोग ग्रन्थकार में निहित प्रतिभा का परिचायक है—

देवस्त्रिनेत्रो जयति शूली जयति मुक्तिदः।
स्थाणु भजस्व विद्यार्थं शिवो बन्द्यो जटी कधृक् ॥[3]

इसी प्रकार अनेकार्थक 'स्थाणु' शब्द से सामर्थ्य, देश, काल, चेष्टा, साहचर्य विरुद्धता एवं संयुक्तत्व रूप में आठ पृथक्-पृथक् शक्ति नियामकों को उदाहृत करना, ग्रन्थकार की शब्दसमूह-सम्बन्धिनी अप्रतिम प्रतिभा का ही द्योतक है।

पूजितो जयति स्थाणुः स्थाणुर्जयति सवर्गः।
स्थाणुर्जयति कैलासे कल्पान्ते स्थाणुरेककः ॥[4]
इदं लिङ्गं महेशस्य साम्बः स्थाणुर्यदाश्रितः।
सेव्यः स्मररिपुः स्थाणुः स्थाणुर्गङ्गाधरोऽवतु ॥[5]

प्रतिभा दो प्रकार की मानी गई है—कारयित्री एवं भावयित्री। आशाधरभट्ट कारयित्री प्रतिभा के धनी थे। राजशेखर ने 'कवेरूपकुर्वाणा कारयित्री[6] कहा है। कारयित्री प्रतिभा भी सहज, आहार्या और औपदेशिकी रूप तीन प्रकार की कही गई है।[7] राजशेखर ने ही—जन्मान्तरसंस्कारोपेक्षिणी सहजा' कहकर कारयित्री प्रतिभा के प्रथम भेद की व्याख्या की है। यह श्रेष्ठतम प्रतिभा है। आहार्या प्रतिभा को 'इह जन्मसंस्कारयोनिराहार्या'[8] कहा गया है। आशाधरभट्ट

---

३. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपणम्, का० २४
४. वही, का० २५
५. वही, का० २६
६. राजशेखर : काव्यमीमांसा, शिष्यप्रतिभे, चतुर्थ अध्याय।
७. वही.
८. वही.

इसी प्रकार की प्रतिभा से युक्त थे। क्योंकि उन्होंने अपने तीनों ग्रन्थों की प्रायः प्रत्येक पुष्पिका में अपने पूज्य पिता के लिए 'पदवाक्य प्रमाण पारावारीणरामजी-भट्टात्मजाशाधर विरचितम्[९] कहा है।

आशाधरभट्ट ने कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका दोनों ग्रन्थों में अपने गुरु का नामोल्लेख नहीं किया है, जबकि पिता के लिए 'पद, वाक्य, प्रमाणपारावारीण, विशेषण प्रत्येक पुष्पिका में लिखा है। इससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने व्याकरण, मीमांसा एवं न्याय शास्त्रों का अध्ययन अपने पिता रामजीभट्ट से ही किया था, जबकि अलङ्कारविषयक 'कुवलयानन्दकारिका', ग्रन्थ की संस्कृतटीका 'अलङ्कार-दीपिका' का प्रारम्भ ही गुरुवन्दना रूप मङ्गल पद्य से किया है—

शिवयोस्तनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम् ।
कुर्वेकुवलयानन्दकारिकादीपिकां मुदे ॥

इसी ग्रन्थ के लक्ष्यलक्षणप्रकरण का उपसंहार एक अन्य स्वरचित पद्य से किया है, जिसमें गुरु की वन्दना की गई है :—

धरणीधरगुरुचरणशरणीकरणात्कुवलयानन्दे ।
स्तुतिर्मम सानुबन्धा इति सूचयितुं प्रयत्नोऽयम् ॥[१०]

उद्दिष्टालङ्कारप्रकरण के अन्त में एक और स्वरचित पद्य दिया है—

धरणीधरपादाब्जप्रसादासादितस्मृतेः ।
आशाधरस्य वागेषातनोतु विदुषां मुदम् ॥[११]

इन पद्यों से यही स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार ने अलङ्कारशास्त्र का अनुशीलन गुरु धरणीधर के चरणकमलों में बैठकर किया था। अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि आशाधरभट्ट प्रतिभा की दृष्टि से आभ्यासिक कबि थे; क्योंकि आचार्य राजशेखर ने अपनी कृति 'काव्य-मीमांसा' में कारयित्री प्रतिभा के आहार्या नामक भेद पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

इह जन्माभ्यासोद्भासितभारतीक आहार्या बुद्धराभ्यासिकः ।[१२]

प्रतिभा के अतिरिक्त 'कवि' में 'व्युत्पत्ति' का भी विधान किया गया है :

---

९. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, सभी प्रकरणों की पुष्पिकाओं में।
१०. वही, त्रिवेणिका, सभी प्रकरणों की पुष्पिकाओं में।
वही, कुवलयानन्दकारिका, सभी प्रकरणों की पुष्पिकाओं में।
आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, लक्ष्यलक्षणप्रकरणम्, पृ० ८६ वृत्तिभाग।
११. वही, पृ० ९४ वृत्तिभाग।
१२. राजशेखर : काव्यमीमांसा, शिष्यप्रतिभे, चतुर्थो अध्याय।

प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते ।[१३]

प्रायः आचार्यों ने बहुज्ञताव्युत्पत्तिः का ही समर्थन किया है; क्योंकि कवियों की वाणी सर्वतोन्मुखी होती है। आचार्य राजशेखर ने भी कहा है :

प्रसरति किमपि कथञ्चन नान्यस्य गोचरे वचः कस्य ।
इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचः सर्वतोदिक्का ।[१४]

यायावरीय के अनुसार :—

उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः है। आचार्य मम्मट के द्वारा की गई कवि की 'वाणी' की स्तुति में भी उसकी बहुज्ञता की ही पुष्टि होती है—

नियतिकृत नियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥

इसी भाव का समर्थन आचार्य आनन्दवर्धन ने भी करते हुए अपनी विश्रुत कृति ध्वन्यालोक में लिखा है :—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथा विपरिवर्तते ॥[१५]

आनन्दवर्धन ने 'प्रतिभाव्युत्पन्त्योः प्रतिभा श्रेयसी' कहा है जबकि आचार्य मंगल ने 'व्युत्पतिः श्रेयसी' कहा है; परन्तु यायाववरीय राजशेखर ने 'कवि' में प्रतिभा व्युत्पति एवं दोनों क्षमताओं की अनिवार्यता एवं श्रेष्ठता स्वीकार की है :

प्रतिभाव्युत्पत्तीमिथः समवेते श्रेयस्यौ ।[१६]

आशाधरभट्ट एक ऐसे कवि थे, जिनमें प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों क्षमताओं का समन्वय था। अनुष्टुप छंद में लिखा गया शब्दशक्तिविषयक प्रथम ग्रन्थ कोविदानन्द वस्तुतः ग्रन्थकार की व्युत्पत्ति अर्थात् बहुज्ञता की प्रतीति कराने में पूर्ण सक्षम हैं, जिसमें यथावसर कोश, व्याकरण, पुराण, निरुक्त, न्याय, वेद, एवं काव्यपरक अन्यान्य ग्रन्थों को कहीं नामतः तो कहीं उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थकार की बहुज्ञता एवं मौलिकता 'कोविदानन्द' की प्रत्येक कारिका में स्पष्ट है। विशेषतः ग्रन्थ 'व्यञ्जना निरूपण' नामक प्रकरण में व्यञ्जना वृत्ति के अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या एवं अनुमान में क्रमशः अन्तर्भूत होने के विविध पक्षों का ऊहापोह करते हुए उत्तरपक्ष का निरूपण करने पर एक स्थल पर भी छन्दोभङ्ग नहीं हुआ है। आशाधरभट्ट में उपस्थित यह कवि पुरुष ही है, जो गहनतम विषयों को सरलतम छन्दों में निबन्धित कर सका :—

---

१३. राजशेखर : काव्यमीमांसा, व्युत्पतिकविपाकाः पञ्चमोऽध्याय।

१४. वही.

१५. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत।

१६. राजशेखर : काव्यमीमांसा, व्युत्पतिकविपाकः, पञ्चमोध्याय।

एकेनानेक साध्योऽर्थो लाघवाद्यदिसाध्यते ।
स्त्रीपुंसयोरन्यतरल्लाघवाच्छिशुकृन्न किम् ।[17]

शब्द व्यापार के सन्दर्भ में निम्नकारिका द्रष्टव्य है :—

प्रमाणत्वेन शब्दानां करणत्वं शरादिवत् ।
तेन व्यापारयुक्तत्वं नियतं स्वार्थसाधने ॥[18]

आशाधरभट्ट का कोई काव्य ग्रन्थ नामतः उपलब्ध नहीं होता, फिर भी उन्होंने स्वयं अपने लिए तीन स्थलों पर 'कवि' शब्द का प्रयोग किया है।[19] इनकी कृतियों में अनेकानेक ऐसे पद्य प्राप्त होते हैं जो इनमें निहित कवि पुरुष की प्रतीति कराने में सुतरां सक्षम है।

१. कोविदानन्द में :—

त्रिनयलसत्पञ्चास्यश्रीः षडाननन्दनः ।
सततमहिमा, सप्तर्ष्याद्यैः कृतस्तुतितोषितः ॥
जयति जगतां व्याकुर्वाणोऽजयाकृति नाम्नी ।
पुनरपिदधत् कण्ठेकालः स कालकलोज्झितः ॥[20]
प्रणम्य शङ्करं साम्बं कोविदानन्दनामकम् ।
ग्रन्थं व्याख्यामि संक्षेपात् स्वकृतं बोधसिद्धये ॥[21]
शिवस्य भक्त्या समवाप्तसिद्धि-
धीर्नीरधी रामजीभट्ट आसीत् ।
तत्सूनुनाशाधरभट्टनाम्ना,
ग्रन्थः कृतोऽयं सुधियां मुदेऽस्तु ॥[22]

इन पद्यों के अतिरिक्त कारिकाओं में रचित कोविदानन्द का सम्यक् निरूपण 'आशाधरभट्ट की कृतियां' नामक प्रकरण में किया गया है।

२. त्रिबेणिका :—

त्रिवेणिका की रचना गद्यमयी है फिर भी ग्रन्थकार ने विवि पद्यों की प्रसङ्गानुकूल समायोजना से अपने 'कवित्व' का परिचय दिया है :—

---

१७. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपण, का० ८
१८. वही, का० ३
१९. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकातिका, पृ० ९६
: कोविदानन्द, अभिधानिरूपणम्, पृ० १ वृत्तिभाग ।
२०. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपणम्, मङ्गलपद्य ।
२१. वही, मङ्गलपद्य (वृत्तिभाग)
२२. वही, उपसंहारात्मक पद्य ।

१. प्रणम्य पार्वतीपुत्रं कोविदानन्दकारिणा ।
आशाधरेण क्रियते पुनर्वृत्तिविवेचना ॥[२३]

२. शक्तिभक्तिव्यक्तिगङ्गायमुनगूढ़निर्झराः ।
निर्वाहवन्त्यः सन्त्यत्र यत्तदेषात्रिवेणिका ॥[२४]

३. पाकं कुरुष्व पाकार्थं चामुण्डां विखरे कुरु ।
अजो विधिस्तं चाजैन यजेता नार्थधर्मधीः ॥
हिङ्गुलं पद्मरागाभं तद्वर्णा हिङ्गुलाम्बिका ।
यामम्बेति वदन्त्यार्या अन्येऽल्लेति स्तुवन्ति च ॥[२५]

मत्कृतेऽद्वैतविवेके च :—

४. मृगांकत्वेऽपि न मृगी शशाङ्कत्वाच्छशीति तु ।
चन्द्रमाः कथितस्तत्र रूढेरन्यत्र कारणम् ॥[२६]

५. यस्य गेहे हिरण्यं च खर्जूरं च कृताकृतम् ।
स कथं दीनवदनो याचेदन्यं धनोन्मदम् ॥[२७]

६. विष्ठोत्सारणकर्तामर्ता कार्येषु पादचार्यनुगः ।
कृतगमना च विटस्त्री कार्ये गुह्योऽपि तुच्छमूल्यानि ॥[२८]

७. मल-समार्जनकर्तात्यक्तात्मदेहश्च पादचायनुगः ।
कृतगमना च विटस्त्री कार्ये गुह्योऽपि तुच्छमूल्यानि ॥[२९]

८. अतएवाहुः :—
शक्तिं भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा नराः ।
व्यञ्जना नर्ममर्मज्ञा कवयः कमनः जनाः ॥[३०]

९. आशाधरहृदुत्पन्ना विमला बुद्धिशुद्धिदा ।
कोविदानन्दसहजाऽनुग्राह्यैषा त्रिवेणिका ॥[३१]

---

२३. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, शक्तिप्रकरणम्, पृ० १, १९२५, वाराणसी ।
२४. वही, पृ० १
२५. वही, पृ० ६
२६. वही, पृ० ११
२७ वही, पृ० ११
२८. वही, लक्षणाप्रकरणम्, पृ० २४, १९२५, वाराणसी ।
२९. वही,
३०. वही.
३१. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका व्यञ्जनाप्रकरणम्, पृ० २५, १९२५ वाराणसी ।

१०. दानी, पानी तथा ज्ञानी ध्यानी, मानी निधान्यपि ।
राजा मयूरचित्रोऽयं येन राजन्वती क्षितिः ।।[32]

११. क्षीरत्यजं नीरपिवं च हंसं व्यासं विरक्तं च शुकं गृहस्थम् ।
वदामि वाणी मम चेद्ययार्था तदा सुधीभिर्मम धीर्न निन्द्या ।।[33]
यदिह लिखतामव्युत्पत्या पतेल्लघु दूषणं,
निपुणधिषणैरुज्झित्वा तत्कृतिर्मम सेव्यताम् ।
सरसविमले वातक्षिप्तं निवार्य तु शैवलं
सलिलममृतप्रायं प्रायः पिबन्ति पिपासवः ।।[34]

१३. यदि मम सरस्वत्यां कश्चित्कथञ्चन दूषणं,
प्रलपति, ततः प्रौढप्रज्ञैः स किं कविभिः समः ?
रघुपति कुटुम्बिन्यां सत्यावबद्यमुदाहरन्,
हतक रजकः साम्यं लेभे स किं सह राजभिः ।।[35]

३. कुवलयानन्दकारिका :—

कुवलयानन्दकारिका तीन प्रकरणों में विभक्त अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसके अन्तिम दो प्रकरण क्रमशः उद्दिष्टालङ्कारप्रकरण एवं परिशेषालङ्कारप्रकरण की समग्र कारिकाएं आशाधरभट्ट की स्वयं की रचनाएं हैं, जिनकी संख्या क्रमशः २१ और ८ है।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की अलङ्कारदीपिका नामक टीका में प्रसङ्गानुकूल स्वरचित और विविध पद्यों को उद्धृत किया है, जो कवि रूप में समादृत कराने में पूर्ण सक्षम हैं। वे हैं :—

१. शिवयोस्तनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम् ।
कुर्वे कुवलयानन्दकारिकादीपिकां मुदे ।।[36]

२. 'आशाधरेण कविना रामजीभट्टसूनुना ।
क्रियते कारिकाटीका बालानामुपकारिणी ।।[37]

३. ऐते प्रमाणालङ्कारा प्रकृतार्थसमर्थनात् ।
काव्यलिङ्गप्रपञ्चत्वमुपयान्त्येन वस्तुवः ।।[38]

---

३२. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका; व्यञ्जना प्रकरणम्, वाराणसी, १९२५
३३. वही पृ० २६, १९२५ वाराणसी ।
३४. वही, पृ० २८, १९२५ वाराणसी ।
३५. वही.
३६. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, लक्ष्यलक्षणाप्रकरणम्, पृ० १ वृत्ति ।
३७. वही,
३८. वही. पृ० ८६ वृत्ति

४. धरणीधरगुरुचरण शरणीकरणात्कुवलयानन्दे ।
स्तुतिर्मम सानुवन्धा इति सूचयितुं प्रयत्नोऽयम् ।।[३९]

५. धरणीधरपादाब्जप्रसादा सादितस्मृतेः ।
आशाधरस्य वागेषा तनोतु विदुषां मुदम् ।।[४०]

६. आशाधरकवेर्वाचं वाचो युक्तिविशारदः ।
अनुगृह्णन्तुबालस्य काकली कस्य नो मुदे ।।[४१]

इस प्रकार आशाधरभट्ट की काव्यशास्त्रीय तीनों कृतियों के अनुशीलन से स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि ये 'शास्त्रकवि' थे क्योंकि ग्रन्थकार ने शास्त्र-विषयक अनेकानेक सिद्धान्तों को काव्यमयी सुग्राह्य शैली से संवारकर ग्रन्थ का रूप दिया है। यायावरीय राजशेखर ने काव्य कवि, शास्त्रकवि एवं उभयकवि रूप त्रिविध कवि-निरूपण प्रसङ्ग में 'शास्त्रकवि' की व्याख्या में—'यच्छास्त्रकविः काव्ये रससम्पदं विच्छिनति।......तत्र त्रिधा शास्त्र कविः। यः शास्त्र विधते, यश्च शास्त्रे काव्यं संविधत्ते, योऽपि काव्येशास्त्रार्थ विधते, यश्चशास्चे काव्यं संविधत्ते, योऽपि काव्ये स्वरचित पद्यों से सुतरां प्रतिष्ठापित हो जाता है।

ख. आशाधरभट्ट : एक समालोचक

प्रख्यात काव्यशास्त्री आचार्य राजशेखर ने भावक या आलोचक के लिए भावयित्री प्रतिभा की अनिबार्यता या नैसर्गिकता की बात कही है :—

भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री[४२]

आशाधरभट्ट में कारयित्री एवं भावयित्री उभयरूप प्रतिभाएं थीं। कारयित्री प्रतिभा की दृष्टि से आशाधरभट्ट का मूल्याङ्कन किया जा चुका है। यहीं पर भावयित्री प्रतिभा की दृष्टि से आशाधरभट्ट का मूल्याङ्कन किया जाएगा। राजशेखर के अनुसार भावक अरोचिकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्वाभिनिवेशी रूप चार प्रकार के होते है। इन चारों प्रकार के भावक यथा नाम तथा गुण होते हैं। उदाहरणार्थ यदि अरोचिकी भावकों को किसी भी प्रकार की श्रेष्ठ रचना रुचती ही नहीं। ठीक इसके विपरीत सतृणाभ्यवहारी कोटि में बे भावक आते हैं जो बिना विवेक के ही किसी भी प्रकार की रचना की भूरि-भूरि प्रशंसा करना ही अपना कर्त्तव्य मानते हैं। इनका नाम 'सतृणाभ्यवहारी'

---

३९. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, उद्दिष्टालङ्कारप्रकरणम्, पृ० ९४ वृत्ति
४०. वही,
४१. वही. परिशेषालङ्कारप्रकरणम्, पृ० ९६
४२. राजशेखर : काव्यमीमांसा, शिष्यप्रतिभा, चतुर्थोध्याय

इसलिए ही रखा गया है कि ये खाद्यसामग्री के साथ तृण से बने हुए दोने पत्तल को भी भक्ष्य और अभक्ष्य के विवेक के बिना समान रूप से खाने व होते हैं अर्थात् सतृणाभ्यवहारी भावक किसी भी रचना को उसके गुण या द के आधार पर उसका मूल्याङ्कन करना नहीं जानते, प्रत्युत उसकी आपाततः प्रश ही करते हैं। तीसरे प्रकार के भावकों की गणना 'मत्सरी' कोटि में की ज हैं। ये जैसा नाम से ही स्पष्ट है—पूर्वाग्रही होते हैं अर्थात् प्रतिकूल रचना कथमपि स्वीकार्य नहीं होती। चौथे प्रकार के आलोचकों की श्रेणी 'तत्त्वाभिनिवे रूप में समादृत है। राजशेखर ने तत्त्वाभिनिवेशी भावक को श्रेष्ठतम एवं सह में से एक कहकर इसकी दुर्लभता की पुष्टि की है :—

तत्वाभिनिवेशी तु मध्येसहस्रं यद्यैकस्तदुक्तम् :—

शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधिनामोदते सूक्तिभिः,
सान्द्रं लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां,
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रवज्ञो जनः॥[४३]

आशाधरभट्ट की कृतियों के अध्ययन से यही प्रतीत होता है कि वे एक तत्त्वाभिनिवेशी कोटि के भावक थे। इन्हें अरोचकी कोटि में इसलिए नहीं र सकते क्योंकि इनकी तीनों कृतियों,—कोविदानन्द, त्रिवेणिका एवं कुवलयान कारिका कृतियों में विवेच्य किसी एक प्रसङ्ग में भी इनकी किसी अन्य विद्वान् की रचना में 'अरुचिपरकदृष्टिकोण' उपलब्ध नहीं होता। इसके विपरीत आच के प्रति यथास्थान आदरभाव ही व्यक्त किया गया है।

(१) कोविदानन्द में (सम्पादित आचार्य कालिका प्रसाद शुक्ल)

	पृष्ठ संख्या
अभिधान चिन्तामणि	१९
अमरकोश	८
अष्टाध्यायी	१, १६, १९.
कालिकापुराण	४
कुमारसम्भव	४
निरुक्त	४
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली	५
न्यायसूत्रम्	११
महाभाष्य	१०

---

४३. राजशेखर; काव्यमीमांसा, शिष्यप्रतिभा चतुर्थोऽध्यायः।

(२) त्रिवेणिका (आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल द्वारा सम्पादित)

उद्धरणतः

अन्यान्य ग्रन्थों के नामतः व उद्धरणतः उल्लिखित करने के अतिरिक्त कृति- में ग्रन्थकारों को नामतः उद्धृत किया है। वे हैं—

३. कुवलयानन्दकारिका

(निर्णयसागर प्रकाशन १९२७ के अनुसार पृष्ठ संख्या)

वाग्भट	७४, ८३
वामन	३२, ४६

अतः आशाधरभट्ट को भावकों की दूसरी सतृणाभ्यवहारी नामक कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि इन्होंने प्रसङ्गानुकूल अन्यान्य आचार्यों के विविध सिद्धान्तों को पूर्व पक्ष के रूप में उद्धृत करके तर्कपूर्ण शैली से उत्तरपक्ष की स्थापना यथावसर की है। वैयाकरणों के द्वारा शक्ति अर्थात् अभिधा में ही लक्षणा एवं व्यञ्जना के अन्तर्भूत होने रूप पूर्वपक्ष का उल्लेख करके उसका युक्तियुक्त पूर्वक खण्डन उनके सतृणाभ्यवहारी कोटि का भावक न होने का ज्वलन्त प्रमाण है।

अत्र वैयाकरणाः—अत्र शक्तिरेव शब्दवृत्तिः। तस्याः प्रसिद्धप्रसिद्धभ्यां शक्तिलक्षणाव्यपदेशः। व्यञ्जना तु तत्रैवान्तर्भवति, दीर्घव्यापारस्वीकारात् इति तन्न सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयतीति न्यायात् वाच्यार्थ बोधानन्तरं व्यंग्यार्थं शक्तेरप्रवृत्तेः।[४४]

तीसरे प्रकार के भावक 'मत्सरी' कोटि के हैं। आशाधरभट्ट को 'मत्सरी भावक' भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि मत्सरी भावक पूर्वाग्रही होते हैं, जबकि आशाधरभट्ट के पूर्वाग्रही होने का कोई प्रमाण इनकी तीनों कृतियों के अनुशीलन से उपलब्ध नहीं होता। यथावसर वैयाकरणों के सिद्धान्तों को भी उन्होंने आदर-पूर्वक ग्रहण किया हैं।

तत्र चत्वारिप्रवृतिनिमित्तानिगवादिषु जातिः शुक्लादिषु गुणः पाचकादिषु क्रिया, डित्थादिषु संज्ञा चेति। अतएव चतुष्टयी शब्दानां प्रवृतिरिदि-भाष्यकारः।[४५]

आशाधरभट्ट दुराग्रही बिल्कुल न थे। उनके द्वारा किसी भी पक्ष के खण्डन या मण्डन का आधार युक्ति एवं तर्क थे। साथ ही उन्होंने साहित्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का समर्थन भी युक्ति के आधार पर ही किया है। कहीं-कहीं पर वे पर पक्ष का खण्डन परिहास करते हुए भी करते हैं। नैयायिकों के द्वारा 'संकेत' को ही 'व्यापार' मानने में लाघव की युक्ति पर परिहास करते हुए वे कहते हैं कि सर्वत्र लाघव की अपेक्षित नहीं होता। अन्यथा बालक को जन्म देने में स्त्री और पुरुष दोनों के योग की अपेक्षा केवल एक के ही समर्थ होने में लाघव हो सकता था—

ऐकेनानेकसाध्योऽर्थो लाघवाद्यदि साध्यते।
स्त्रीपुंसयोरन्यतरल्लाघवाच्छिशुकृन्न किम्॥[४६]

---

४४. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, पृ० ६, १९५७ वाराणसी।
४५. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अत्तिधानिरूपण, का० ८
४६. वही, का० २

अतः निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि आशाधरभट्ट अरोचकी, सतृणा-व्यवहारी या मत्सरी कोटि के भावक त होकर एक तत्वाभिनिवेशी आलोचक थे, जिसकी पुष्टि कोविदानन्द की उनकी स्वयं की उक्ति से होती है—

प्राचां वाचां विचारेण शब्दव्यापारनिर्णयम् ।
करोमि कोविदानन्दं लक्ष्यलक्षणक्षितम् ॥[४७]

कादम्बिनी नामक स्वोपज्ञ टीका में इसकी व्याख्या निम्न शब्दों से की गई है—प्राचामिति । प्राचाम=वृतिवार्तिकादीनाम् । लक्ष्यलक्षणलक्षितम् लक्ष्याणि-उदाहरणानि, लक्षणानि=स्वरूपकथनानि, तैर्लक्षितं संयुक्तमित्यर्थः ।

शब्दशवित विषयक अपने पूर्व ग्रन्थ कोविानन्द के रहते हुए भी उसी विषय पर त्रिवेणिका नामक दूसरे ग्रन्थ की रचना अपने आप में इस बात का प्रमाण है कि आशाधरभट्ट अपनी पूर्व रचना से स्वयं पूर्ण संतुष्ट नहीं थे। उनको लगा कि इससे भ्रान्तियां उत्पन्न हो सकती हैं। इसलिए उन्होने अपनी तत्वाभि-निवेशिनी बुद्धि का परिचय देते हुए एक नवीन कृति त्रिवेणिका की रचना कर दी, जिसके व्यञ्जना प्रकरण में एक नवीन कृति 'त्रिवेणिका' की रचना कर दी, जिसके व्यञ्जना प्रकरण में एक पद्य में प्रयुक्त विमला बुद्धिशुद्धिदा पदों से उनकी इस भावना की अभिव्यक्ति होती है :—

आशाधरभट्ट की उत्कृष्ट आलोचनात्मक प्रतिभा का निदर्शन कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका का 'व्यञ्जनाप्रकरण' है। जिसमें उन्होंने अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जनाओं के उदाहरणों की व्याख्या करते हुए प्रतीयमान अर्थों की नाना प्रकार से उद्‌भावनाएं की हैं। इनका विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के पञ्चम अध्याय में विस्तार-पूर्वक किया जा चुका है। राजशेखर के शब्दों में परिणाम अर्थात् विवेचन के निष्कर्ष के प्रति वे यथार्थदर्शी थे।

आशाधरभट्ट एक काव्यशास्त्री एवं आलङ्कारिक ही न थे, बल्कि उनके लिए व्याकनण, न्याय, मीमांसा, आयुर्वेद, ज्योतिष, प्रभृति अन्यान्य दुरुह एवं गहन शास्त्र भी हस्तामलकवत् सिद्ध थे। उनमें कारयित्री एवं भावयित्री रूप दोनों प्रतिभाएं विद्यमान थीं। वे 'कवि' भी थे और समालोचक भी, परन्तु उनमें भावकता सर्वोत्कृष्ट थी, तदनन्तर कवित्वशक्ति; क्योंकि उनकी भावकता का प्रति-निधित्व करने वाले कोविदानन्द, त्रिवेणिका और कुवलयानन्दकारिका प्रभृति तीन ग्रन्थ मिलते हैं, जबकि स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थ एक भी नहीं मिलता। अतः वे एक भावक कवि ही थे।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में भावक 'कवि की प्रशंसा में जो पद्य दिया है, वह आशाधरभट्ट के ऊपर पूर्णतः लागू होता है :—

---

४७. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपणम् का० वृत्ति २

प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठाभुविभूरिधा ।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमांदशाम् ।।[४८]

(ग) आशाधरभट्ट की मौलिकता

१. शब्दशक्ति-विषयक मौलिकता :—

शब्दशक्ति विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थकारों में आशाधरभट्ट प्रथम आचार्य हैं,[४९] जिन्होंने वृत्ति सामान्य की परिभाषा दी है । इनका वृत्ति सामान्य का लक्षण भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है :—

वर्तते शब्दोऽर्थे प्रवर्ततेऽनयेति वृत्तिः[५०]

यहाँ ग्रन्थकार की मौलिकता मात्र यह प्रतिष्ठापित करने में है कि शब्द और अर्थ के बीच कोई-न-कोई क्रिया अवश्य कार्य करती है । उसी के लिए 'वृत्ति' पद का प्रयोग आशाधरभट्ट ने किया है। वृत्ति की क्रियाकारिता निश्चित करने में ही ग्रन्थकार की मौलिकता है । इसका सम्यक् विवेचन 'शब्दशक्ति' नामक तृतीय अध्याय में विस्तारपूर्वक किया जा चुका है। यहाँ उसका संकेत मात्र ही अभिप्रेत है ।

'वृत्तियों' के सन्दर्भ में दूसरी बात अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना को, क्रमशः शक्ति, भक्ति, एवं व्यक्ति कहते हुए गङ्गा, यमुना और सरस्वती के रूप में निरूपित करना है :—

शक्ति, भक्ति, व्यक्ति गङ्गा-यमुनगूढ़निर्झराः ।
प्रवाहवन्त्यः सन्त्यत्र यत्तदेषा त्रिवेणिका ।।[५१]

भट्ट जी की मौलिकता का तीसरा बिन्दु शब्द और बाण से उपमानोपमेय भाव स्थापित करने में है, जहाँ साधारण धर्म व्यापारयुक्तता है :—

प्रमाणत्वेन शब्दानां करणत्वं शरादिवत् ।
तेन व्यापार युक्तत्वं नियतं स्वार्थ साधने ।।[५२]
शास्त्रादेर्ज्ञात संकेता लक्ष्यलक्षाः शराः इव ।
सद्योऽर्थकारिणः शब्दास्तेन तस्यापि हेतुता ।।[५३]

---

४८. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, व्यञ्जनाप्रकरणम्। पृ० २५, १९२५ वाराणसी
४९. राजशेखर : काव्यमीमांसा, शिष्यप्रतिभे, चतुर्थोध्याय ।
५०. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, वृत्तिप्रकरण, पृ० १, १९५७, वाराणसी
५१. वहं, पृ० २
५२. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द, अभिधानिरूपणम्, का० २
५३. वही, का० ३

संकेत एवं संकेतहेतुओं के विवेचन में भी ग्रन्थकार की मौलिकता ही मुखरित होती है :—

अयमर्थ इतश्छब्दाद्बोद्ध इच्छेदृशी तु या ।
प्रवर्तकोपदिष्टा सा संकेत इति मण्यते ।।[५४]

आशाधरभट्ट में कुछ नवीन कहने की अपूर्व क्षमता है। वे पिष्टपेषण नहीं करते। शक्ति-ग्राहकों को 'संकेतस्मारक' कहना इसका प्रमाण माना जा सकता है।[५५]

अन्ततोगत्वा 'अभिधा-विवेचन' में मम्मट प्रभृति प्रचण्ड काव्यशास्त्री के द्वारा संकेत को व्यक्ति की जाति, गुण, क्रिया आदि उपाधियों में मानने वाले सिद्धान्त के खण्डन में ग्रन्थकार की मौलिकता ही परिलक्षित होती है, जब वे क्रियार्थानुपयोगत: कारण बताकर 'व्यक्ति' ही में संकेत मानने की भावना को प्रश्रय देते हुए कहते हैं :—

व्यक्तिष्वेव तु संकेतो जात्याद्यास्तदुपाधयः ।
न तु तेष्वेव संकेतः क्रियार्थानुपयोगतः ।।[५६]

अभिधा में रूढ़ि की समायोजना आशाधरभट्ट की अपनी सूझ है। यहीं सम्बन्ध को ही भक्ति मानने वाले तार्किकों के मत के निरसन में हम इनकी मौलिकता का दर्शन करते हैं :

सम्बन्धजाति वाक्यादौ विचित्रा त्रिपुरद्विषि ।
क्वचिद् रूढौ क्वचिद् योगे मिश्रामि (वि) श्रान्तिरिष्यते ।।[५७]

लक्षणा अर्थ की चारु, चारुतर एवं चारुतम् रूप त्रिविध विवेचना भी आशाधरभट्ट की मौलिक उद्भावना है, जो क्रमशः अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना जन्य है।[५८] लक्षणा नामक शब्द की दूसरी वृत्ति के निरूपण में भी आशाधरभट्ट ने कुछ मौलिक उद्भावनाएं की हैं।

लक्षणा प्रयोजकों का विवेचन एवं समानाधिकरणविषया और व्यधिकरण-विषया लक्षणा को विभाजित करना आशाधरभट्ट की अपनी मौलिक सूझ है। इसके अतिरिक्त लक्षणा के भेद-प्रभेदों को उदाहृद करने में प्राय: स्वरचित ही उदाहरण दिए गए हैं। इसका पुष्कल प्रमाण 'गङ्गायां घोष:' के स्थान पर ऊङ्कारलिङ्गं रेवायाम्' का प्रयोग है। इसके अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय की प्राय: सभी विधाओं से इन्होंने उदाहरण लिए हैं। 'रवौ नीलं बुधे पीतम्' तथा 'मातृ-

५४. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द; अभिधा निरूपणम् का० ९
५५. वही, का० २२ पूर्वार्द्ध
५६, वही, का० ३१
५७. वही, का० ५०
५८. आशाधरभट्ट : त्रिवेणिका, वृत्तिप्रकरणम्, पृ० ३. (शुक्ल संस्करण)

विद्धो गणेश्वरः' ऐसे ही उदाहरण हैं, जिनमें प्रथम दो ज्योतिष से लिए गए हैं।

लक्षणा को रूपक और अतिशयोक्ति अलङ्कारों से सम्बन्धित बताने में भी ग्रन्थकार की मौलिकता की ही प्रतीति होती है :—

रूपकादिषु सारोपा यत्र शब्दावुभावपि।
रूपकातिशयोक्त्यादौ पदारोप्यपदश्रुतेः ॥[५६]
सादृश्यश्लथताभावः सारोपायाः फलं मतम्।
सादृश्यातिशयोऽन्यस्या विषयस्तुति हेतवे ॥[६०]

शब्द की तीसरी व्यञ्जना नामक वृत्ति के विवेचन के प्रसङ्ग में उसे अस्त्रमंत्रित बाण की वृत्ति के समान कहना इनकी अपनी नूतन उद्भावना है :

अस्त्र मंत्रित बाणस्यवृत्तिवद् विविधार्थकृत्।
एषाशब्दगतैवार्थानाश्रित्यापि प्रवर्तते ॥[६१]

इसके अतिरिक्त अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना की सीमाओं का विवेचन मौलिक रूप से दिया गया है, जिसका सम्यक् निरूपण सम्बन्धित अध्यायों में किया जा चुका है। शब्दशक्ति-विषयक कोविदानन्द एवं त्रिवेणिका के अतिरिक्त आशाधरभट्ट का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ कुवलयानन्दकारिका है, जिस पर ग्रन्थकार ने स्वयं अलङ्कारदीपिका नामक टीका लिखी है। यह भी पूर्व दोनों ग्रन्थों के समान ही तीन प्रकरणों में विभक्त है। इसके अन्तिम दोनों उद्दिष्टालङ्कार और परिशेषालङ्कार प्रकरणों की रचना मौलिक है। इन दोनों प्रकरणों की क्रमशः २१ और ८ कारिकाएं ग्रन्थकार की स्वयं की रचना है। ये सब लक्ष्यलक्षणात्मक रूप में ही लिखी गई हैं। अलङ्कारदीपिका नामक संस्कृत टीका का उद्देश्य ग्रन्थ में विवेच्य अलङ्कारों के स्वरूप को स्पष्ट करना ही है और आशाधरभट्ट इसमें सफल हुए है।

(२) अलङ्कार-विषयक मौलिकता

क लक्ष्यलक्षणप्रकरणगत—

आशाधरभट्ट ने 'अलङ्काररीपिका' नाम की व्याख्या 'कुवलयानन्दकारिका' पर लिखी है। यह व्याख्या इन्होंने मूल के अनुसार की है। मूल का अर्थ स्पष्ट हो जाय—इतना ही उनका उद्देश्य रहा है। अप्पयदीक्षित की कारिका पर 'कुवलयानन्द' नाम की जो वृत्ति है वह जितनी प्रौढ़ है, उसमें जैसे पक्ष और विपक्ष को प्रस्तुत करके अपने सिद्धान्त की स्थापना का प्रयास किया गया है, वह इसमें नहीं है। कोमल मत्ति वाले बालकों के लिए कुवलयानन्द वृत्ति

---

५६. आशाधरभट्ट : कोविदानन्द : लक्षणानिरूपणम्, का० २८
६०. वही, का० २६
६१. वही, व्यञ्जनानिरुपणम्, का० २

दुरुह है। इसलिए भट्ट जी ने ऐसी व्याख्या लिखी है जो बालकों के लिए बोध-गम्य हो सके। अतः व्याख्या से अलङ्कार पर प्रौढ़ पाण्डित्य उपलब्ध नहीं होता और न तर्क-वितर्क करने में प्रौढ़। नई-नई जिज्ञासा रखने वाले छात्रों को इससे संतोष होता है। इसमें सर्वप्रथम जो प्रमाद दिखाई पड़ता है, वह है मंगलाचरण के अवसर पर संगति बताते हुए लिखा गया दीपिका का आदिम अंश, जिसमें भट्ट ने बताया है कि अप्पयदीक्षित नामक कवि सहृदयों के आनन्द के लिए अर्थालङ्कारों की, उदाहरण और लक्षण से युक्त कारिकाओं का निर्माण करके इसके व्याख्यान-स्वरूप 'कुवलयानन्द' नाम का ग्रन्थ लिखा :—

अथ तत्र भगवानप्पयदीक्षित नामा कविः
सहृदयहृदयानन्दार्थमर्थालङ्काराणां लक्ष्यलक्षणोपेताः कारिकाः
कारिकाश्च तत उद्धृत्य क्रमेण लिखितवान्।
तत्र निःप्रत्यूहार्थं मंगलमाचरति।[६२]

ये लिखते हैं—**एवं श्रूयते अप्पयदीक्षितो नाम द्राविडः पण्डितो रङ्गराज-सूनुः स पितुराज्ञया वेङ्कटाद्रिराजमुपजगाम। स च राज्ञाभ्यर्थितश्चन्द्रालोकं नाम ग्रन्थं चकार। राजा वर्षासनं दत्वा प्रहितोऽलङ्कारविवेचनाय प्राथितश्चेमाः कारिकाः कुवलयानन्दं च कृत्वा वेङ्कटदेशं प्रसादयामासेऽति।**[६३]

इसमें स्पष्ट लिखा गया है कि पिता की आज्ञा से वे वेङ्कटराज के पास गए और उनके निवेदन के अनुसार 'चन्द्रालोक' नाम का ग्रन्थ लिखा। तथा पुनः राजा से प्राथित होकर वे अलङ्कार के विवेचन के लिए कारिका और कुवलयानन्द का निर्माण करके व्यङ्कटेश को प्रसन्न किया। यह कथन भी ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। आशाधरभट्ट ने सुनी-सुनाई बातें लिखी हैं जो कि 'एवं श्रूयते' शब्द से प्रकट होता है। कुवलयानन्द की पुस्तिका में लिखा हुआ है—

अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः।
नियोगाद्वेङ्कटपते निरूपाधिकृपानिधेः॥[६४]

चन्द्रालोको विजयतां शरदागम संभवः।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूदयम्॥[६५]

---

६२. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, लक्ष्यलक्षणप्रकरणम्, पृ० १, वृत्ति
६३. वही, पृ० ८६, वृत्ति
६४. अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द, का० १७१
६५. वही, का० १७२ (उपसंहारात्मक कारिकाएं)

अर्थात् अप्पयदीक्षित ने अकारण कारुणिक वेङ्कटपति के आदेश से इस कुवलयानन्द की रचना की। शरदागमसम्भव अर्थात् जिस पर शरदागम टीका लिखी गई है, वह चन्द्रालोक सर्वोत्कृष्ट है, जिसके कारण यह कुवलयानन्द सुन्दर बन सका।

इससे स्पष्ट है कि अप्पयदीक्षित ने प्रद्योतनाचार्य की टीका शरदागम से युक्त जयदेव के चन्द्रालोक को इस ग्रन्थ का आधार बनाया। यहाँ यह कहना असंगत दिखाई पड़ता है कि अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द की कारिकाएं स्वयं लिखी हैं। कुवलयानन्द की कारिकाएं अधिकतर जयदेव के चन्द्रालोक से उद्धृत की गई हैं। अप्पयदीक्षित ने स्वयं लिखा है कि चन्द्रालोक में जिन अलङ्कारों के लक्ष्यलक्षण श्लोक हैं—हमने कुवलयानन्द में उन्हीं पद्यों को रखा है। अन्य अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरणों को हमने नया बनाकर लिखा है।

येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षण श्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवाविरच्यन्ते॥[६६]

इसके आगे जो पंक्ति है—'कारिकाश्च तत् उद्धृत्य क्रमेण लिखितवान्।' इसका अर्थ है कि कारिकाओं को वहीं से उद्धृत करके क्रम से लिखा है। इसकी संगति भी नहीं बैठती है। जब अप्पयदीक्षित ने कारिकाएं स्वयं बनायीं तो उद्धृत करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि द्वितीय पंक्ति का अर्थ यह करें कि कारिकाएं ततः अर्थात् चन्द्रालोक से उद्धृत करके यहाँ क्रम से उद्धृत की गयीं हैं, तो पूर्व वाक्य के अर्थ का सामन्जस्य नहीं बैठता। क्योंकि वहाँ अप्पयदीक्षित ने स्वयं कारिकाएं लिखीं—ऐसा निर्देश है।

कुवलयानन्द में दो मंगल श्लोक हैं—एक मंगलश्लोक कारिका की, और दूसरा कुवलयानन्दवृत्ति की, निर्विघ्न् परिसमाप्ति के लिए है। कुवलयानन्द कारिका में जब कारिका ही अप्पयदीक्षित के ग्रन्थ कुवलयानन्द से उद्धृत की गई हैं तो एक ही मङ्गलश्लोक रखना उचित था, परन्तु इन्होंने दोनों मंगलश्लोकों को यहाँ उद्धृत किया है और बताया है कि मंगलाचरण ग्रन्थकृत के लिए है। दूसरा अध्येताओं की सिद्धि के लिए है। यह भी विचारपूर्ण नहीं दीखता। अप्पय ने कारिका के साथ एक मङ्गलश्लोक लिखा और कुवलयानन्द के साथ दूसरा। यदि दूसरा मङ्गलश्लोक अध्येता एवं उसकी प्रयत्नसिद्धि के लिए होता तो उसमें 'वः' या 'युष्मान्' आदि शब्द का प्रयोग होता जैसाकि 'ध्वन्यालोक' के इस श्लोक में है :—

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छाययासितेन्दवः।
त्रायन्ताम् वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदोनखाः॥[६७]

---

६६. अप्पयदीक्षित, कुवलयानन्द, का० ५

६७. आनन्दवर्धन, : ध्वन्यालोक, १।१, (प्रथम उद्योत, का० १)

मङ्गललोक की व्याख्या में कोई नई बात नही है, केवल 'प्राञ्जल' शब्द के प्रयोग के नयापन दिखाई पड़ता है। इसके दो अर्थ सामान्यतः, प्रसिद्ध हैं—प्राचीन और पूजक; क्योंकि 'प्र' पूर्वक 'अञ्च' धातु के 'अन्चूमतिपूजनयोः[६८] में दो अर्थ बताए गए—गति और पूजा। 'क्विन्' प्रत्यय कर्ता में होता है इसीलिए उसके प्राचीन और पूजक ये दो अर्थ निकलते हैं। इस श्लोक में उसका अर्थ है—पूज्य। इस अर्थ को निकालने के लिए भट्ट जी ने इसकी व्युत्पत्ति दी है—'प्रकर्षेण अञ्चतः पूजाविषयी भवतः इति प्राञ्चौ। **अर्हादीनां पूजाविषयी भवन्मर्थः इति धातु वृत्तिकारः।**[६९] इसी श्लोक मे 'स्तुमः' पद का प्रयोग है, जिसका अर्थ हैं स्तुति कुर्मः वर्णयामः।' फिर यह श्लोक नमस्कारात्मक मंगल कैसे हुआ? थह जो जिज्ञासा उठती है—उसका समाधान भट्ट जी ने दिया है। वे कहते हैं—वर्णन का अर्थ है—'वर्ण्यमान का उत्कर्ष कथन और अपना अपकर्ष कथन। नम् धातु का शब्दार्थ भी यही होता है। इसीलिए कहा गया है **'स्वापकृष्टबोधक वर्ण्यमानोत्कर्षसूचक-व्यापारो नम धात्वर्थः।'**[७०] इस तरह यह वर्णन नमस्कारात्मक मंगल में परिणत होता है।

अप्पयदीक्षित ने मंगलाचरण किया है, इसलिए क्रियापद, एकवचन, उत्तमपुरुष में होना चाहिए; परन्तु यहाँ 'स्तुमः' में उत्तमपुरुष बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। इसका कारण भट्ट जी ने यह बताया है कि पाणिनि का सूत्र 'अस्मदो द्वयश्च'[७१] है। वह सूत्र अस्मत् शब्द से एकत्व और द्वित्व की विवक्षा में भी बहुवचन कर देता है। इसीलिए यहाँ कर्तृपद 'वयं' है और उसके अनुसार क्रिया का पद 'स्तुमः' का प्रयोग उचित है। सिद्धान्तकौमुदी की 'दधिमथी' टीका में यह बताया गया है कि यह सूत्र अस्मद् शब्द से एकत्व विवक्षा में बहुवचन करता है तो करे; किन्तु अस्मद् शब्द तो एकत्व का ही बोध कराता है। इसीलिए क्रियापद एकवचन ही होगा और जहाँ एक व्यक्ति अपने लिए 'वयम्' का प्रयोग करेगा—वहाँ वाक्यरचना होगी—'वयं ब्रवीमि" वयं ब्रूमः' नहीं होगा।

आशाधरभट्ट ने इस मत का खण्डन किया है—जैसाकि अन्य वैयाकरण करते हैं। उनका कथन है कि अस्मत् शब्द जब बहुत्व का वाची हो गया तब क्रिया से भी बहुवचन ही होगा। भाषाविज्ञान के अनुसार व्यक्ति जब अपने आप में विस्तार का अनुभव करता है तो उसमें बहुत्व का समावेश हो जाता है। इसीलिए आधुनिक भाषाओं में 'मैं' की जगह हम का प्रयोग होता है और ऐसे प्रयोग क्रियापद

---

६८. पाणिनि : अष्टाध्यायी

६९. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, लक्ष्यलक्षणप्रकरणम्, का० १ वृत्ति

७०. नागेशभट्ट : परिभाषेन्दुशेखर, मङ्गललोक पर विजया टीका

७१. पाणिनि : अष्टाध्यायी, १।२।५९

बहुवचन में ही आते हैं। भट्ट जी ने 'शिवदत्ताधिमय' जैसे वैयाकरणों के मत का खण्डन भी यहाँ संक्षेप में कर दिया है। इसीलिए उन्होंने लिखा है—**अस्मदो द्वयोश्च इति कर्तृ बहुवचनम् तदनुसारेण क्रियायाश्चेति।**[७२]

यहाँ **क्रियायाश्च** का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि ऐसे स्थलों में कर्ता से बहुवचन और क्रिया से एकवचन मानने वाले वैयाकरणों का मत गलत है।

दूसरे मङ्गल श्लोक की व्याख्या में कई नई बातें बताई गई हैं। प्रथम तो यह कि अमरी अर्थात् देवियाँ अपने केशपाश रूपी भ्रमरी से मुखरित गौरीचरण पङ्कज विघ्न को दूर करें। इस कथन में 'अमरी' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया? क्योंकि देवता भी तो गौरी के चरण-कमल को प्रणाम करते हैं। इसका उत्तर यह दिया गया है कि देवता प्रणाम करते समय दूर रहते होंगे। महिला होने के कारण गौरी के चरण-कमलों पर उनके बाल भ्रमर की तरह नहीं गूँजते होंगे। इसीलिए अमरी का प्रयोग उचित है।

दूसरी नवीन बात जो इसमें बतायी गई है, वह है अलङ्कारनिरूपण। इस पद्य में रूपक है, और न उपमा, क्योंकि 'चरणं पङ्कजमिव' इस प्रकार का समास यहाँ नहीं माना जा सकता : क्योंकि प्रथम पंक्ति में साधारण धर्म का प्रयोग कर दिया गया है। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इस सूत्र से वहीं समास होता है, जहाँ सामान्य धर्म का प्रयोग नहीं रहता। यहाँ रूपक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि रूपक में उपमान और उपमेय दोनों का स्वतन्त्र रूप में क्रिया में अन्वय हो जाता है। जैसे—'सुन्दरं मुखं पङ्कजं पश्य' यहां पङ्कज और मुख' दोनों का कर्म कारक के रूप में दर्शन क्रिया में अन्वय हो सकता है, परन्तु '**सुन्दरेण मुखकमलेन वदति**' में उपमान और उपमेय स्वतन्त्र रूप से 'वदन्' क्रिया में करण कारक के रूप में अन्वित होने की योग्यता नहीं रखते, क्योंकि मुख से तो बोला जा सकता है, कमल से नहीं। अतः कमल का मुख के साथ अभेदारोप यहाँ उसका क्रिया में अन्वय का साधक बनता है। प्रस्तुत पद्य में परिणामालङ्कार है, क्योंकि पंकज स्वयं 'दुरित' को दूर नहीं कर सकता। वह तो गौरी का चरण बनकर ही 'दुरित' को दूर करने में सहायक होता है।

तीसरी नई बात यह है कि इस पद्य में पङ्कज पद से स्वर्ग-गङ्गा का पङ्कज लेना चाहिए, साधारण पङ्कज नहीं क्योंकि स्वर्ग-गङ्गा में स्नान करते समय देवों के केश का भ्रमर के साथ सम्बन्ध हो सकता है। साधारण पङ्कज का सम्बन्ध तो साधारण भ्रमरी से ही सम्भव है।

आशाधरभट्ट ने इसका अर्थ किया है कि देवियों की वेणियों पर सुगन्धि के लोभ से बैठी हुई भ्रमरी गौरी चरण कमल को मुखरित करती है। साधारणतया

---

७२. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, लक्ष्यलक्षणप्रकरणम्, का० १,२ वृत्ति

इसका अर्थ यह किया जाता रहा है कि जैसाकि भोलाशङ्कर व्यास ने भी किया है। देवताओं की रमणियों के केशपाश रूपी भंवरियों के द्वारा गुन्जायमान्देवी पार्वती के चरण-कमल पाप का निवारण करे।[७३] इस अर्थ में जो एक बड़ी त्रुटि थी उसको भट्ट जी मे निकाल दिया। काले होने का कारण यदि भ्रमरी के कबरीभार को भ्रमरी मानै तो उसके द्वारा गौरी चरण पङ्कज मुखरित नहीं हो सकता। भ्रमरी मुखरित कर सकती है—कबरीभार नहीं। इसलिए आशाधरभट्ट ने इसका यह अर्थ किया है कि :—

अमरी की कबरी पर सुगन्धि के लोभ से भ्रमरियां बैठी रहती हैं और गौरी को प्रणाम करते समय उन भ्रमरियी से उनका चरण-कमल मुखरित हो उठता है—ऐसा चरण-कमल 'दुरित' को दूर करे— इस अर्थ में चरण-कमल का मुखरी-करण सम्भव हो जाता है।

यथा अमरीति :—

अमरीणां देवीनां कबरीभारेषु वेणीगुम्फेषु या क्रमर्यः सौरभलोभादवस्थितास्ताभिमुखरीकृतं शब्दायमानं कृतं। योग्यवत्वात्सीलिङ्ग निर्देशः पुंसा हि दूरे स्थितिर्युवतेति। गौरीचरण पङ्कजं गौर्याः। पार्वत्याश्चरणमेवं पङ्कजं पादपद्मम्। चरणत्वेन परिणतं पद्ममित्यर्थः। दुरितमन्तरायं दूरी करोतु। हरत्वित्यर्थ,। अत्रोत्तर पदार्थस्य पङ्कजस्य चरणत्वेन परिणत्यां दुरितदूरीकरणोप योगात्परिणामालङ्कारो न तु रूपकमुपमा वा पङ्कजस्य प्राधान्यायोगात्साधारणधर्म ायोगावेति संक्षेपः। अत्र पङ्कजं स्वर्गङ्गासंबन्धि बोध्यम्। तस्य जलक्रीडागति देवी केशस्थ भ्रमरी सम्बन्धोपफूलेः अन्यस्य भ्रमरी मात्र संवन्धो घटते देवीकेशगतत्वं तु नैव।[७४]

कुवलयानन्दकारिका के लक्ष्यलक्षणप्रकरण की १७वीं कारिका उपसंहार की कारिका है। इसमें बताया गया है कि प्राचीन (भामह आदि) तथा आधुनिक (जयदेव) आचार्यों के मतों पर समीक्षा-दृष्टि से विचार करके मैं (अप्पयदीक्षित) ने १०० अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

१६९ कारिकाओं में १०० अलङ्कार निरूपित हुए हैं। भेदों के निरूपण को आपने अलग संख्या नहीं दी है। यद्यपि उनके नाम में विशेषण लगाए गए हैं। १०० अलङ्कार इस प्रकार हैं—

१. उपमा, २. अन्नवय, ३. उपमेयोपमा, ४. प्रतीप, ५. रूपक, ६. परिणाम, ७. उल्लेख, ८, स्मृति (मान्) ९. भ्रान्ति (मान्), १०. सन्देह, ११. अपह्नुति,

---

७३. अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द, अलङ्कारसुरभि व्याख्या, पृ० १

७४. अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द, अलङ्कारसुरभिव्याख्या, का० २ वृत्ति।

१२. उत्प्रेक्षा, १३. अतिशयोक्ति, १४. तुल्ययोगिता, १५. दीपक, १६. आवृति-दीपक, १७. प्रतिवस्तूपमा, १८. दृष्टान्त, १९. निदर्शना, २०. व्यतिरेक, २१. सहोक्ति, २२. विनोक्ति, २३. समासोक्ति, २४. परिकर, २५. परिकरांकुर, २६. श्लेष, २७. अप्रस्तुत प्रशंसा, २८. प्रस्तुतांकुर, २९. पर्यायोक्त, ३० व्याजस्तुति ३१. व्याजनिन्दा, २२ आक्षेप, ३३. विरोधाभास, ३४. विभावना, ३५. विशेषोक्ति, ३६. असम्भव ३७ असंगति, ३८. विषम, ३९. सम, ४०. विचित्र, ४१. अधिक, ४२. अल्प, ४३. अन्योन्य, ४५. विशेष, ४५. व्याघात, ४६. कारणमाला, ४७. एकावली, ४८. मालादीपक, ४९. सार, ५०. यथासंख्य, ५१. पर्याय, ५२. परिवृति, ५३. परिसंख्यां, ५४. विकल्प, ५५. समुच्चय, ५६. कारकदीपक, ५७. समाधि, ५८. प्रत्यनीक, ५९. अर्थापत्यलङ्कार, ६०. काव्यलिङ्ग, ६१. अर्थान्तरन्यास, ६२. विकस्वर, ६३. प्रौढोक्ति, ६४. संभावना, ६५. विम्याध्यवसिति, ६६. ललित, ६७. प्रहर्षण, ६८. विषादन, ६९. उल्लास, ७०. अवज्ञा, ७१. अनुज्ञ ७२. लेश, ७३. मुद्रा, ७४. रत्नावली, ७५. तद्गुण, ७६. पूर्वरूप, ७७. अतद्गुण, ७८. अनुगुण, ७९. मीलित, ८०. सामान्य ८१. उन्मीलित, ८२. विशेष, ८३. उत्तर, ८४. सूक्ष्म, ८५. विहित, ८६. व्योजोक्ति, ८७. गूढोक्ति, ८८. विवृतोक्ति, ८९. युक्ति, ९०. लोकोक्ति, ९१. छेकोक्ति, ९२. वक्रोक्ति, ९३. स्वभावोक्ति, ९४. भाविक, ९५. उदात, ९६. अत्युक्ति, ९७. निरुक्ति, ९८. प्रतिषेध, ९९. विधि, १००. हेतु।

इन १०० अलङ्कारों (अर्थालङ्कार) का निरूपण १६९ कारिकाओं में हुआ है। अप्पय के कुवलयानन्द का उपजीव्य ग्रन्थ 'शरदागम' टीका सहित 'चन्द्रालोक' है। चन्द्रालोक पीयूषवर्ष जयदेव की कृति है। ये अलङ्कारवादी थे। इसलिए काव्य के लक्षण में अलङ्कार की कहीं-कहीं छूट देने वाले मम्मट का इन्होंने 'अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थवलंकृती। असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती' लिखकर उपहास किया है। अप्पय ने स्वयं लिखा है :—

येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते॥

कुवलयानन्द तथा चन्द्रालोक के लक्ष्यलक्षण को प्रायः समान देखकर इस कथन की सत्यता प्रमाणित होती है। इतना ही नहीं कुवलयानन्द के अन्तिम श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—

चन्द्रालोको विजयतां शरदागम संभवः।
हृदयः कुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूदयम्॥

इससे प्रतीत होता है कि कुवलयानन्द की रचना पर प्रद्योतनाचार्य लिखित चन्द्रालोक की टीका शरदागम का ऋण भी उदार लेखक ने स्वीकार किया है।

परन्तु आशाधरभट्ट ने अपनी कुवलयानन्दकारिका में 'येषां चन्द्रालोके' तथा चन्द्रालोको विजयताम् इन दोनों श्लोकों का समावेश न करके लिखा है—
एवं श्रूयते—अप्पय्यदीक्षितो नाम द्राविडः पण्डितो रङ्गराजसूनुः। स पितुराज्ञया वेङ्कटाद्रिराजमुपजगाम। स च राज्ञाभ्यर्थितश्चन्द्रालोकं नाम ग्रन्थं चकार। राज्ञा वर्षासनं दत्वा प्रहितोऽलङ्कारविवेचनाय प्रार्थितश्चेमाः कारिकाः कुवलयानन्दं च कृत्वा वेङ्कटेशं प्रसादयामासेति।

धरणीधरगुरुचरणशरणीकरणात्कुवलयानन्दे।
स्फूर्तिर्मम सानुबन्धा इति सूचयितुं प्रयत्नोऽयम्॥

उसके द्वारा यह सिद्ध होता हैं कि द्राविड़ पण्डित अप्पयदीक्षित अपने पिता रङ्गराज की आज्ञा से वेंकटाद्रिराज के पास गये। राजा के कथनानुसार ही उन्होंने चन्द्रालोक ग्रन्थ की रचना की। राजा ने उन्हें वर्षभर के लिए जीविका के सारे साधन देकर भेजा 'वर्षासनं दत्वा प्रहितः' में 'असन' का अर्थ निर्वाह सामग्री की करना चाहिए। क्योंकि 'असुक्षेपणे' से करण में ल्युट् प्रत्यय से निष्पन्न असनं शब्द का वही अर्थ सङ्गत लगता है। और राजा ने उनसे प्रार्थना की कि वे अलङ्कार का विवेचन करें। उन्होंने ये कारिकायें और कुवखयानन्द (वृति) लिखकर वेंकटेश को प्रसन्न किया। इस कथन में तथ्यता का अभाव है। ऐसा लगता है कि उन्होंने सुनी सुनाई बात यहाँ लिखी है। जैसा कि 'एवं श्रूयते' से प्रतीत होता है। ऐतिहासिक तथ्य तो यह है कि सम्पूर्ण अलङ्कारशास्त्रीय तत्वों—काव्यलक्षण-दोष-गुण अलङ्कार आदि पर सरल शैली में प्रकाश डालने वाला 'चन्द्रालोक' पीयूषवर्ष जयदेव ने लिखा था। उसके पञ्चम मयूख की कारिकाओं में अपने उद्भावित अलङ्कारों को मिलाकर उसी शैली में अप्पय ने कारिकाएं लिखीं तथा उस ग्रन्थ पर पाण्डित्यपूर्ण विवेचन के लिए 'कुवलयानन्द' नामक वृत्ति की रचना की। उन्होंने चन्द्रालोक पर लिखित 'शरदागम' व्याख्या से भी लाभ उठाया। अतः आशाधरभट्ट का 'एवं श्रूयते... इत्यादि वाक्यों में प्रतिपादित अर्थ सर्वांश में सत्य नहीं है। उन्होंने कुवलयानन्द वृत्ति की रचना नये सिरे से की और यह वृत्ति वेंकटेश की आज्ञा से लिखी गयी, यह सत्य है। चन्द्रालोक में वर्णित अलङ्कारों के भेद-प्रभेदों तथा अवर्णित अलङ्कारों के लक्ष्यलक्षण श्लोक भी उन्होंने बनाये। इसमें सन्देह नहीं।

कुवलयानन्द में दीक्षित ने चन्द्रालोक में वर्णित कुछ अलङ्कारों के नए भेदों की कल्पना की है। जैसे लुप्तोपमा के आठ भेद[७५] तथा रूपक के ६

---

७५. येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते॥
—अप्पयदीक्षित; कुवलयानन्द, पृ० २

भेद[७६] आदि सत्रह नए अलङ्कारों—१. प्रस्तुतांकुर, २. अल्प, ३. कारकदीपक, ४. मिथ्याध्यवसिति, ५. ललित, ६. अनुज्ञा, ७. मुद्रा, ८. रत्नावली, ९. विशेषक, १० गूढोक्ति, ११. विवृतोक्ति, १२. युक्ति, १३. लोकोक्ति, १४. छेकोक्ति, १५. निरुक्ति, १६. प्रतिषेध और १७. विधि, का भी निरूपण किया है।[७६]

परिशिष्ट में दीक्षित ने ७ रसवदादि अलङ्कारों तथा १५ प्रमाणालङ्कारों तथा दो नरसिंहाकृति अलङ्कारों (संसृष्टि और सङ्कर) का वर्णन भी किया है। इस तरह अप्पय ने १२४ अलङ्कारों का उल्लेख किया है।[७७]

रसवदाद्यलङ्कारों का लक्षण दीक्षित ने गद्य में दिया था तथा उदाहरणों को काव्य से उद्धृत किया है।

आशाधरभट्ट ने इनका भी निरूपण नये लक्ष्यलक्षण श्लोक बनाकर उसी शैली में किया है। अर्थात् श्लोक के पूर्वार्ध में लक्षण और उतरार्द्ध में उदाहरण दिया है।

छोटे छन्द अनुष्टुप् के उत्तरार्द्ध देने से यह दोष आ गया है कि रस के लिए आवश्यक सारे उपादान विभावानुभाव और संचारी का समावेश नहीं हो सका है। रसवदादि ७ अलङ्कारों और १५ प्रमाणालङ्कारों के निरूपण के प्रकरण को 'उद्दिष्टालङ्कार प्रकरण' कहा है। इनका निरूपण करना भी ग्रन्थकार का उद्देश्य था। इसलिए इस प्रकरण को यह नाम दिया गया है। अप्पय ने शास्त्रान्तर सापेक्ष होने के कारण पद्य में उसका ठीक-ठीक विवेचन होना कठिन समझकर गद्य में लक्षण लिखा तथा विभावानुभावादि की सामग्री दिखाने के लिए बड़े छन्दों का आश्रयण आवश्यक समझा। इसलिए अनुष्टुप छन्द में प्रकान्त शैली को नहीं अपनाया होगा। परन्तु भट्ट जी ने बालकों को उसकी यथाकथञ्चित ज्ञान करने के लिए लक्ष्यलक्षण श्लोक का निर्माण पूर्वशैली में ही किया है।[७८]

ख. अमु कुवलयानन्दमकरोदप्पयदीक्षितः।
नियोगाद् वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः॥
—अप्पयदीक्षित : कुवलयानन्द, पृ० ३०४, अलङ्कारसुरभि टीका सहित

ग. चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसम्भवः।
हृदयकुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूयम्॥
—अप्पयदीक्षितः कुवलयानन्द, पृ० ३०४, (अलङ्कारसुरभि टीका)

७६. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।५-७
भिन्नालुप्तोपमाष्टधा......

७७. आशाधरभट्ट, कुवलयानन्दकारिका, १।१५-१८

७८. वही, १।७० वृत्ति, पृ० ८६

(ख) उद्दिष्टालङ्कार प्रकरणगत मौलिकता—

उद्दिष्टालङ्कार प्रकरण में विचारणी है कि क्या रसवदादि अलङ्कार कोटि में आते हैं और अप्पय इन्हें अलंकार नहीं मानते थे? इसीलिए उन्होंने 'विदुर्बुधाः'[७९] लिखा है। 'इत्थं शतमलंकाराः[८०] में भी इन सातों की गिनती नहीं है।

अलङ्कार को अलङ्कार्य से भिन्न होना चाहिए। रसादि अलङ्कार्य है। वे प्रधान तंग्य तथा अङ्गी माने जाते हैं। अलङ्कार इनके अङ्ग है, शोभा वृद्धि में सहायक हैं। जब ये रस आदि अप्रधान होकर वैसे उत्तम नहीं रहते हैं तब ये गुणीभूत व्यंग्य कहलाते हैं। इसलिए इनको ब्राह्मणश्रमणन्याय से भी अलङ्कार कहना इनके महत्त्व को गिराना है। संन्यासी बनने पर ब्राह्मणत्व नहीं रहने पर भूतपूर्व ब्राह्मणत्व को प्रगट करने वाले ब्राह्मण श्रमण— इस नाम से इनके नाम में (रसवदादि में) रस शब्द के समावेश का समाधान किया जाता है। यह समाधान उचित दृष्टान्त नहीं उपस्थित करता, क्योंकि ब्राह्मण और श्रमण दोनों नाम समान आदर को प्रगट करते हैं, परन्तु रसवदादि अलङ्कार इस नाम में रस और अलङ्कार दोनों का दर्जा समान नहीं है। रसादि को अङ्ग बनने की स्थिति में भी अलङ्कार कहना उचित नहीं हैं। रस अलङ्कार और गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति क्रमशः आत्मा कुण्डलादि हारादि आभूषण और हाथ-पाँव आदि अङ्गों की तरह है। जैसे हाथ-पैर आदि अङ्ग कभी व किसी भी स्थिति में हारादि नही बन सकते, उसी तरह गुणीभूत व्यंग्य को अलङ्कार नहीं माना जा सकता। इस तरह यह मानना चाहिए कि अप्पय ने इनको अलङ्कार नहीं माना है। केवल इनका निरूपण दूसरे कुछ आलंकारिकों के मत से परिचय कराने के लिए किया है। भामह, दण्डी, उद्भट, रुय्यक और विश्वनाथ इन्हें अलङ्कार मानते थे। विश्वनाथ ने इन्हें गुणीभूत व्यंग्य भी माना हैं। मम्मट हेमचन्द्र और जयदेव इन्हें गुणीभूत व्यंग्य ही मानते थे। काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन में इनका निरूपण गुणीभूत व्यंग्यों के सन्दर्भ में ही हुआ है। अलङ्कारप्रकरण में नहीं। जयदेव ने साफ लिखा है :—'अलङ्कारान् इमान् सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः।' यहाँ 'केचिद्' पद यह सूचित करता है कि ये दूसरों के मत से अलङ्कार हैं। मेरे मत से नहीं। 'केचित्' पूजार्थक मानकर 'राकागम' ने इन्हें जयदेव का अभिमत जो सिद्ध किया है वह 'केचित्' शब्द के विपरीत है। 'केचित्' शब्द अन्यार्थक होता है, पूजार्थक नहीं।

अलङ्कार को प्रधान मानने वाले आचार्यों ने इन्हें अलङ्कार की श्रेणी में रखा, परन्तु 'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलं कृती असौ न मन्यते कस्मादनुष्ण-

---

७९. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।१७०-१७२

८०. वही, १।१७०, पृ० ८६

मनलं कृती' के लेखक ने भी इन्हें अलङ्कार नहीं माना। अलङ्कार शब्द और अभिधेयार्थ के द्वारा अलङ्कारर्थ की शोभा बढ़ाता है। रसवदादि स्थलों में अङ्गरस भी व्यञ्जना से प्रगट होते है। अतः इन्हें अलङ्कार कोटि में रखना उचित नहीं है। गुणीभूत व्यङ्ग्यों में ही अपराङ्ग भेद से इन्हें गिनना उचित है।

अतः इन्हें लक्ष्यलक्षण श्लोक बनाकर निरूपण करने का यहाँ अनावश्यक समझकर अप्पय ने प्रयास नहीं किया। आशाधरभट्ट ने टीका में इनके अलङ्कारत्व तथा अलङ्कारत्व विषयक मतभेद की चर्चा न करके इनका निरूपण कारिका बनाकर किया है। इससे सिद्ध होता है कि वे इन्हें अलङ्कार मानते थे। परन्तु इन्होंने जो उदाहरण दिया है, उसका शरीर इतना छोटा है कि उनमें रसाभिव्यक्ति के उपादान-विभावानु भाव, सञ्चारीभावों का समावेश नहीं हो पाया है। अतः उदाहरणों में इनका प्रायः आक्षेप करना पड़ता है। फलतः उदाहरण सदोष हो गये है।

(ग) परिशेषालङ्कार प्रकरणगत मौलिकता —

अलङ्कार दोषों का निरूपण परिशेषालङ्कारप्रकरण में इसलिए नहीं किया गया है कि अर्थालङ्कार दोष, अर्थदोष तथा वाक्यदोष में अन्तर्भूत माने गए हैं। वे अर्थदोष के निरूपण में गतार्थ हो जाते हैं। यदि अलङ्कार दोष अर्थदोष से पृथक् होता तो उनका निरूपण यहाँ किया जाता। अर्थदोषों का निरूपण का क्षेत्र काव्य-शास्त्र का 'दोषप्रकरण' है। अलङ्कारप्रकरण नहीं। इसलिए अलङ्कारप्रकरण में उनके कथन की आवश्यकता नहीं थी। अतः अप्पय तथा आशाधरभट्ट ने उनका निरूपण यहाँ नहीं किया है। अलङ्कार दोषों को काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों में भी अर्थदोष कहा गया है और कहा गया है कि 'एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव सम्भवः' अर्थात् शब्द, अर्थ, वाक्य आदि के दोषों से अतिरिक्त अलङ्कार दोषों की सत्ता नहीं है।

'चिरं जीवतु ते सूनुः मार्कण्डेय मुनिर्यथा' में **मार्कण्डेय मुनिर्जीवती, तव सूनुश्च जीवतु** आदि पुरुष भेद के कारण प्रतीयमान उपमा दोष भङ्गप्रकरणदोष ही है। इसी तरह **सुधेवविमलश्चन्द्रः** में उपमान और उपमेय में लिङ्ग भेद 'ज्योत्सना इव सिता कीर्तिः' वचन भेद के कारण दृश्यमान उपमालङ्कार दोष भी भङ्ग प्रक्रम ही है। अतः दोष निरूपण का क्षेत्र काव्यप्रकाशादि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ का दोष प्रकरण है। अलङ्कार परिचायक कुवलयानन्द नहीं। यही समझकर अप्पय ने इनका निरूपण कुवलयानन्द में नहीं किया है।[८१]

शब्दालङ्कार, यमक[८२] आदि केवल मध्यम काव्य के विषय हैं। इसीलिए उनका निरूपण भी यहाँ नहीं किया गया है—'शब्दानामलंक्रिया यमकादयो नोक्ताः तेषां केवलमध्यमकाव्यविषयत्वात्' आशाधरभट्ट की इस पंक्ति में लिखित केवल पद

---

८१. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १३।८ तथा व्याख्या भाग।
८२. वही.

से सिद्ध है कि इस ग्रन्थ में अर्थालंकारों का निरूपण इसलिए किया गया है कि वे इसमें निरूपित अर्थालङ्कार को वे मध्यम और उत्तम काव्य का विषय मानते थे। जगन्नाथ ने भी लिखा हैं—**अनयोरेव द्वितीय तृतीय भेदयोः (उत्तम मध्यमयोः) जागरुकाजागरुकगुणीभूतव्यंग्योः प्रविष्टम् निखिलमलङ्कार प्रधानं काव्यं।**[८३]

इस तरह आशाधरभट्ट के मध्यम काव्य से तात्पर्य जगन्नाथोक्त मध्यम काव्य मानना चाहिए।

केवल शब्द चमत्कार में अधम काव्यत्व ही रहता है। अतः अन्य मत से शब्द मात्र चमत्कारक काव्य को 'अधम' माना जाता है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि अप्पय ने लिखा है '**अलङ्कारेषु बालानामवगाहन सिद्धये ललितः क्रियते तेषां लक्ष्य लक्षण संग्रहः**[८४] परन्तु शब्दालङ्कार को यह ग्रन्थ समस्त अलङ्कारों की ज्ञान धारा में अवगाहन कराने में जब असमर्थ है तो उस प्रतिज्ञा का भङ्ग होना है, परन्तु प्रतिज्ञावाक्य में प्रयुक्त अलङ्काराणाम् किया जा सकता है। इसलिए प्रतिज्ञा भङ्ग नहीं होता।[८५]

शब्दालङ्काराः त्विह न लक्षिताः सुगमत्वात्[८६] सुगम होने से शब्दालङ्कार का लक्षणोदाहरण यहाँ नहीं दिया गया है।

---

८३. पं० राज जगन्नाथ : रसगङ्गाधर (चन्द्रिका टीका) संस्करण, पृ० ७१, १९५५.

८४. आशाधरभट्ट : कुवलयानन्दकारिका, १।३, पृ० २

८५. वही, ३।८

८६. वही, १।३, पृ० ३

सन्दर्भ ग्रन्थसूची

मूल-ग्रन्थ

१. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक (अंग्रेजी अनुवादक कृष्णमूर्ति, के०) आरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९५५.

२. ,, ध्वन्यालोक (आचार्य विश्वेश्वर कृत हिन्दी व्याख्या) गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९५२.

३. ,, : ध्वन्यालोक (हिन्दी व्याख्याकार आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६५.

४. कालिदास : अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सम्पादित एम० आर० वाले, बुकसेलर्स कम्पनी, बाम्बे, १९५७.

५. गौतम : न्यायसूत्र, आनन्दाश्रम, पूना, १९२२.

६. चतुर्वेदी, ब्रजमोहन : शब्दशक्ति विमर्श, ज्ञान भारती दिल्ली

७. जगन्नाथ, पण्डितराज : रसगङ्गाधर (चन्द्रिका टीकोपेत), चौखम्बा, वाराणसी.

८. ,, : रसगङ्गाधर 'चन्द्रिका' 'व्याख्यासहित पं० मदनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६९.

९. जैमिनि मुनि : मीमांसादर्शन, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७९.

१०. त्रिपाठी, राममूर्ति : लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी संवत् २०२३.

११. दण्डी : काव्यादर्श, प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर (भ० ओ० इ०), पूना, १९३८.

१२. ,, काव्यादर्श, सम्पादित तरुण वाचस्पति, तिरुवादि श्रीनिवास मुद्रणालय, १९३६.

१३. दण्डी : काव्यादर्श, सम्पादित विद्याभूषण पण्डित रङ्गाचार्य भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९३८.

१४. दण्डी : काव्यादर्श, सम्पादित वे कृष्णमाचार्य, तिरुवादि श्रीनिवास मुद्रणालय, तिरुपति, १९३६.

१५. दीक्षित अप्पय : कुवलयानन्द अलङ्कारचन्द्रिका सहित, सम्पादित नारायण राम आचार्य, निर्णय सागर मुद्रणालय, १९४७

१६. दीक्षित, अप्पय : कुवलयानन्द (अलङ्कार सुरभिटीकोपेत), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७६.

१७. ,, : कुवलयानन्द, सम्पादित नारायण राम आचार्य, निर्णय सागर मुद्रणालय, बम्बई, १९४७.

१८ ,, : कुवलयानन्द, सम्पादित क्षेमराज श्रीकृष्णदास 'श्रीवेंकटेश्वर' स्टीम् मुद्रणयन्त्रायलय, मुम्बई, १९६८ सन् १९११.

१९. धनंञ्य : दशरूपक, अनूदित डा० वैजनाथ पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास दास, १९७९.

२०. ,. दशरूपक (धनिककृत अवलोकसहित) चौखम्बा, वाराणसी

२१. पञ्चानन, विश्वनाथ : कारिकावली, सम्पादित आत्माराम नारायण जेरे, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३३.

२२. पतञ्जलि : व्याकरणमहाभाष्य, मोतीलाल बनारसीदास, १९६२.

२३. भट्ट आशाधर : कुवलयानन्दकारिका, सम्पादित निर्णयसागर प्रेस, बम्बई,

२४. भट्ट, आशाधर : कोविदानन्द, संपादक आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल, सारस्वती सुषमा, संवत् २०१८ सन् १९६३

२५. भट्ट, आशाधर : त्रिवेणिका, संपादक शर्मा बटुकनाथ, गोपाल मन्दिर लेन, बनारस, १९२५.

२६. भट्ट, आशाधर : त्रिवेणिका, सम्पादक, शर्मा बटुकनाथ गोपाल मन्दिर लेन, बनारस, १९२५.

२७. भट्ट, आशाधर : त्रिवेणिका, सम्पादक, आचार्य कालिकाप्रसाद शुक्ल, भारतीय साहित्य विद्यालय, वाराणसी, १९५७.

२८. ,, : कोविदानन्द, सम्पादन एवं व्याख्याकार ब्रह्मित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, रूपनगर, दिल्ली, १९७८.

२९. भट्टोद्भट : काव्यालङ्कारसारसंग्रह, भंडारकर ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, पूना.

३०. भट्ट, कौण्ड : वैयाकरणभूषणं, बम्बई राजकीय ग्रन्थमाला, १९७५.

३१. भट्ट, जयन्त : दीपिका काव्यप्रकाश टीका) गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस

३२. भट्ट, नागेश : परमलघुमंजूषा, चौखम्बा संस्कृत बुक डिपोट, बनारस.

३३ भट्ट, नागेश : परमलघुमंजूषा, सम्पादित द्वारा पर्वतीय नित्यानन्द पंत विद्याविलासप्रेस, १९२७.

३४. भट्ट, मम्मट : शब्दव्यापार-विचार
सं० मंगेश रामकृष्ण तैलंग, निर्णयसागर प्रेस' बम्बई, १९१६.

३५. भट्ट, महिम : व्यक्तिविवेक (व्याख्यान विवृति टीकाद्वयोपेत) काशी संस्कृत सीरीज़, १२१, (१९६३)

३६. भट्ट, मुकुल : अभिधावृत्ति मातृका, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

३७. भट्ट, मौनि श्रीकृष्ण, : वृत्तिदीपिका, सम्पादित पं० गंगाधर शास्त्री भारद्वाज गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस, १९३०.

३८. भर्तृहरि : वाक्यपदीय, चौखम्बा, वाराणसी

३९. ,, : वाक्यपदीय, पूना, १९६५.

४०. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, गायकवाड़े ओ० सी० बड़ौदा.

४१. भामह : काव्यालङ्कार, सम्पादक एवं अनुवादक शास्त्री, पी० वी० नागनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०.

४२. भामह : काव्यालङ्कार, चौखम्बा वाराणसी

४३. भोज : शृङ्गारप्रकाश. यदुगिरियतिराज सम्पादित कमार रामानुज मुनि द्वारा।
मद्रास से प्रकाशित, १९२६.

४४. मम्मट : काव्यप्रकाश सं०अनुवादक भट्टाचार्य शिवप्रसाद संस्कृत कालेज कलकत्ता, १९५९.

४५. ,, काव्यप्रकाश उल्लास १ २, ३, प्रदीपोद्योत-प्रभा-संकेत-बालच्चिनुरंजिनी टीकोपेत, सं० सुखकर, एस० एस०, बम्बई, १९३३.

४६. ,, काव्यप्रकाश, सं० दीक्षित, एस० वी०, श्री छत्रपति प्रेस बेल्जियम्, १९५५.

४७. ,, : काव्यप्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि की, काव्यप्रकाशदीपिका, व्याख्या सहित, सम्पादित नगेन्द्र, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६०.

४८. ,, : काव्यप्रकाश, सम्पादक हरिशङ्कर शर्मा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान १९८२.

४९. ,, काव्यप्रकाश (अलङ्कीकर कृत बालबोधिनीटीका) षष्ठ संस्करण, भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना.

५०. यास्क निरुक्त, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९६३

५१. ,, निरुक्त, सम्पादक, श्रीकृष्णदास श्रेष्ठी, श्री वेंकटेश्वर (स्टीम) मुद्रणयन्त्रालय, बम्बई, संवत् १९२२ सन् १९२५.

५२. राजशेखर : काव्यमीमांसा, सम्पादित डा० गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९६४.

५३. राजशेखर : काव्यमीमांसा, सम्पादित सी० डी० दलाल, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३४.

५४. राजानक, रूय्यक : अलङ्कार सर्वस्व, महालक्ष्मी टिप्पणी सहित. सम्पादक गौरीनाथ शर्मा, शारदाभवन, वाराणसी १९२६.

५५. रुद्रट : काव्यालङ्कार, काव्यमाल-२, बम्बई

५६. रुय्यक : अलङ्कारसर्वस्य, शारदाभवन, काशी

५७. वामन : काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (कामधेनु टिप्पणी सहित) ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना. १९२७.

५८. विद्यासागर : एकावली, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़, त्रिवेन्द्रम.

५९. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, मोतीलाल बनारसीदास. १९३८.
६०. ,, : साहित्यदर्पण, चौखम्बा, काशी
६१. विश्वनाथदेव, आचार्य : साहित्यसुधासिन्धु, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९७८.
६२. शारदातनय : भाव प्रकाशन, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा.
६३. सा० दर्पण : सम्पादित गुरुनाथ विद्यानिधि भट्टाचार्य, कलकत्ता, शक १८३४.
६४. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, का काव्यमाला, ७०, बम्बई.

कोश

१. ऐतिहासिक स्थानावली : वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।
२. कैटालोगस कैटालोगोरस (भाग I) : फ्रांज स्टीनर वलोग, जी० एम० बी० एच० बीजबैडेन, १९६२.
३ भारतीय साहित्य शास्त्र कोश : राजवंश सहाय हीरा, भारतीय साहित्यशास्त्र कोश बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९७३.
४ वैजयन्ती कोश : विद्याप्रकाशाचार्य, सं० शास्त्री, पं० हरिगोविन्द, चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९७१.
५. राजवंश सहाय हीरा : भारतीय साहित्य शास्त्र कोश, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९७३.
६. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी : सं० विलियम्स, सर मोनियर मोनियर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७९.
७. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभः : शर्मा द्वारिकाप्रसाद एवं झा, तारणीश, रामनारायणलाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, २, १९६७.

पत्र-पत्रिकाएं

१. अजस्रा : अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ.
२. ऋतम् : अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ.
३. नागरी : प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी.
४. सारस्वती सुषमा : सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, अनुसन्धान पत्रिका, वाराणसी.

५. संस्कृत विमर्शः : राष्ट्रीय संस्कृत संस्थानम्, शिक्षा एवं संस्कृति मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली.

(अ) आंग्ल-ग्रन्थ

1. Banarjee, Suresh Chandra : A companion to Sanskrit Literature, Motilal Banarsidas, Varanasi, 1971.
2. Konda Bhatta : Vaiayakaranabhushana, Ed, By Rao Bahadura Kamala Sankara Prana Sanker Trivedi, Bombay Sanskrit and Prakrit Series, No. LXX, 1915.
3. Bhattacharya (B) : Sanskrit Culture in Changing world. Good Companions, Baroda, 1950.
4. Bhaṭṭāchārya, Shiv Prasad : Studies in Indian Poetics : Indian Studies (Past & Present) 3 Sambhunath Pandit street Calcutta, 20, 1964.
5. Chatterjee (K.N.). Word and its meaning a new perspective. Chaukhambha Orientalia, Varanasi, Delhi, 1980.
6. Chaitanya, Krishna : Sanskrit Poetics, Asia Publishing House, Bombay, 1918.
7. Dandin : Kāvyadarsa, Edited with an original commentary by Vidyābhusan Pandit Rangacharya Reddi Shastri, Bhandarkar Oriental Research Institute, 1938.
8. De & Das Gupta : History of Sanskrit Literature, University of Calcutta (1947).
9. Dey (Nandu Lal), The Geographical Dictionary of Ancient and Medival India, Oriental Books Reprint Corporation, Book Publishers, 54, Rani Jhansi Road, New Delhi-55, 1971, 1927.
10. De (S.K.) : Some Problems of Sanskrit Poetics. Firma, K.L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1959.
11. De (Sushil Kumar) : Aspects of Sanskrit Literature, Firma K.L. Mukhopadhyaya, Calcutta, 1959.
12. De (Sushil Kumar) : History of Sanskrit Poetics, Firma K.L. Mukhopadhyaya, Calcutta, 1960.
13. De (Sushil Kumar) : Sanskrit Poetics as a Study of Aesthetics, Oxford University Press, Bombay.
14. Surya Kanta : Ksemendra Studies, Oriental Book Agency, 15 Shukrawar, Poona-2., 1954.

15. Gangopadhyaya, Ananta lal, : Contribution of Appayya Dixit to Indian Poetics. Sanskrit Pustak Bhandar, 38, Bidhan Sarani, Calcutta, 1971.
16. Gerow, Edwin : A glossary of Indian figures of Speech. Mouton The Hague-Paris.
17. Tyrus Hillway : Introduction to Research. Colorado State Collage. Houghton Mifflin Company-Boston.
18. Jagannāth, Pandit Raj : Rasa Gangadhara, Ed. by Madhu Sudan Shastri, Banaras Hindu University, Varanasi, 2066,
17. Jha (Kalanath) : Figurative Poetry in Sanskrit Literature, Moti lal Banarsidas, Delhi, 1975.
18. Kane, (P. V.) : History of Sanskrit Poetics, Rev. ed. 3, Motilal Banarsidass, Delhi, 1961.
19. Krishnamachari (M), Histoy of Classical Sanskrit Literature, Motilal Banarasidass, Delhi, 1974, (ed. 3).
20. Krishnamurathy, K. : Essays in Sanskrit Criticism, Karnatak University, Dharwar.
21. Kunhan Raja C., Survey of Sanskrit Literature, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1962.
22. Kunjunni Raja (K.) : Indian Theories of Meaning, The Adyar Library and Research Centre, 1969.
23. Karmarkar : Kalidasa, Karnatak University, Dharwar, 1960.
24. Lahiri (P.C.) : Concept of Riti and Guna in Sanskrit Poetics, The University of Dacca, Ramna, Dacca, 1937.
25. Krishnamachariar : History of Classical Sanskrit Literature, Motilal Banarsidass, Delhi. 1974.
26. Marula Siddaiah, Dr. G. 'Sabda Vrttis', (Power of Words), University of Mysore, 1966.
27. Pandey (R.C.) : The Problem of meaning in Indian Philosophy, Motilal Banarsidass, Delhi, 1963.
28. Raghvan Dr. V. : Bhoja Sringara Prakash, 7, Sri Krashan-puram Street, Madras, 1963.
29. Raghvan (V.) : Bhoja's Srngara Prakash, Punarvasu, 7, Sri Krishnapuran Street, Madras, 114, 1963.
30. Raghvan, V. : Some Systems of Alankara Shastra, The Adyar Library, Adyar, 1942.
31. Raghvan, V. : Some Concepts of Sanskrit Alankārashāstra, Adyar Library, Madras.
32. Rajshekhar, Kāvyamimansa, Ed. by the Late Mr. C.D. Dalal, Oriental Institute of Baroda, 1934.

33. Shastri (Gaurinath) : The Philosophy of Word and Meaning, Sanskrit College Calcutta, 1959.
34. Shankaran (A) : Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit. or The Theories of Rasa and Dhavani, Oriental Books Reprints Corporation, 54, Rani Jhansi Road, New Delhi-55, 1928.
35. Sharma (Dr. Bramananda) : Critical Study of Indian Poetics, Linque Traders, Charura Rasta Jaipur, 1978.
36. Sharma : The Bṛhad-Devata,Ed. by Macdonell(Arthor Anthony), pt. II, Motilal Banarsidass, Delhi, 1965.
37. Jarkatankar, (Jagdish) : Śabdaśaktiprakāśikā, Ed. by Dhundhiraja Shastri, The Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1973.
38. Vāman : Kāvyalaṅkāra Sutra Vritti, (English Translation) by Ganganath Jha, Oriental Book Agency, Poona, 1928.
39. Vardachāri (V.) : History of Sanskrit Literature.
40. Vijayavardhana (V.) Outlines of Sanskrit Poetics, The Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1970.

PERIODICALS

1. Adyar Library Bulletin, Madras.
2. Bhārat Manisha, Quarterly, Bharata Manisha c/o, J.D. Bhattachārya, Panda Mareli, Varanasi.
3. Glory of India (Quarterly of Indology), Motilal Banarsidass (Delhi) Banglow Road, Jawahar Nagar, Delhi-7.
4. Ganganāth Jha Kendriya Samskrit Vidyālaya, Journal Ganganatha Jha Kendriya Sanskrit Vidyālaya, Motilal Nehru Park, Allahābād,, Utterpradesh, India.
5. Harvard Journal of Asiatic Studies Harvard, Yenching Institute 2, Divity Ave, Cambridge.
6. Indian Antiquary, Oriental Research Institute, Popular Prakashan, 35 Tardeo Road, Bombay-400034.
7. Journal of Asiatic Studies, (Asiatic Research Centre) Korea University press, Korea Univ. Seoul South Korea.
8. Journal of Indian Studies, One lane Hall University of Michiga
9. Journal of the American Oriental Society.
   Article : Thesis and Disertation on Southest Asia, Vol. 93. January-March, 1973. Author Roff. William. R. page 96.
10. Journal of Oriental Studies, University of Hong-Kong, University of Hong-Kong Press, Hong-Kong.

11. Orientalia Pontiffle Institute, Biblico, Plazza, Pilotta, 35, Rome, 1000187, Italy.
12. *Oriental Studies*,
Annels of Oriental Research University of Madras, Chepauk Triplicane, Madras, 60005. Tamil Nadu, India.
13. Our Heritage, Sanskrit College, Department of Post-graduate Training and Research. 1, Bankim Chattarjee, Ist Calcutta.
14. Panjab University Research Bulletin, New Universities Quarterly Busil, BlackWell Oxford.
15. Press in India, 1926.
16. Indian Philosophical Quarterly University of Poona, Poona-7.
17. Press in India, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, New Delhi, September, 1979.
18. Press in India, 1979.
23rd. Annual Report of the Registrar of News papers for India, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, New Delhi, 1979.
19. Rivista Degli Studi Orientali University of Rome, SLUOLE Orientale Rome, Italy.
20. Sanskrit Pratibha. Half yearly, 7. Shri Krashanaputam, St. Royapettah, Madras, 14. Tamil Nadu.
21. Sanskrit Sahity Parishad, 161/1, Rajatindra. Street Sham Bazar, Calcutta-4.
22. The Indian Historical Quarterly. Vol X, No. 1, Vol, V, no. I. Ed. by Narendra Nath Law. The Calcutta Oriental Press, 9, Panchanan Ghose Lane, Calcutta, 1934.
23. Ulrich's : International Periodicals Directory, Nineteenth Edition, 1980, (A Bowkar Serials Bibliography), R.R. Bowker Company : A York Publishing Company, New York and London.
24. Vishveshvarānand : Indological Journal, Hoshiarpur.

———

वर्णानुक्रमणी

(क) ग्रन्थानुक्रमणी

(ख) ग्रन्थकारानुक्रमणी

(ग) विषयानुक्रमणी

(क) ग्रन्थानुक्रमणी

(क) ग्रन्थानुक्रमणी

(ख) ग्रन्थकारानुक्रमणी

(ख) ग्रन्थकारानुक्रमणी

(ग) विषयानुक्रमणी

(ग) विषयानुक्रमणी